ALOCHNA HINDI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

P R
८६
दि ३७ आ
अं. १४

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

Accn 49426
49427
079579

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
PHARI BAZAR ROORKEE

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

Stock Verification-2024

Stock Verification

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक : नन्ददुलारे वाजपेयी

CHECKED 1973
Initial

079579

२८ आलोचना

079579

K
८४
३०७३ अ

: साहित्य के स्थायी मूल्यों …मस्या	रामविलास शर्मा
प्रतीकवाद	रामरतन भटनागर
कवि-प्रेरणा का स्वरूप और काव्य-प्रक्रिया	श्रीनारायण मिश्र
साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल	रामलालसिंह
इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ	अनन्त चतुर्वेदी
दस्तोएवस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ	गंगाधर झा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ५ अंक २ | पूर्णाङ्क १८ | अप्रैल, १९५९

वार्षिक मूल्य १२) | इस अंक का ३)

सूची

सम्पादकीय

—सम्पादकीय वक्तव्य --- १

निबन्ध

—कालिदास : साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या :
रामविलास शर्मा --- ६

—प्रतीकवाद :
रामरतन भटनागर --- २७

समस्या और चिन्तन

—कवि-प्रेरणा का स्वरूप और काव्य-प्रक्रिया :
श्रीनारायण मिश्र --- ४४

—साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल :
रामलालसिंह --- ५३

अध्ययन : भारतीय लेखक

—इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ :
अनन्त चतुर्वेदी --- ६३

अध्ययन : विदेशी लेखक

—दस्तोएवस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ :
गंगाधर झा --- ७८

मूल्यांकन

—जहाज का पंछी :
प्रकाशचन्द्र गुप्त --- ९३

—हिन्दी-साहित्य में राम-कथा का अध्ययन :
रामचन्द्र तिवारी --- ९६

—भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा :
रामलालसिंह --- ९९

—आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान :
रामरतन भटनागर --- १०१

—पर आँखें नहीं भरीं :
कमलाकान्त पाठक --- १०५

—पद्मावत—मूल और संजीवनी व्याख्या :
कमलाकान्त पाठक --- १०८

—हिन्दी-अलंकार-साहित्य :
डॉ० भगीरथ मिश्र --- ११[illegible]

—लोक-साहित्य का अध्ययन :
डॉ० सत्येन्द्र --- ११[illegible]

—'साहित्य-वार्ता' और 'आलोचना के सिद्धान्त' :
डॉ० शम्भूनाथ सिंह --- १२०

—हिन्दी-साहित्य पर सूफ़ीमत का प्रभाव :
रामपूजन तिवारी --- १२७

—भागवत सम्प्रदाय :
दत्तात्रेय पाण्डेय --- १३१

—भारतीय संस्कृति :
डॉ० राजबली पाण्डेय --- १३३

—भगवान् बुद्ध :
राजबली पाण्डेय --- १३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

आलोचना

सम्पादकीय

सम्पादकीय वक्तव्य

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी-साहित्य के उच्चतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली जो पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, उनमें 'आलोचना' का विशिष्ट स्थान है। समीक्षा के क्षेत्र में यह हिन्दी की प्रमुख पत्रिका है। यद्यपि इसके सम्पादन में एकाधिक परिवर्तन हुए हैं और इसके छोटे जीवन में कुछ उतार-चढ़ाव भी आये हैं, फिर भी इसका सम्पादकीय स्तर और इसकी लेख-सामग्री एक विशेष भूमि से नीचे नहीं उतरी। इस पत्रिका के कई विशेषांक प्रकाशित हुए हैं, जिनका हिन्दी-साहित्य में स्वागत किया गया है और जिनमें पर्याप्त प्रामाणिकता पाई गई है। 'आलोचना' ने अनेक नये और उदीयमान लेखकों को प्रोत्साहन देकर साहित्य के रंगमंच पर ला खड़ा किया है। सुलझे हुए विचारों की एक परम्परा भी उसने चलाई है। इस अंक से पत्रिका का सम्पादकीय दायित्व मुझ पर आ गया है और मेरे सम्पादन में प्रकाशित होने वाला यह उसका पहला अंक है। खेद है कि इस अंक के प्रकाशन में अपेक्षा से अधिक विलम्ब हो गया है और इसकी सम्पूर्ण सामग्री मेरे मनोनुकूल नहीं हो पाई है; किन्तु हम आशा करते हैं और हमारा यह प्रयत्न होगा कि आगामी अंकों से पत्रिका अधिक नियमित और व्यवस्थित रूप से प्रकाशित होती रहे।

'आलोचना' का क्षेत्र साहित्य की समीक्षा तक सीमित समझा जाता है। इसमें रचनात्मक कृतियों के लिए स्थान नहीं है। इस सीमा के रहते हुए पत्रिका को अधिक-से-अधिक व्यापक और सार्वजनिक बनाने का लक्ष्य हमारे सामने है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम, उन समस्त लेखकों को आमन्त्रित करते हैं जो समीक्षा के सीमित क्षेत्र में ही नहीं, विचारों के विस्तृत क्षेत्र में अपनी कृतियों का लाभ हमें दे सकें। साहित्य-समीक्षा अन्ततः विचार-जगत् की वस्तु है। यदि हम उसे किसी संकीर्ण दायरे में डाल देते हैं और केवल आज की साहित्यिक कृतियों की आलोचना-प्रत्यालोचना और आज के विविध मतवादों के ऊहापोह तक सीमित कर देते हैं, तो हम पत्रिका का आंशिक उपयोग ही कर पाते हैं। वैसी स्थिति में एक छोटी सीमा में बँधकर पत्रिका निरन्तर एक छोटे समूह के ही काम की रह जायगी। उसमें केवल ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों की अभिरुचि होगी, जो या तो स्वयं लेखक हैं और अपनी कृतियों की प्रशंसा चाहते हैं, अथवा पाठक हैं जो कुछ भी पढ़ने को तैयार बैठे हैं। किन्तु इस छोटे समुदाय के बाहर हिन्दी में लेखकों और पाठकों का एक विशाल समूह है जो अच्छी साहित्यिक कृति और प्रेरक साहित्यिक विचार के लिए उद्विग्न और लालायित है, फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। हम चाहते हैं कि इस विशाल और निर्लिप्त समाज के लिए 'आलोचना' समुचित विचार-सामग्री दे सके। हम यह भी देखते हैं कि हिन्दी का यह विशाल पाठक-समुदाय पूर्णतः असंगठित है। हिन्दी में अच्छी पुस्तकें और अच्छी पत्रिकाएँ कम क्यों बिकती हैं? इसलिए कि हिन्दी का यह वृहत् पाठक-समाज केन्द्रविहीन है और उचित दिशा-दर्शन के अभाव में साहित्य के प्रति उदासीन हो गया है। हमारी पत्र-पत्रिकाएँ इन निर्लिप्त पाठकों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझतीं। लेखकों से ही लेखकों का काम चल जाता है। यह बड़ी ही दयनीय स्थिति है। हिन्दी में साहित्यिक स्तर पर लेखकों और पाठकों के एक राष्ट्रव्यापी संगठन की आवश्यकता है। सभी समृद्ध साहित्यों के पीछे ऐसे संगठन हुआ करते हैं। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा अपने सीमित साधनों का उपयोग हिन्दी के लेखकों और पाठकों के ऐसे ही राष्ट्रीय संगठन के लिए करना हमारा लक्ष्य होगा।

आज हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र में अनेक वादों का प्रचलन हो गया है। इन वादों के माध्यम से बहुत ही नपी-तुली विचार-दृष्टि पाठकों के सम्मुख रखी जाती है। मतवादों की अधिकता और उनकी कट्टरता के अनिष्टकारी परिणाम हम साहित्य में अपनी आँखों देख रहे हैं। एक तो इनसे साहित्यिक क्षेत्र में खण्ड-दृष्टियाँ बढ़ रही हैं। छोटे-छोटे गिरोह बनने की आशंका हो रही है। दूसरे, इन मतवादों के कारण स्वतन्त्र रचनाकारों, कवियों और लेखकों के मार्ग में बाधा भी पड़ रही है। उनकी सृजन-सम्बन्धी स्वच्छन्दता, प्रत्यक्ष अनुभव सम्बन्धी स्वाधीनता और उनका सम्पूर्ण विचार-स्वातन्त्र्य संकटग्रस्त हो रहा है। किसी भी मतवाद को किसी समय साहित्य-जगत् में आतिशायिक प्रमुखता नहीं मिल जानी चाहिए। रचना और समीक्षा के बीच उचित संतुलन आवश्यक है, किन्तु इस संतुलन में भी रचना को सदैव प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जब समीक्षा साहित्य-सृष्टि का नियन्त्रण करने लगती है, तब निर्माणकारी प्रतिभा बिना कुण्ठित हुए नहीं रहती। मतवादों की अधिकता से न केवल साहित्य में दल और सम्प्रदाय बढ़ते हैं, बल्कि साहित्य-जगत् में संशय और फूट उत्पन्न होती और फैलती है। लोग यह समझ नहीं पाते कि किसकी बात सही है, किसकी नहीं। यह सारी स्थिति प्रशस्त साहित्यिक चेतना के प्रसार में बाधक है। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा हमारा लक्ष्य होगा कि इन विभिन्न वादों में विभेद की अपेक्षा उनकी पारस्परिक समानता की ओर दृष्टिपात करें, जिससे एक समन्वित साहित्यिक दृष्टि का उन्मेष सम्भव हो। साथ ही हम इनमें से किसी एक या अनेक वादों को साहित्यिक रचना पर हावी होने की स्थिति भी नहीं आने देना चाहेंगे।

हिन्दी में प्रचलित विभिन्न वादों और उनके अनुयाइयों की कृपा से साहित्य-समीक्षा की गतिविधि भी शोचनीय हो रही है। किसी विशेष कृति को किसी एक साहित्यिक सम्प्रदाय के लोग प्रशंसा की आसमानी ऊँचाई तक पहुँचा देते हैं और दूसरी ओर उसी कृति की समीक्षा करने वाले भिन्न सम्प्रदाय के समीक्षक उसकी भरपूर निन्दा और विगर्हणा करते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के जिज्ञासु और निर्लिप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकों और नये लेखकों के सम्मुख बड़ा संशय और संकट उपस्थित हो जाता है। वे यह समझ नहीं पाते कि कौन समीक्षक तथ्य की बात कह रहा है, कौनसा नहीं। हम नहीं चाहते कि हिन्दी के इन निर्दोष और निष्पक्ष पाठकों और साहित्य-प्रेमियों को ऐसे संकट का सामना करना पड़े। हमारी सतत चेष्टा होगी कि समीक्षा-सम्बन्धी सन्तुलित प्रतिमान और समन्वित दृष्टि उनके सम्मुख रखी जाय।

अनेक बार आज की साहित्यिक कृतियों को समझने और उनका आकलन करने में बड़ी कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं। किसी कृति की मूल प्रेरणा क्या है, लेखक की जीवन-दृष्टि क्या है, और वह अपनी कृति द्वारा पाठक-समाज को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है, यह समझना कठिन हो जाता है। सीधी-सादी और स्पष्ट उद्देश्य वाली रचनाओं को छोड़ दीजिए, तो आज के अधिकांश लेखक और कृतिकार उक्त जटिल प्रश्नों की सृष्टि कर रहे हैं। यह प्रश्न साहित्य के मर्म में पहुँचकर उसे पहचानने का, लेखक और कलाकार की मनोवृत्ति तथा उसकी मानसिक स्थिति और आशय को समझने का है। आज अनेक कृतियाँ ऐसी प्रकाशित हो रही हैं जो समाज की विकृतियों को नग्न रूप में चित्रित करती हैं। इनका चित्रण पाठकों में किस प्रकार की धारणा बँधाता है? क्या वे उन चित्रित विकृतियों में रमने लगते हैं या उनके प्रति विद्रोही हो उठते हैं? एक ही कृति से अनेक पाठकों को अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारा पाठक-समुदाय साहित्यिक चेतना से सुसम्पन्न नहीं है। हमारे समीक्षक उनका उचित मार्ग-दर्शन नहीं करते। यदि कोई कृति व्यंग्यात्मक है तो पढ़ने वाले उसे वास्तविक मान लेते हैं। यदि कोई दूसरी कृति शृंगारिक है और छिछले चित्रणों से भरी हुई है तो पक्षग्राही समीक्षक यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि यह कृति व्यंग्यात्मक है और आज के समाज के छिछले जीवन का चिट्ठा दिखाती है। इस प्रकार नवीन कृतियों के सम्बन्ध में गलत निर्णय और भ्रामक धारणाएँ बनाई जाती हैं। कभी किसी कृति में सामाजिक जीवन की असंगतियों को बड़ी गहरी अनुभूति के साथ अंकित कर दिया जाता है और लेखक वहीं अपना कार्य समाप्त कर विराम ले लेता है। परन्तु पाठक समझते हैं कि लेखक की दृष्टि एकांगी और नकारात्मक है। उसने अन्धकार को ही देखा और चित्रित किया है, प्रकाश की ओर उसकी दृष्टि गई ही नहीं। किन्तु पाठकों का ऐसा समझना कहाँ तक ठीक है? इस प्रकार की असंख्य असंगतियाँ और विभ्रम नये साहित्य और उसकी कृतियों के सम्बन्ध में फैले हुए हैं। 'आलोचना' द्वारा सम्यक् साहित्यिक बोध देना हमारा कार्य होगा। हम किसी साहित्यिक कृति में कोई ऐसी वस्तु नहीं देखेंगे, जो उसमें नहीं है; किसी ऐसी वस्तु की उपेक्षा नहीं करेंगे, जो उसमें है। जान-बूझकर या अनजाने में जो वितथ निर्णय दिये जा रहे हैं, उनसे सतर्कतापूर्वक बचने की हम सतत चेष्टा करेंगे।

ऊपर के वक्तव्य का यह आशय नहीं है कि साहित्य के सम्बन्ध में नये सैद्धान्तिक मतों और विचार-सरणियों की हम पूर्ण उपेक्षा करना चाहते हैं। पश्चिम में अनवरत शोधों के परिणामस्वरूप साहित्य-विषयक जो वैज्ञानिक विचारणा प्रतिष्ठित की जा रही है उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है? किन्तु इस सम्बन्ध में हमें दो-तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। पहली बात यह है कि उक्त विचारों और मतों का अधूरा अध्ययन हमारे किसी काम का न होगा। जिन तथ्यों के आविष्कार और निर्माण में यूरोपीय पण्डित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन-व्यापी साधना करते रहते हैं, उन्हें हम छिटपुट अध्ययन से उपलब्ध नहीं कर सकते। इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि पश्चिम के इन विभिन्न मतवादों में समुचित अन्विति और समीकरण अब तक नहीं किया जा सका। न केवल साहित्य की मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय उपपत्तियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं और परस्पर विरोध में जाती हैं, बल्कि मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय शोधों की अनेक शाखाएँ आपस में ही मतभेद और मतान्तर रखती हैं। पत्रिका के इस अंक में प्रकाशित 'दोस्तोएवस्की के साहित्य की चार समीक्षाएँ' शीर्षक लेख इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। बड़े-बड़े आचार्य और शोधक भी जब किसी बड़े लेखक की कृतियों के मूल्यांकन में इतना मतभेद रखते हैं तब सामान्य जनों की क्या चर्चा ? केवल व्याख्या और विवृति में ही नहीं, निर्णय और आकलन में भी इनमें परस्पर इतनी दूरी है कि हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि साहित्यिक प्रयोजन के लिए ये शोधें और सिद्धान्त अपने में पर्याप्त नहीं हैं और इनका विनियोग रचनात्मक कृतियों में करना और भी संशयास्पद है। अतएव, यदि हिन्दी-साहित्य की सीमा में इन पश्चिमी सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है तो सबसे पहले इनका सम्यक् अध्ययन आवश्यक है। फिर यह जानना जरूरी है कि ये सिद्धान्त रचनात्मक कृतियों में किस सीमा तक लागू हो सकते हैं; और अन्त में, साहित्यिक कृतियों की समीक्षा के लिए विशेषज्ञ अभ्यास भी आवश्यक है। सिद्धान्तों का ज्ञान और उनका कृतियों में उपयोग दो अलग-अभ्यास-क्षेत्र हैं। इनको एक में मिलाकर चलना किसी प्रकार उचित न होगा। तीसरी और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यूरोप की ये सैद्धान्तिक खोजें एक विशेष समाज और संस्कृति से सम्बद्ध हैं। उस समाज और संस्कृति का संघात उन देशों के साहित्य से भी हुआ है। कवियों और लेखकों ने सामयिक जीवन से प्रभावित होकर अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की बहुत सी शोधों की भूमिका उन साहित्यिक कृतियों में मिलती है। हम कह सकते हैं कि यूरोप का सैद्धान्तिक और रचनात्मक साहित्य वहाँ के तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन से अनुप्रेरित है। एक को लेकर हम दूसरे या तीसरे को छोड़ नहीं सकते। जब हम हिन्दी-साहित्य की वर्तमान कृतियों में पश्चिम के किसी सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं तब यह भूल जाते हैं कि वह सिद्धान्त भी एक विशेष परिस्थिति की उपज है। क्या हिन्दी-भाषी समाज की भी वही परिस्थिति है जो यूरोप की है ? इस प्रश्न का उत्तर हम पूर्णतः नकार में ही दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में सीधी समस्या यह उपस्थित होती है कि अपने राष्ट्रीय जीवन में और उस जीवन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित साहित्य में पश्चिम के उन सिद्धान्तों का व्यवहार कहाँ तक सम्भव और समीचीन है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है कि यूरोपीय संस्कृति आज एक बहुत बड़ी हलचल से होकर गुजर रही है। न केवल वहाँ के दार्शनिक विचार डाँवाडोल हो रहे हैं, बल्कि एक नई प्रतिक्रिया में उनमें बहुत से उलट-फेर भी होते जा रहे हैं। पिछली दो-तीन शताब्दियों से यूरोप में जो संस्कृति विकसित हुई थी उसे आज के पश्चिमी विचारक फाउस्टियन (Faustian) संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। फाउस्टियन संस्कृति व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, उद्दाम लालसा और भौतिक विकास की संस्कृति कही जाती है। आज इस संस्कृति के विरुद्ध एक बड़ी प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी है और यूरोप के प्रमुख विचारक एक नवीन संस्कृति की रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नींव डालने की चिन्ता में हैं। स्वातन्त्र्य का जो आदर्श पश्चिम में प्रचलित था, वह आज त्याज्य और हेय माना जाता है। इसके बदले सामाजिक दायित्व, समता, नैतिक व्यवहार और आचरण आदि नये आदर्शों का आग्रह किया जा रहा है। बहुत से नये विचारक और भविष्य-द्रष्टा आज एक नई संस्कृति की पुकार उठा रहे हैं, जिसे वे मध्ययुग की धार्मिक संस्कृति का नई परिस्थिति के अनुरूप नवोन्मेष का नाम देते हैं। उनका झुकाव भारतीय और एशियाई संस्कृतियों की ओर भी कम नहीं है। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि यूरोप अपने पिछले सामाजिक आदर्शों को छोड़ चला है और वह नये जीवन-तथ्य की खोज में है। प्रश्न यह है कि क्या उन त्यक्त आदर्शों को हम आज अपने समाज में और अपने साहित्य में अपनाने जा रहे हैं? यदि नहीं तो हमारे आज के सामाजिक और साहित्यिक आदर्श क्या हो सकते हैं?

यदि हम थोड़ी-सी दूरवर्ती भूमिका लेकर आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास को देखें तो उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई देंगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होने वाले आधुनिक साहित्यिक युग की मूल रागिनी सामूहिक रही है और सामूहिकता की ओर बढ़ती चली आई है। भारतेन्दु-युग में रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्तियाँ भी शेष थीं। स्वयं भारतेन्दु वैष्णव भक्ति-परम्परा के अनुयायी थे और उनकी अधिकांश कविताएँ भक्ति-परक हैं। परन्तु भारतेन्दु के काव्य पर रीतिकाल की शृंगारिकता की इतनी घनी छाया है कि उनकी काव्य-कृतियों को भक्त कवियों की परम्परा में मान लेने में बड़ी कठिनाई होती है। कहना पड़ता है कि भारतेन्दु व्यक्तिगत प्रेरणा से तो भावात्मक भक्ति की ओर उन्मुख थे, परन्तु वे अपनी समकालीन रीति-परम्परा के बोझ से भी आक्रान्त रहे हैं। यह उनका वैयक्तिक संघर्ष था, जो उन्हें रीतिकाव्य की ऐहिकता और भक्ति-काव्य की भावनात्मकता के बीच एक या दूसरी ओर पारी-पारी से खींचता रहा। परन्तु भारतेन्दु और उनके युग की वास्तविक देन भक्ति और रीति के इस संघर्ष में नहीं पाई जाती। उनका असली कार्य नई सामाजिक चेतना को प्रतिबिम्बित करने में था और वह चेतना एक शब्द में राष्ट्रीय थी। इस व्यापक चेतना के अन्तर्गत विदेशी राज्य की भलाइयाँ-बुराइयाँ, हिन्दू-मुसलमानों के आपसी झगड़े और मतभेद तथा भारतीय समाज के विभिन्न अंगों और वर्गों की अलग-अलग समस्याएँ थीं। किन्तु कुल मिलाकर नवीन राष्ट्रीय एकता और विकास की प्रभाती-ध्वनि ही इन कवियों और लेखकों की वाणी में व्यक्त हुई। विशेषकर इस युग के गद्य-साहित्य और प्रमुख रूप से नाटकों में इस नवीन राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति हुई है। हरिश्चन्द्र-युग की इस नव-जाग्रत राष्ट्रीय भावना को प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान और रीति-विरोधी नई सामाजिक नैतिकता के निर्माण में नियोजित करने का कार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखकों और कवियों ने किया। एक प्रकार से यह कार्य हरिश्चन्द्र-युग की राष्ट्रीय चेतना को परिपुष्ट करने वाला रहा है, परन्तु कविता के भावनात्मक क्षेत्र में इसने कुछ गतिरोध भी उत्पन्न किया था। एक तो ब्रजभाषा की बँधी हुई परिपाटी के विरुद्ध खड़ी बोली का नया काव्य-माध्यम आरम्भ में अनगढ़ था। दूसरे, लेखकों और कवियों के ऊपर द्विवेदीजी के अतिरिक्त आचार्यत्व का दबाव भी था। कदाचित् इसी दबाव की प्रतिक्रिया में नये छायावादी कवि भावना के क्षेत्र में एक नई चुनौती देते हुए आये थे। छायावादी काव्य पर देशी और विदेशी कितने भी प्रभाव रहे हैं, परन्तु मुख्यतः उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषी समाज के द्विवेदीकालीन विकास में मिलते हैं। यदि हम छायावाद-युग के दो प्रमुख कलाकार प्रेमचन्द और प्रसाद को एक साथ लेकर देखें तो ऊपर का तथ्य स्पष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में द्विवेदी-युग की नैतिकता की ओर आदर्शवाद की छाया है। प्रसाद के काव्य में इन दोनों का विरोध है। वे नीतिवाद के विरुद्ध स्वच्छन्दतावाद की भूमि पर पूरी तरह उतर आए थे। इस दृष्टि से वे प्रेमचन्द से एक श्रेणी आगे के कलाकार हैं। परन्तु दूसरी ओर राष्ट्रीय और सामाजिक विकास की यथार्थ भूमि पर प्रेमचन्द प्रसाद से एक श्रेणी आगे हैं। प्रसाद ने अपने उपन्यासों में जिस सामाजिक विकास की भावात्मक कल्पना की है, प्रेमचन्द ने उसी विकास को एक वास्तविक संघर्ष के माध्यम से चित्रित किया है। यहाँ प्रेमचन्द प्रसाद से अधिक राष्ट्रीय और सामाजिक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग के पश्चात् आने वाला छायावाद-युग प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे भिन्न प्रकृति के साहित्यकारों का सृजन करते हुए भी विकासमान राष्ट्रीय और सामूहिक चेतना से सम्पन्न है। छायावाद को कुछ समीक्षकों ने व्यक्तिवादी, पलायनवादी अथवा वेदनावादी जीवन-दृष्टि का परिणाम बताया है। किन्तु, यदि हिन्दी-साहित्य के विकास की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि पर देखा जाय, तो छायावाद वस्तुतः हरिश्चन्द्र और द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय विकास-भूमियों को अधिक गहराई, उर्वरता और प्रसार ही देता है। वह किसी भी अर्थ में साहित्य का पश्चात्गामी या पीछे ले जाने वाला युग नहीं है।

छायावाद-युग को पार कर जब हम नव्यतर युग में प्रवेश करते हैं तब हमें सबसे पहली अभिज्ञता यह होती है कि साहित्य में सामूहिकता का स्वर मन्द पड़ने लगा है और लेखकों में व्यक्तिनिष्ठता और खण्डदृष्टियाँ बढ़ने लगी हैं। छायावाद-युग में प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे दो भिन्न प्रकृति के लेखकों के बीच भी राष्ट्रीयता का एक सुदृढ़ सम्बन्ध-सूत्र बना हुआ था, परन्तु आज के किन्हीं भी दो या अधिक विशिष्ट लेखकों के बीच कोई सम्बन्ध-सूत्र ढूँढ़ निकालना कठिन हो गया है। यदि आज के लेखकों और कलाकारों में कोई सम्बन्ध-सूत्र है भी तो वह अनास्था और अविश्वास का है, जो एक नकारात्मक वस्तु है। दूसरा सूत्र मनुष्य की एक-सी स्वार्थ-वृत्तियों का, पशु-वृत्तियों का है—आहार, निद्रा, भय और मैथुन का सूत्र। किन्तु इन सूत्रों को पकड़कर साहित्य और मनुष्यता कितने पग आगे बढ़ेगी? छायावादी कवि और लेखक किसी-न-किसी सम्मानित विचारधारा का विज्ञापन करते थे। परन्तु नये कवि और लेखक अपने को एक अज्ञेय आवरण में छिपाकर चल रहे हैं। ऐसे लेखकों से हमारा साग्रह निवेदन होगा कि वे अपनी वैचारिक स्थिति स्पष्ट करें। यूरोप में ह्रासोन्मुखी भाव-धाराओं के कलाकार भी अपना जीवन-अभिमत व्यक्त करने में हिचके नहीं हैं। फिर हमारे लेखक ही क्यों हिचकें?

वे कौनसे तर्क हैं जो नये लेखक अपनी कृतियों के पक्ष में देते हैं? छायावाद-युग के साहित्य को कल्पनाजीवी और व्यक्तिवादी बताकर वे एक नये यथार्थ की बात कहते हैं। छायावाद में कल्पना की प्रधानता तो थी, किन्तु वह एक भावात्मक और राष्ट्रीय दृष्टि से सम्पन्न कल्पना थी। उसमें व्यक्तिवाद तो था, परन्तु एक उदात्त समष्टि चेतना से ऊर्जस्वित। उसके स्थान पर नये यथार्थ का स्वरूप क्या है? उसकी रचनात्मक प्रेरणा और क्षमता कितनी है? यह नया यथार्थ जिस प्रकृतिवादी प्रवृत्ति पर आधारित है, वह राष्ट्रीय विकास के उपकरणों से बहुत-कुछ रिक्त है। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास-लेखक जिस यथार्थ के चित्रण का दावा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं, उसका क्रियात्मक रूप क्या है ? यथार्थ और सत्य की खोज में व्यस्त होकर ये लेखक अधिकाधिक अन्तर्जीवी होते जा रहे हैं। कुछ लेखकों ने एक नये स्वातन्त्र्य का भी उद्घोष किया है, जो आज यथार्थवादी रोमांस के नाम से पुकारा जाता है। इस अव्याहत स्वातन्त्र्य का आज शरीर से शरीर के सुदीर्घ मिलन के रूप में चित्रित किया जाता है। क्या यह उसी फाउस्टियन संस्कृति का चरम चिह्न नहीं है जिसे आज पश्चिम का समाज भयभीत होकर छोड़ रहा है ? पिछले विश्वयुद्ध का और उससे उत्पन्न नई परिस्थिति का हवाला देते हुए यह भी कहा जाता है कि आज के जीवन में भय की विभीषिका समाई हुई है, इसलिए नवीन साहित्य में कोई स्थिर और केन्द्रवर्ती विचार-दृष्टि आ ही नहीं सकती। नये लेखक अपनी इस कमजोरी का हवाला इस प्रकार देते हैं, जैसे वह कोई वांच्छनीय वस्तु हो। स्वराज्य की उपलब्धि के अनन्तर नये लेखक एक उल्लास-मय जीवन का अभूतपूर्व साक्षात्कार कर रहे हैं, अतएव उनकी रचना में उन्मत्त विनोद और उच्छृङ्खलता आनी ही चाहिए। साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या का समर्थन करते हुए नये लेखक यह भी कहते हैं कि आज के मध्यवर्गीय लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला साहित्य दिग्भ्रमित और दिशाशून्य होने को बाध्य है। इस प्रकार जितने मुँह उतनी बातें सुनकर आज का पाठक एक बड़े असमंजस की स्थिति में पहुँच गया है।

हम जानते हैं कि लेखकों का एक बहुत बड़ा समूह इन आत्म-संकोची प्रवृत्तियों से कोई नाता नहीं रखता और वह इस अवसाद-भरे वातावरण में उलझने या खो जाने को किसी प्रकार तैयार नहीं है। हम उन बाधाओं से भी अपरिचित नहीं हैं, जो इन स्वाधीन-चेता साहित्यिकों के मार्ग में पग-पग पर आती और उनके साहस को तोड़ना चाहती हैं। हमारे ये कर्मण्य और संघर्षशील लेखक उन परिस्थितियों से टक्कर ले रहे हैं जो उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय और मानवीय स्वातन्त्र्य के मार्ग में बाधक होकर खड़ी हैं। ऐसा करते हुए वे न तो समाज के किसी अधिकारी-वर्ग की अनुचित परवा करते हैं और न शासनसत्ता के हाथों में बिक जाने को तैयार हैं। क्या आज के सामाजिक जीवन में वैषम्यों और विकृतियों की कमी है ? हम तो देखते हैं कि स्तर-स्तर पर असंगतियाँ हैं, अनाचार हैं, अपराध हैं। क्या लेखकों के लिए उत्तेजनाकारी दृश्य कम हैं ? उनकी कर्मण्यता को चुनौती देने वाली हीनताएँ नहीं हैं ? असंख्य हैं, और हमारे अनेकानेक लेखक उन सबका डटकर सामना करने में संलग्न हैं। सच पूछिए तो ये लेखक ही उस साहित्यिक परम्परा के अग्रिम प्रतिनिधि हैं जो भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक विकसित होती चली आई है। 'आलोचना' द्वारा इसकी सब प्रकार से संवर्द्धना करना हमारा कर्त्तव्य होगा।

हमारे लिए यह कम खेद की बात नहीं है कि हिन्दी के साहित्यिक प्रतिमान अब तक अनिश्चित और डाँवाडोल बने हुए हैं। सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत तथ्यों की अतिशय कमी है। साहित्य के व्यवस्थित विकास के लिए यह कितनी घातक स्थिति है कि हम अपने प्रमुख कवियों और लेखकों के सम्बन्ध में भी कोई सुनिश्चित धारणा नहीं रखते। विदेशों में भी साहित्यिक प्रतिमान बदलते हैं पर उनका बदलना युग-संस्कृति के परिवर्तन का द्योतक होता है। यूरोप में साहित्यिक मान्यताओं में मतभेद विभिन्न राष्ट्रों की साहित्यिक दृष्टियों के अन्तर के कारण भी होता है। परन्तु हिन्दी में कोई भी कच्चा-पक्का लेखक किसी भी दिन निश्चिन्त होकर कोई स्वेच्छाचारी सम्मति दे डालता है और उस पर लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगते हैं। कारण यह है कि हिन्दी-भाषी समाज अब तक सुगठित समाज नहीं है। उसकी साहित्यिक चेतना क्रमागत संस्कारों से परिपुष्ट नहीं हो पाई है। हिन्दी का पाठक, नवसिखिए विद्यार्थी की तरह, बिना प्रश्न किये ही सब-कुछ स्वीकार करने को तैयार रहता है। यों तो किसी भी समय इस प्रकार की निरीहता साहित्य के लिए शुभ लक्षण नहीं है, परन्तु आज की साहित्यिक आपाधापी में इसके घातक दुष्परिणाम हो सकते हैं और हो रहे हैं। यद्यपि प्रतिमानों का स्थिरीकरण एक दिन का काम नहीं है, फिर भी दूरवर्ती लक्ष्य के रूप में यह कार्य सदैव हमारे सामने रहेगा।

समय आ गया है, जब हम अपनी प्राचीन पोथियों को खोलकर यह देखने का प्रयत्न भी करें कि नये साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में वे कहाँ तक हमारा साथ दे सकती हैं और उनका आधार लेकर हम किस प्रकार आगे बढ़ सकते हैं। हमारे देश में एक प्राचीन और समृद्ध साहित्य-शास्त्र भी मौजूद है जिसका सम्यक् अनुशीलन हमें करना चाहिए। वर्तमान युग विज्ञान की शोधों से भरा-पूरा है। हमारे प्राचीन सिद्धान्त उच्चतम मनीषा की उपज हैं, परन्तु उनमें नवीन और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों का योग नहीं है। हमें अपने प्राचीन सिद्धान्तों को इतिहास की पृष्ठभूमि पर रखकर देखना होगा। उन विभिन्न सिद्धान्तों की मौलिक दृष्टियाँ क्या हैं? उनमें परस्पर कितना अन्तर है? और पारस्परिक आदान-प्रदान से उनकी किस प्रकार प्रगति हुई है? यह कार्य प्राचीन शोध के उद्देश्य से विश्वविद्यालयों तथा दूसरी संस्थाओं में किया जा सकता है। परन्तु 'आलोचना' पत्रिका में हमारा प्रयोजन उन सिद्धान्तों की ऐसी छानबीन करना होगा जिससे हम उन्हें नये उपयोग में लाने के योग्य बना सकें। इसका यह अर्थ नहीं कि हम ज्ञान के क्षेत्र में पुरातनवादी हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि हम अपने राष्ट्र के वर्तमान संक्रातिकाल में प्राचीन और नवीन की एक सुसम्बद्ध और समन्वित शृंखला बनी हुई देखना चाहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

रामविलास शर्मा

कालिदास : साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या

[साहित्य के स्थायी मूल्यों की छानबीन करते हुए कालिदास की चर्चा करना स्वाभाविक है। वह भारतीय साहित्य के सबसे स्थायी कवि हैं। शताब्दियों से सहृदय काव्य-मर्मज्ञ उन्हें कविकुलगुरु कहते आए हैं। जिस समाज-व्यवस्था में उनका जन्म हुआ था, वह नष्ट हो चुकी है या नष्टप्राय है; फिर भी उनका काव्य-सौष्ठव न तो नष्ट हुआ है, न भविष्य में नष्ट होता दिखाई देता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह काव्य-सौष्ठव समाज-निरपेक्ष है, वह ऐसे शाश्वत सौन्दर्य की व्यञ्जना है जो देश-काल की सीमाओं के परे है ? क्या कालिदास की काव्य-महिमा इस बात के लिए प्रबल तर्क नहीं है कि साहित्यकार को सामाजिक उथल-पुथल से दूर रहकर सौन्दर्य की एकान्त साधना करनी चाहिए ?]

: १ :

कालिदास जिस समाज-व्यवस्था से परिचित हैं और जिसे वह अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं, वह चार वर्णों में विभाजित है। इसमें श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मणों का है जो सभी के पूज्य हैं। क्षत्रिय सभी की रक्षा करने वाले हैं। वैश्य व्यापार आदि कार्य करते हैं और शूद्र दूसरों की सेवा करते हैं। अपनी रक्षा के लिए प्रजा एक निश्चित कर राजा को देती है। यह व्यवस्था इतनी रूढ़ हो चुकी है कि वर्ण का निश्चय कर्म से नहीं, जन्म से होता है। शम्बूक जन्म से शूद्र था, इसलिए उसे तप करने का अधिकार न था। उसके 'अपचार' से एक ब्राह्मण का पुत्र अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, इसलिए तप करते हुए शम्बूक का सिर काटकर राम ने उस ब्राह्मण के लड़के को जिला दिया (रघुवंश, सर्ग १५)। दुष्यन्त अपने पुत्र के हाथ में चक्रवर्तियों के लक्षण देखते ही पहचान जाते हैं कि वह किसी राजा का पुत्र है और चक्रवर्ती बनने के लिए पैदा हुआ है। सुदक्षिणा के गर्भ में लोकपालों के अंश विद्यमान हैं, इसलिए उसके पुत्र को चक्रवर्ती होना ही चाहिए (रघुवंश, सर्ग ३)। राजा लोग दो काम करते हैं—भोग और युद्ध। दोनों से छुट्टी मिलने पर योग साधते हैं। यद्यपि वे प्रकृति-रंजक प्रजा को प्रसन्न रखने वाले हैं, फिर भी यह पृथ्वी उनके भोग के लिए है। रघु ने अज को पृथ्वी ऐसे सौंप दी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो वह दूसरी इन्दुमती हो (रघुवंश, सर्ग ८)। सीता को बनवास देने के बाद राम ने पृथ्वी का ही भोग किया (उप० सर्ग १५)। दुष्यन्त प्रतिज्ञा करते हैं कि अनेक रानियों के रहते हुए भी उनके यहाँ दो ही की प्रतिष्ठा होगी—एक तो पृथ्वी की, दूसरी शकुन्तला की। प्राचीन कवियों ने पृथ्वी को माता और अपने को उसका पुत्र कहा था। अब वह भोग की वस्तु बन गई है। कवि राजाओं के चाटुकार बन गए हैं। सरस्वती यह देखकर सिर धुनने और पछताने के बदले चारणों के कण्ठ में बैठकर रघु की स्तुति करती हैं (रघुवंश, सर्ग ४)।

समाज-व्यवस्था के प्रति कालिदास उदासीन नहीं हैं। उनका एक निश्चित दृष्टिकोण है। वह प्रचलित समाज-व्यवस्था का पोषक है। यह व्यवस्था अभ्युदयशील न होकर काफ़ी रूढ़ हो गई है। उसकी गहरी छाप कालिदास के काव्य पर है। यह छाप उनके काव्योत्कर्ष में सहायक न होकर एक बाधा बन गई है। कालिदास और उनके अनेक—सम्भवतः अधिकांश—सामयिक काव्य-प्रेमियों की सहृदयता को यह देखकर धक्का न लगा होगा कि पृथ्वी नारी के समान भोग्या है, सरस्वती राजाओं की स्तुति करती है और शूद्र के तप करने पर उसका सिर काट लिया जाता है। उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं, यह कहा जा सकता है। तब कालिदास की रचनाओं में इस तरह के प्रसंग साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं या अस्थायी? यदि स्थायी हैं तो आज के कवि—साधारण कवि नहीं, रवीन्द्रनाथ, भारती, निराला जैसे कवि—उन पर क्यों रचनाएँ नहीं करते? यही नहीं, कालिदास के दृष्टिकोण से विरोधी विचारधारा अपनाकर वे महान् कृतियाँ कैसे दे सके हैं? यदि अस्थायी हैं तो स्वीकार करना होगा कि कालिदास-साहित्य के सभी तत्त्व समान रूप से स्थायी नहीं हैं; कुछ उनमें अस्थायी भी हैं और वे हमारे लिए अनुकरणीय नहीं हैं।

पृथ्वी भोगने के लिए युद्ध करना आवश्यक है। रामायण और महाभारत में युद्ध अन्याय के प्रतिकार के लिए था; राम, कृष्ण, अर्जुन आदि वीर इसीलिए आदर्श पात्रों के रूप में चित्रित किये गए थे। लेकिन कालिदास के रघुवंशी राजा यश के लिए विजय प्राप्त करने चलते हैं (रघु०, सर्ग १)। युद्ध आदि के वर्णन में अतिरंजित चित्रों और कल्पना-चमत्कार का बाहुल्य रहता है। रघु जब दिग्विजय के लिए चलते हैं तो सबसे आगे उनका प्रताप चलता है, उसके बाद सेना का कोलाहल, उसके बाद धूल और सबसे पीछे सेना (रघु०, सर्ग ४)। इन्दुमती के साथ लौटते हुए अज अपने विरोधियों से युद्ध करते हैं, तब एक योद्धा सिर कटने पर देवता हो गया, विमान पर चढ़कर स्वर्ग पहुँच गया और वहाँ से सुराङ्गना के साथ समर-भूमि में देखने लगा कि उसका धड़ अब भी नाच रहा है (रघु०, सर्ग ७)। दो योद्धा एक साथ मारे जाकर स्वर्ग पहुँच गए और वहाँ एक ही अप्सरा के पीछे झगड़ा भी करने लगे (उप०)। कुमारसम्भव में योद्धा हाथियों पर ऐसे बाण चलाते हैं कि हाथियों के सिर पहले गिरते हैं, बाण पीछे (सर्ग १६)। जिन योद्धाओं को हाथियों ने उछाल दिया, उनके प्राण ऊपर ही स्वर्ग चले गए, शरीर नीचे आ गिरा (उप०)। दो योद्धाओं ने एक-दूसरे का सिर काट दिया, स्वर्ग पहुँचकर वे अपने धड़ों का नाच भी देखने लगे (उप०)। कालिदास की महान् प्रतिभा भी उनके युद्ध-वर्णन को प्रभावशाली नहीं बना सकी। युद्ध-वर्णन में उन्होंने परम्परा का निर्वाह-मात्र किया है। उनकी चमत्कार-प्रदर्शन की शैली उनकी प्रकृति-वर्णन की सहज शैली से एकदम भिन्न है। युग-विशेष की रूढ़ि का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसरण-भर उन्होंने किया है; उत्साह और तन्मयता का अभाव स्पष्ट है। यह भी उनके काव्य का स्थायी तत्त्व नहीं है, वरन् राजाश्रय-प्राप्त कविता की रूढ़ि से उत्पन्न दोष है।

युद्ध के बाद दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सुखभोग है। सुख का अर्थ है नारी। कालिदास के अधिकांश राजा अनेक पत्नियों वाले हैं। पतिव्रत-धर्म स्त्रियों के लिए हैं; पुरुष पत्नीव्रत से प्रायः मुक्त हैं। पुरुष भोक्ता हैं, नारी भोग्या है। इसलिए भोक्ता के लिए कोई बन्धन नहीं है। विवाहिता पत्नियों के अतिरिक्त प्रमोद-नृत्य के लिए वारयोषिताएँ हैं (रघु०, सर्ग ३); यक्ष का सन्देश ले जाने वाला मेघ पण्यस्त्रियों के साथ विहार करने वालों के उद्दाम यौवन की जानकारी प्राप्त करता हुआ जाता है।

"यः पण्यस्त्री रतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि।"

और भी—

"वेश्यास्त्वत्तो नखपद सुखान प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान कटाक्षान।"

वेश्यावृत्ति इस नागर-संस्कृति का अभिन्न अंग है। उसके बिना उनके उद्दाम यौवन का संगीत अधूरा रहेगा। ये पण्यस्त्रियाँ थीं; पैसे के लिए उनका शरीर बिकता था। सहृदय रसिकों के दुर्भाग्य से साहित्य का यह स्थायी तत्त्व भी अब मिटता जा रहा है।

भोग के उत्कर्ष के लिए मद्यपान आवश्यक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है। रघु के सैनिक मदिरा के साथ शत्रु का यश पी जाते हैं। अज को देखने वाली स्त्रियों में मुँह से आसवगन्ध निकालने वाली देवियाँ भी हैं; अज इन्दुमती के लिए विलाप करते हुए याद करते हैं कि उसने अज के अधपिये मधु को पिया था; वसन्त में अङ्गनाएँ स्मरसखा मधु का सेवन करती हैं (रघु०, सर्ग ६)। यह कहना कठिन है कि कालिदास के समाज में (या उनकी कल्पना में) कौन अधिक पीता था—स्त्रियाँ या पुरुष। कालिदास ने मदविह्वला रमणियों का उल्लेख अधिक किया है। रति विलाप करते हुए इस बात पर क्षोभ प्रकट करती है कि अरुण-नेत्र घुमाती और बोलने में अटपटाती प्रमदाओं का मद्यपान काम के बिना व्यर्थ जायगा। 'मालविकाग्निमित्र' में इरावती कहती है, लोगों की उक्ति है कि मद्यपान से स्त्रियों की शोभा विशेष रूप से बढ़ जाती है। इसलिए भगवान् शंकर ने अनङ्गदीपन मद अम्बिका को भी पिला दिया; रति-विलाप की महिलाओं की तरह "घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं" उनकी भी वैसी ही दशा हो गई। मद्यपान की अतिशयता भोगवाद की अतिशयता की ही सूचक है। मद्यपान और वेश्यावृत्ति में कौन श्रेष्ठ है और कौन निम्न है, इसका निर्णय पाठक करें; किन्तु यदि घूर्णमान नयनों वाली प्रमदाओं का वर्णन कवि न करे तो क्या इसे साहित्य के एक स्थायी तत्त्व का अभाव माना जायगा?

नारी भोग की वस्तु है, इसलिए शृंगार रस के सिद्ध कवि द्वारा नर-नारी के परस्पर-सम्बन्ध का वर्णन स्वाभाविक ही है। छहों ऋतुओं की सृष्टि इसीलिए हुई है कि भोगियों का रस-व्यापार एकरस न होकर विभिन्न प्रकृति-परिवेशों में सरस बना रहे। गर्मी में "नितम्ब-बिम्बैः" तथा "स्तनैः" "स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्" (ऋतुसंहार, सर्ग १)। वर्षा का तो कहना ही क्या? बिजली चमकते ही अपराधी प्रियों को भी देवियाँ क्षमा कर देती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। गुफाओं में विहार करते हुए किंपुरुषों और उनकी प्रेमिकाओं के लिए बादल पर्दे का काम करते हैं (कुमारसम्भव, सर्ग १)। यदि वर्षा की बूँदें नहीं हैं तो सुरतग्लानि दूर करने के लिए शिप्रावात है (मेघदूत)। कालिदास के कामीजन शृंगार रस में ऐसे डूबते हैं कि सिर उठाने का नाम नहीं लेते। उनके आदर्श भोगी भगवान् शंकर हैं जो आदर्श योगी भी हैं।

समदिवस निशीथं संगिनस्तस्त्र शम्भोः
शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव।
न तु सुरत सुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः॥ (कुमारसम्भव, सर्ग ८)

दिन-रात भोग करते हुए सौ वर्ष एक रात की तरह बिता देने पर भी वड़वानल की तरह सुरत सुख से वह छिन्नतृष्ण ही रहे।

शिवजी तो योगी थे; उनके लिए सब-कुछ सम्भव था। लेकिन शिवजी के इस मार्ग पर चलने वाले रघुवंशी राजा अग्निवर्ण की बुरी दशा हुई। वह रमणियों से भरी हुई पानशाला में वैसे ही जाते थे जैसे कमलिनियों के बीच हाथी जाता है। रमणियाँ उनका जूठा मद पीती थीं, वह रमणियों का। अन्त में उन्हें क्षय रोग हो गया; वे दूसरों का सहारा लेकर चलने लगे। अन्त में पुत्र का मुँह देखे बिना ही वह चल बसे। कालिदास ने भोगवाद का यह परिणाम दिखाया, यह अच्छा किया। किन्तु यह उन्होंने 'रघुवंश' में दिखाया है, उसके अन्तिम सर्ग में। 'रघुवंश' को उनकी अन्तिम रचना माना जाता है। यदि यह सत्य है तो अग्निवर्ण का अन्त कालिदास की अन्य रचनाओं में वर्णित भोगवाद पर अच्छी टिप्पणी है। यह रोग उस समाज-व्यवस्था में लग चुका था जिसमें एक अवकाशभोगी वर्ग दूसरों की अर्जित सम्पत्ति के बल पर भोग (और योग) के सिवा दूसरी बात सोच ही न सकता था। उस रोग का जो परिणाम हुआ, उसे भारतीय इतिहास का हर विद्यार्थी अच्छी तरह जानता है।

इस भोग के साथ योग का संसार है। योग के चमत्कार से असम्भव बातें भी सम्भव हो जाती हैं। गुरु वशिष्ठ ने ध्यान लगाया और उन्हें मालूम हो गया कि दिलीप के पुत्र क्यों नहीं होता। कार्तवीर्य नाम के योगी युद्ध करने चलते थे तो उनके हजार हाथ निकल आते थे, इसलिए कोई राजा उनका सामना न कर सकता था (रघु०, सर्ग ६)। एक महर्षि ऐसे थे जो हिरनों के साथ रहते थे और घास खाते थे (दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः) और इस 'तप' से इन्द्र को भय हो गया था। जिस शम्बूक ने तप करके वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन किया था, वह वृक्ष की डाल पर उलटा लटका हुआ था और उसके मुँह के नीचे आग जल रही थी। इस तरह के तप का अधिकार ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित था। शरीर को इस तरह कष्ट देने से आध्यात्मिक उन्नति होती थी। कहाँ उपनिषदों का रहस्य-चिन्तन और कहाँ यह उलटे लटकने की क्रिया! कालिदास की सामाजिक विचारधारा—राजा, प्रजा आदि के सम्बन्ध में—वाल्मीकि और व्यास से पिछड़ी हुई है, उसी तरह योग के विषय में उनका दृष्टिकोण उपनिषदों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। आगे चलकर तुलसीदास ने इसी चमत्कारवाद का प्रबल विरोध करके अपना भक्ति-मार्ग प्रतिष्ठित किया था।

पशुबलि का अलग चलन था। निःसन्देह कालिदास को जीवमात्र से प्रेम था। उनके तपोवनों में पहुँचते ही राजा अपना धनुष अलग रख देते हैं। लेकिन धार्मिक रूढ़ि के रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें पशुबलि स्वीकार थी। जिस धीवर के दुष्यन्त की अँगूठी मिली थी, वह उन श्रोत्रियों का हवाला देता है जो पशुमरण के दारुण कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

कालिदास के समाज की विशेष धार्मिक उपज पुराण थे। पुराणों से महाकवि ने अपने काव्य-सौन्दर्य की ही बहुत सी सामग्री नहीं ली, उनसे उन्होंने कुछ ऐसी बातें भी ली हैं जो जहाँ-तहाँ काव्य को पुराण बना देती हैं और इससे काव्य-सौन्दर्य घट जाता है। रघुवंश में देवताओं द्वारा विष्णु की स्तुति कुमारसम्भव में ब्रह्मा की स्तुति आदि ऐसे ही प्रसंग हैं। रघुवंश के अठारहवें सर्ग में कवि ने राजाओं के नाम गिनाकर पुराणों की तरह वंशावली लिख डाली है। पुराणवाद ने यहाँ उनके काव्योत्कर्ष को प्रायः नष्ट ही कर दिया है। कालिदास का कलात्मक दृष्टिकोण एक कुशल चित्रकार का है। साधारणतः वह पुराणों से ऐसे तत्त्व लेते हैं जो सौन्दर्य बोध को निखारने वाले होते हैं। लेकिन रूढ़ियों का पालन करते हुए उन्होंने छः दिन के षडानन से युद्ध ही नहीं कराया, ब्रह्मा के चार मुखों द्वारा षडानन के छः मुखों का चुम्बन भी कराया है।

घनप्रमोदाश्रुतरंगिताक्षैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रचुर प्रसादैः।
अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं बद्धु शिरःसुचित्रम्॥

वैसे तो ब्रह्मा के लिए सब-कुछ सम्भव है लेकिन देवताओं का जितना ही मानवीयकरण हो, उतना ही काव्य के लिए उपयोगी होते हैं। अद्भुत रस का प्रसंग होता तो चित्र ठीक रहता। इस विचित्र व्यापार का कारण अनेक पौराणिक रूढ़ियों को स्वीकार कर लेना है जिससे काव्य-कला की क्षति हुई है।

पौराणिक रूढ़ियों के अतिरिक्त कालिदास ने अनेक काव्यगत रूढ़ियों का अनुसरण भी किया है। उनके युद्धवर्णन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरञ्जित आलंकारिक वर्णन इसी रूढ़िवाद के अन्तर्गत आते हैं। शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियों के जिस चमत्कारवाद का विरोध किया था, उसके बीज कालिदास में विद्यमान हैं। उनमें इस तरह का कल्पना-विलास मिलता है—हंस, तारे, कुमुद आदि देखकर लगता है कि ये रघु का यश हैं। शिवजी ने पार्वतीजी की आँखों में लगाने के लिए अपने तीसरे नेत्र से ही काजल पार लिया। शिवजी के पुत्र षडानन अपना हाथ शिवजी के सिर पर बहती हुई गंगा में डाल देते हैं और जब ठण्ड लगती है तब उनके तीसरे नेत्र से उसे सेंक लेते हैं।

कालिदास की काव्य-कला का अध्ययन उनके समय की समाज-व्यवस्था से अलग करके नहीं किया जा सकता। उस व्यवस्था को भुलाकर एक महान् कवि में उपर्युक्त चमत्कारवाद की व्याख्या करना कठिन हो जायगा। कालिदास के समय में वह समाज-व्यवस्था पूरी तरह परिपक्व हो चुकी है, इतनी कि उसमें ह्रास के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। इस व्यवस्था ने महाकवि की चेतना को सीमित कर दिया है। राजाओं के सम्बन्ध में उनके विचार उनके चरित्र-चित्रण पर प्रभाव डालते हैं। वाल्मीकि की तरह वह अपने आदर्श-पात्रों के मानवत्त्व की घोषणा नहीं करते—**दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः**। जो शिव के समान देवता हैं, षडानन के समान देवपुत्र हैं, राम के समान अवतार हैं, उनके चमत्कारों का तो कहना ही क्या, दुष्यन्त जैसे राजा भी इन्द्र की सहायता करने पहुँच जाते हैं। राम को विजय-प्राप्ति के लिए भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था; वाल्मीकि के राम मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से अपरिचित नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास के राजा बड़ी सरलता से विजय पा जाते हैं। उनमें रामायण और महाभारत के वीरों की प्रयत्नशीलता का अभाव है। युद्ध में अनेक चमत्कार दिखाने वाले ये राजा वास्तव में निष्क्रिय लगते हैं। उनकी सक्रियता प्रायः भोग्या नारी को देखकर जाग्रत होती है; उनकी मुख्य मानसिक व्यथा विरहजन्य होती है। स्त्रियाँ और भी निष्क्रिय हैं। ओष्ठ रंगने और भ्रू सञ्चालन में वे पटु होती हैं। नखक्षतों की पीड़ा वे जानती हैं। वे वात्स्यायन की प्रयोगशाला की सजीव मानव-मूर्तियाँ हैं। उनमें प्राचीन महाकाव्यों की वीर नारियों के-से दर्प और संघर्ष की क्षमता नहीं है। कालिदास के समाज में नारी का व्यक्तित्व दबा दिया गया है। वीर नारियों का स्थान वेश्याओं और अभिसारिकाओं ने ले लिया है। अन्य नारियाँ अधिकतर प्रेमिका-मात्र रह गई हैं। चरित्र-चित्रण में कविकुलगुरु आदि कवि से बहुत पीछे हैं और इसका कारण उस समय के सामाजिक वातावरण से उनकी कला का गहरा सम्बन्ध है।

सामन्तों की आश्रय-प्राप्त कविता चमत्कार-प्रधान हो चुकी है। कालिदास की अद्भुत उत्प्रेक्षाओं में ही यह चमत्कारवाद नहीं दिखाई देता, उनके साधारण कथा-प्रवाह में भी यह प्रयत्न दिखाई देता है कि हर छन्द में कोई विशेष आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न किया जाय। इस कारण उनके कथा-वर्णन में वह ओजपूर्ण प्रवाह नहीं है जो वाल्मीकि की विशेषता है। उनकी कविता सुन्दर है लेकिन उसमें उस गरिमा का अभाव है जो व्यास की विशेषता है, जो मनुष्य की चेतना को भावना के एक उच्च धरातल पर ले जाती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनका काव्य-जगत् सीमित है; इसलिए उन्होंने मनुष्य के जिस भावजगत् का उद्घाटन किया है, वह तुलसीदास की तुलना में सीमित है। शृङ्गार-रस के अतिरिक्त वे जिस रस को छूते हैं उसमें उन्हें अपेक्षाकृत कम सफलता मिलती है। इसलिए पण्डितों ने शृङ्गार को रसराज घोषित करके उनके सीमित भावजगत् को एकमात्र भावजगत् बना दिया है। वाल्मीकि और तुलसी के साथ न्याय करने के लिए कालिदास की इन ऐतिहासिक सीमाओं को याद रखना आवश्यक है। निस्सन्देह प्राचीन समाज व्यवस्था से उन्होंने बहुत-कुछ पाया; किन्तु यह भी सही है कि इस व्यवस्था की, उसकी धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों की गहरी छाप उनके काव्य पर है और वह सदा उसके उत्कर्ष में सहायक नहीं हुई।

: २ :

कालिदास का काव्य-साहित्य एक ओर पूर्ण-विकसित प्राचीन समाज-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है, दूसरी ओर वह उसकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों और निर्जीव रूढ़ियों की प्रतिक्रिया भी है। वर्ग-युक्त समाज के अनेक महान् साहित्यकारों की तरह कालिदास में भी अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध हैं। ये अन्तर्विरोध उनके धार्मिक और दार्शनिक विचारों में, उनके राजनीतिक और सामाजिक विचारों में, उनके सौन्दर्यबोध और भावजगत् में सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं। इसीलिए कालिदास को सामन्ती-व्यवस्था का चारण समझना बहुत बड़ा भ्रम है, किसी सामन्त-विशेष का चारण समझना और भी बड़ा भ्रम है। कालिदास का साहित्य उस काल की समाज-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, साथ ही उसका बहुत बड़ा भाग उस व्यवस्था से मुक्त होकर एक कल्पना-लोक की सृष्टि भी करता है। इसलिए कालिदास में जो कुछ भी मिले, उस सभी को हम उस युग का सामाजिक यथार्थ नहीं मान सकते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास ने अनेक राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु इन सभी के चित्र यथार्थ जीवन से नहीं लिये गए। अनेक पात्र आदर्श राजाओं के रूप में कल्पित किये गए हैं। राजा दिलीप के कारागारों में कोई भी बन्दी न था जिसे वह पुत्र-जन्मोत्सव पर छोड़ते। राम लोभ-पराङ्मुख थे, इसलिए प्रजा अर्थवान् हो गई। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को आसमुद्र-क्षितीश कहा है। समग्र देश की एकता और उस पर एक ही चक्रवर्ती सम्राट् का शासन उनका आदर्श था। देश के सामने उन्होंने यथार्थ चित्रण के बदले एक आदर्श चित्र ही रखा था। दुष्यन्त यह घोषणा कराते हैं कि राज्य में जिसका कुटुम्बी न रहे, वह दुष्यन्त को अपना कुटुम्बी समझे। एक ओर राजा के लिए पृथ्वी भोग का साधन है, दूसरी ओर वह प्रजा का साधारण कुटुम्बी भी है।

कालिदास ने राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु मानो इससे सन्तोष न होने पर वह बराबर प्रकृति की ओर भागते हैं या कल्पना-लोक रचते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम नगर के बदले तपोवन में होता है। शिव और पार्वती के प्रेम की भूमि गन्धमादन आदि अनेक पर्वत हैं। अलका विलास और वैभव का कल्पना-लोक है। वहाँ के फ़र्श मणियों से बने हुए हैं। यक्षों के हर्म्य-स्थल सितमणिमय हैं। यक्षबालाएँ कनक-सिकता फेंककर मणियों को छिपाती हैं और फिर उन्हें ढूँढ़ने का खेल खेलती हैं। अपने दुकूल खींचे जाने पर जब वे रत्नप्रदीपों पर चूर्ण फेंकती हैं तो वे बुझते नहीं हैं। उनकी सुरतजनित अङ्गग्लानि दूर करने के लिए चन्द्रकान्त मणियों से जलबिन्दु टपकते हैं। उन्हें अपनी सारी शृङ्गार-सामग्री कल्पवृक्ष से प्राप्त हो जाती है। यक्ष के घर की वापी में स्वर्ण-कमल खिलते हैं। उसके उद्यान में इन्द्रनील-मण्डित क्रीड़ाशैल है और वह 'कनक कदली वेष्टन प्रेक्षणीय' है। इस तरह के काल्पनिक वर्णन कालिदास में अन्यत्र भी हैं। आजकल की आलोचना की शब्दावली में हम कहेंगे कि कालिदास रोमाण्टिक कवि हैं। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने मेघदूत के लिए लिखा है—"It may stand to proclaim the inauguration of a romantic era in Sanskrit poetry." (India in Kalidasa, पृ० २८५)। संस्कृत काव्यजगत् में रोमाण्टिक युग का आरम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। असंदिग्ध बात यह है कि कालिदास एक महान् रोमाण्टिक कवि हैं और विश्व के प्रथम रोमाण्टिक कवियों में से हैं। उनकी रोमाण्टिक वृत्ति नर-नारी के प्रेम के वर्णन में, प्रकृति-चित्रण में, उनके सूक्ष्म इन्द्रिय-बोध में और पौराणिक गाथाओं के सौन्दर्य-वादी उपयोग में सर्वत्र दिखाई देती है।

कालिदास की समाज-व्यवस्था के भोगवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यूरोप में १६वीं सदी से पहले जो काव्य लिखा गया है, उसमें प्रेम की जगह अधिकतर वासना की प्रतिष्ठा है। यूरोप के प्राचीन (यूनानी) साहित्य की चर्चा करते हुए वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक एङ्गेल्स ने राज्यसत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में यह मत प्रकट किया है कि यूनानियों के लिए भोग का इतना महत्त्व था कि उन्हें इसकी भी चिन्ता न रहती थी कि जिससे वे भोग कर रहे हैं, वह नारी है या नर। उनका संकेत यूनान में खुलेआम पुरुषों में प्रचलित अप्राकृतिक व्यभिचार की ओर था। यूरोप में नवजागरण (रिनेसेंस) के प्रथम कवि इटली के दान्ते ने व्यक्तिगत प्रेम को उच्च साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनसे अनेक शताब्दियों पहले महाकवि कालिदास ने भारतीय काव्य में व्यक्तिगत प्रेम की प्रतिष्ठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की थी। व्यक्तिगत प्रेम से तात्पर्य उस प्रेम से है जो एक पुरुष और एक नारी के बीच अनुरण रहता है। पुरुष के लिए अनेक तरुणियाँ अपने यौवन और सौन्दर्य के कारण भोग्या नहीं होतीं, वरन् उसका हृदय केवल एक से ही प्रेम करता है।

कालिदास के नायक बहुधा अनेक पत्नियों वाले होते हैं, किन्तु प्रेमी के रूप में वे एक से ही हार्दिक स्नेह करते हैं। दिलीप की अनेक पत्नियाँ हैं लेकिन वह प्रेमी सुदक्षिणा के हैं। यही हाल दुष्यन्त का है। लेकिन इनसे भिन्न उनके अन्य प्रेमी पात्र हैं जो एक पत्नीव्रती हैं। यक्ष की अलका में विलास की सभी सामग्रियाँ हैं, लेकिन वासना के कलुष से घिरे होने पर भी वह केवल अपनी प्रिया से स्नेह करता है और वह प्रिया भी अलका के विलासमय वातावरण में पूर्वी क्षितिज पर हिमांश की शेष कलामात्र-सी शय्या पर पड़ी रहती है। इसी प्रकार शिव और पार्वती का प्रेम है। इन्दुमती के लिए अज की उक्ति साहित्य के इतिहास में अद्भुत है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणा विमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

यूरोप में प्रेम के सबसे बड़े गायक शेली तक में पत्नी तो क्या किसी एकमात्र प्रेमिका के लिए भी ऐसी उत्कट प्रेम-व्यञ्जना नहीं है। यूरोप की अधिकांश मध्यकालीन कविता में विवाह-सम्बन्ध से बाहर अवैध प्रेम का कीर्तन है। केवल मिल्टन ने अपने महाकाव्य 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में विवाहित प्रेम का अभिनन्दन किया है। जब तक विवाह का आधार कुल, गोत्र और सम्पत्ति के विचार रहते हैं, तब तक विवाह के साथ प्रेम का अस्तित्व दुर्लभ ही होता है। काव्य में दुर्लभ ही रहा है। किन्तु भारत में नारी के लिए अपना प्रेमी चुनने का आदर्श रहा है—कम-से-कम काव्य में वह आदर्श बना रहा है—इसलिए विवाह और प्रेम में कोई आधारभूत विरोध नहीं रहा है।

इन्दुमती ने अज को पिता के कहने से नहीं, स्वेच्छा से स्वीकार किया था। स्त्रियाँ कहती हैं कि स्वयंवर के बिना इन्दुमती को आत्मतुल्य कान्त कैसे मिलता! इसीलिए वह गृहिणी-सचिव, सखी, शिष्या सभी-कुछ है। उसके न रहने से अज के लिए संसार सूना हो गया है। नारी स्वयं पति चुनती है, इसलिए कालिदास ने अनेक बार विवाह से पहले पुरुष और स्त्री के प्रेम का चित्रण किया है। इन्दुमती ने अज को देखते ही उन्हें अपनी दृष्टि से वर लिया। अन्य रोमाण्टिक कवियों की तरह कालिदास में भी प्रथम दर्शन से ही प्रेम का अभ्युदय होता है। इन्दुमती की तरह शकुन्तला दुष्यन्त को देखते ही उन पर मोहित हो जाती है। कालिदास ने इस प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन ही नहीं किया, दीर्घ साहचर्य के बाद स्थिर रहने वाले प्रेम की अभिव्यंजना भी की है। यक्ष और उसकी पत्नी दोनों ही विरह की आग में जलते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों ही बिछोह में कष्ट पाते हैं। अज अपनी पत्नी को सदा के लिए खो बैठने पर करुण विलाप करते हैं। प्रेम नर-नारी में असमानता का भेद नहीं करता। विरही पुरुष भी होता है, नारी भी। यह कहना कि भारतीय साहित्य नारी के विरह का ही वर्णन करता है, कालिदास को भारतीय साहित्य की परिधि से बाहर निकाल देना होगा।

अज का कहना है कि वह शाब्दिक रूप से क्षितिपति थे, उनका वास्तविक प्रेम इन्दुमती से था। कालिदास के राजा शाब्दिक रूप से राजा हैं; अपने वास्तविक रूप में वे प्रेमी हैं। उनके राज्य-सञ्चालन आदि का वर्णन कवि ने रूढ़ि का पालन करने के लिए किया है। उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक लक्ष्य उन्हें प्रेमी रूप में चित्रित करना है। फिर यक्ष और शिव तो सामन्त नहीं हैं। नारद ने भविष्यवाणी की थी कि पार्वती शिव की एकमात्र पत्नी और उनके आधे शरीर की स्वामिनी बनेंगी—

समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य।

पार्वती की सखियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया, "अखण्डितं प्रेम लभस्व।" आदर्श प्रेम अखण्डित ही होता है। पार्वती ने शिव के आधे शरीर पर अधिकार करके अपनी सखियों के आशीर्वाद को पीछे छोड़ दिया। यक्ष के लिए उसकी पत्नी "जीवितं मे द्वितीयं" है। अनेक स्थलों में कालिदास ने संकेत किया है कि मानव-प्रेम इस जन्म से पहले और उसके बाद भी स्थिर रहता है। अज अपना शरीर छोड़ने पर स्वर्ग में इन्दुमती से फिर मिलते हैं। काम के भस्म हो जाने पर भी रति उसे पुनः प्राप्त कर लेती है। पार्वती ने पूर्व जन्म में सती रूप में शिव से प्रेम किया था। सहस्रों राजाओं में इन्दुमती ने अज को ही चुना, इसका कारण पूर्वजन्म की पहचान है। इस तरह के कथा-प्रसंगों में प्रेम की रहस्यवादी व्यञ्जना का संकेत मिलता है।

यह अनिवार्य था कि प्रेमी कवि कालिदास कहीं-न-कहीं रूढ़ियों से टकराते। उन्होंने भरसक रूढ़ियों की रक्षा की है, फिर भी शाप देने वाले दुर्वासाओं से वह सदा अपने प्रेमीजनों की रक्षा नहीं कर सके। यक्ष अपने प्रेम के कारण स्वाधिकार-प्रमत्त हो जाता है; शकुन्तला अनन्यमनसा दुष्यन्त का ध्यान करती हुई दुर्वासा का सत्कार नहीं कर पाती। यही नहीं, उसने गुप्त प्रेम किया है, दुष्यन्त से गन्धर्व-विवाह किया है। इस पर बाद में उसे ताने भी सुनने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि कालिदास की सहानुभूति शकुन्तला के प्रति है, न कि दुर्वासा के प्रति। किन्तु दुर्वासा के शाप के कारण अभिशप्त यक्ष की तरह दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को यातना सहनी पड़ती है। शाप पाने वाली देवियाँ बहुधा अप्सराओं की कन्याएँ हैं। शकुन्तला मेनका की कन्या है; उसके पिता कौशिक गोत्र के एक राजा थे। किन्तु शकुन्तला कौशिक-मेनका के विधिवत् पाणिग्रहण का परिणाम न थी। क्या इस तरह की अविवाहित अप्सराओं की सन्तान से राजा को विवाह करना चाहिए? कालिदास का उत्तर विवाह के पक्ष में है। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा की प्रेयसी उर्वशी है। उर्वशी भी शापवश लता बन जाती है, क्योंकि वह स्त्रियों के लिए निषिद्ध वन में चली गई थी। अज की प्रिय पत्नी इन्दुमती पूर्वजन्म में अप्सरा थी, जिसे ऋषि ने शाप देकर मनुष्यलोक में जन्म लेने के लिए बाध्य किया था। अप्सराओं या अप्सराओं की कन्याओं के प्रति यह प्रेम क्या महाकवि के जीवन की किसी विशेष घटना की ओर इंगित करता है? इतना निश्चित है कि इस तरह का प्रेम साधारण रूढ़ियों से दूर है।

यौवन और सौन्दर्य से कालिदास के प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भोगवाद के अतिरिक्त उनमें भरे-पूरे जीवन की आनन्दकामना है। जैसे रंग भरने से चित्र खिल उठता है, वैसे ही यौवनागम से नारी का सौन्दर्य निखर जाता है (कुमारसम्भव, सर्ग १)। कोयल स्त्रियों को मान तजने की सीख देती है क्योंकि यौवन चला जाने पर फिर नहीं आता (रघुवंश, सर्ग ६)। मिल्टन ने ईव की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैतान उन्हें देखकर ठगा-सा रह गया और एक क्षण के लिए दूसरों का अमंगल करने की वृत्ति भूल गया। कालिदास ने भी उस रूप का वर्णन किया जिससे मनुष्य चमत्कृत होकर पापवृत्ति भूल जाय। उमा का सौन्दर्य भी "पापवृत्तये न" था (कुमारसंभव, सर्ग ५)। शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन में कालिदास जहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्न अंगों की अलग-अलग सुन्दरता की चर्चा करते हैं, वहाँ समग्र रूप का आभास देने के लिए वह उसे अपार्थिव कल्पना-लोक की वस्तु बना देते हैं। शिवा उमा के लिए कहते हैं— "त्रिलोक सौन्दर्य मिवोदितं वपुः।" उमा के शरीर में मानो तीनों लोकों का सौन्दर्य उदय हो गया था। यक्ष की पत्नी "युवतिविषये सृष्टि राद्येव धातुः"है। विधाता ने अपनी प्रथम कृति के रूप में उसीको सँवारा था।

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त की समझ में आता है कि उद्यानलता और वनलता में क्या अन्तर है। शकुन्तला का सौन्दर्य वनलता का-सा है। उसका वपु अव्याज मनोहर है। वल्कल पहने हुए भी वह मनोज्ञ मालूम होती है। वह अनाघ्रात पुष्प है, अलून किसलय है, अनाविद्ध रत्न है, अनास्वादित नव मधु है, उसका अनघ रूप पुण्यों का अखण्ड फल है। प्रेमी की रूपतल्लीनता उसे आत्मविभोर कर देती है। अन्य कवियों की भाँति कालिदास ने भी प्रकृति में नारीत्व का आरोप किया है। प्राकृतिक उपमानों से नारी की तुलना करते हुए वह रूपजन्य आनन्दातिरेक की व्यञ्जना भी करते हैं। आभरण पहने हुए उमा नक्षत्रमण्डित त्रियामा जैसी लगती हैं। रेशमी वस्त्र पहने हुए उमा "क्षीरोद वेलेव सफेनपुञ्जा" लगती हैं। नारी के प्रसाधनों में प्राकृतिक वस्तुओं का महत्त्व ही अधिक है। उमा को देखकर जब शिव पहली बार विचलित हुए थे, उस समय वह कर्णिकार और साधारण पल्लवों से शृङ्गार किये हुए थी। चन्द्रमा की किरणें देखकर शिव कहते हैं कि वे जौ के अङ्कुरों के समान हैं और उनसे उमा के लिए कर्णपूररचना हो सकती है। रोमाण्टिक शृङ्गार-भावना की यह चरम परिणति है।

अन्यत्र महाकवि ने तमाल के प्रवाल को अवतंस बनाकर सीता के 'यवाङ्कुरापाण्डुकपोल' को और भी सुन्दर बना दिया है। इस तरह के उपमान असाधारण रूप से सुन्दर तो हैं ही, उनसे कवि के सूक्ष्म इन्द्रियबोध का भी पता चलता है। रूप, स्पर्श और गन्ध का एक साथ सम्मिश्रण दाय 'प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य' में मिलता है। उनके लिए रूप मूर्ति की तरह प्राण-हीन न होकर स्पन्दनशील है। वह अपने उपमानों द्वारा मानों उसका सजीव स्पन्दन ही प्रकट कर देते हैं। अंग्रेज कवि कीट्स के सौन्दर्यबोध की उचित और यथेष्ट प्रशंसा की गई है। किन्तु कीट्स के लिए मूर्त रूप उस तरह जीवित और स्पन्दनशील नहीं है जैसे महाकवि कालि-दास के लिए। मनुष्य के विचार बदल जाते हैं, उसके भावजगत् में भी यथेष्ट परिवर्तन होते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध इनसे अधिक व्यापक होता है। इन्द्रियबोध के क्षेत्र में यह सदा सम्भव है कि सामाजिक विकास की दृष्टि से एक पिछड़ी हुई व्यवस्था का कवि शताब्दियों तक अपनी कोटि के रचनाकार के अभाव में अनामिका को सार्थक करता रहे। जौ के अङ्कुर कालिदास के प्रिय उपमान हैं। उनसे स्पर्श-मार्दव, नेत्र-सुखद रंग और जीवन-क्रिया तीनों ही अभिव्यंजित हैं। कालिदास के लिए सप्राण प्रकृति और चेतन मनुष्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उर्वशी शापवश लता हो जाती है और पुरूरवा जब उन्मत्त की-सी दशा में उसे भेंटता है, तो वह उर्वशी रूप में परिवर्तित हो जाती है। कालिदास का हृदय प्रकृति की जीवन-क्रिया से तन्मय हो जाता है। प्राकृतिक परिवेश में प्रेमीजन मिलते हैं, उनके प्रेम का सहज स्फुरण लता-विटपों के मिलन जैसा लगता है। शकुन्तला की प्रिय नवमालिका ने बालसहकार से स्वयंवर कर लिया है। जिस समय उमा ने शिव को किंचित्परिलुप्तधैर्य अपनी ओर निहारते देखा, उस समय स्फुरद् बाल-कदंब के समान अपने अंगों से भाव प्रकट किये। यह प्रेम जीवन की वह स्वाभाविक क्रिया है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ मनुष्य की संवेदना, भावना और विचार एक ही राग में झंकृत हो उठते हैं।

कालिदास के सौन्दर्यबोध का मूलाधार उनका जीवन-प्रेम है। यह जीवन मनुष्य, पशु और वनस्पति में सर्वत्र है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे विश्व में किसी अगोचर चेतना के दर्शन करते हैं। उनके लिए यह जीवन घोर गोचर है; वह इन्द्रियबोध से अभिन्न है, उससे परे नहीं। विलास और वैभव का यह कवि धरती के इतना निकट है जितना कोई भौतिकवादी कवि नहीं हुआ। उसे वर्षा के बाद धरती से उठने वाली सोंधी सुगन्ध अत्यन्त प्रिय है। गर्मी के अन्त में वर्षा होने पर हाथी बार-बार तालों की मिट्टी सूँघते हैं (रघु०, सर्ग ३); वर्षा के कारण धरती से जो वाष्प निकली उससे कन्दली की खिली हुई लाल कलियाँ विवाह के समय हवन का धुआँ लगने से सीता की लाल आँखों जैसी हो जाती हैं (उप०, सर्ग १२)। यक्ष के सखा मेघ के सहायकों में धरती से उठती हुई गन्ध सूँघने वाले हाथी भी हैं। देवगिरि की ओर जाते हुए मेघ को जो पवन थपकियाँ देगा, वह उसके निस्यन्द से उच्छ्वसित वसुधागन्ध-सम्पर्क रम्य है। मेघ यक्ष के हृदयोच्छ्वास के साथ वसुधा का गन्धोच्छ्वास भी लेकर अलका की ओर जाता है।

यह गन्धोच्छ्वास भारत की ही धरती का है। मेघदूत में भारत के ग्राम-नगरों और प्रकृति के प्रति अपूर्व अनुराग प्रकट किया गया है। इन्दुमती के स्वयंवर में राजाओं के परिचय के बहाने भारत के सभी भागों की प्रकृति का परिचय दिया गया है। कालिदास के मानववाद में देशभक्ति के बीज हैं।

जीवन का जो उभार प्रकृति में दिखाई देता है, वही मानवमात्र में यौवन बनकर झलकता है। जो पवन भरी बालों से झुके हुए धान के पौधों को हिलाता है, वही नवयुवकों के हृदय चंचल करता है (ऋतुसंहार, सर्ग ३)। पृथ्वी जैसे अपने गर्भ में बीज छिपाये रहती है, वैसे ही अग्निवर्ण की रानी अपने गर्भ में नया जीवन छिपाये रहती है। मानव और प्रकृति में जीवन-विकास की यह रहस्यमय क्रिया कालिदास को समान रूप से आकर्षित करती है। पाश्चात्य साहित्य में गर्भवती नारी को यह महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ जो उसे भारतीय साहित्य में प्राप्त है। प्रभात के शशिवाली शर्वरी के समान लोध्रपाण्डु मुखवाली सुदक्षिणा सुन्दर हैं। दशरथ की रानियाँ दानों से भरी हुई नाज की बालों के समान पीली पड़कर भी सुन्दर हैं। नाज की भरी बालों के उपमान में केवल रंग की ओर संकेत नहीं है, वरन् उस स्वाभाविक जीवन-क्रिया की ओर भी संकेत है, जो प्रकृति और मानव के लिए समान है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का सुख जीवन का ही सुख है। यह कालिदास की महत्ता है कि वह इस इन्द्रियबोध के साथ मूलतः जीवन के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं। वनस्पति-जगत् और पशुओं के प्रति जैसी सुकुमार सहानुभूति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चौथे अंक में प्रकट हुई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है और उसका कारण प्रकृतिव्यापी जीवन के प्रति असीम अनुराग है। वशिष्ठ के आश्रम में मृग उटजद्वार रोककर खड़े हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें भी ऋषियों की सन्तान की तरह नीवार में भाग मिलता है (रघु०, सर्ग १)। कालिदास को तपोवन अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि यहाँ सभी जीव वीतभय हो गए हैं (रघु०, सर्ग १४)। जिस हरिण पर दुष्यन्त बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच तपस्वी आकर खड़े हो जाते हैं। यही नहीं, जिस हरिण पर दशरथ बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच हरिणी आकर खड़ी हो जाती है। न केवल जीवन के स्पन्दन वरन् प्रेम के स्पन्दन से भी पशु-जगत् वंचित नहीं है। इसलिए जब शकुन्तला आश्रम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चलने लगती है, तब उसका पुत्रतुल्य पाला हुआ मृग आकर उसकी राह रोककर खड़ा हो जाता है। कालिदास की करुणा मानव ही नहीं, जीवमात्र को अपने अन्दर समेट लेती है। इस करुणा का स्रोत दया नहीं है; उसका स्रोत व्यापक जीवन के प्रति गम्भीर अनुराग है। पाश्चात्य रोमांटिक कवियों में रूप-रस-गन्धमय मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अतिशय अनुराग है और कभी-कभी उसके साथ अतीन्द्रिय, अगोचर विश्वव्यापी चेतना की उद्भावना भी है। कालिदास के लिए रूप-रस-गन्धमय सौन्दर्य निर्जीव नहीं है; न वह अतीन्द्रिय चेतना की ओर ही काल्पनिक उड़ान भरते हैं। वह सूक्ष्म इन्द्रियबोध और मार्मिक करुणा से समृद्ध जीवन के अद्वितीय कवि हैं। इस दृष्टि से उनकी रोमांटिक भावधारा एक अन्य और उच्च स्तर की है। गोचर जगत् के समृद्ध जीवन के प्रति यह सघन अनुराग अवश्य ही साहित्य का स्थायी तत्त्व है।

: ३ :

यहाँ कालिदास के जीवन-दर्शन का प्रश्न हमारे सामने आता है। सुबोध विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि "शिव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही कालिदास के दर्शन और साधना का ज्ञान है" (मेघदूत : एक अध्ययन)। उनका कहना है कि पार्वती सुषुम्ना नाड़ी का नाम है। मेरुदण्ड हिमालय है जिसके भीतर सुषुम्ना है। शिवजी ने मदन को भस्म किया, तदुपरान्त उमा की तपस्या से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा योग की साधना से शिव और पार्वती का विवाह हुआ, अर्थात् व्यक्ति की चिदात्मक शक्ति जो अधोमुखी थी वह अन्तर्मुखी होकर सहस्रदल में स्थित पर-बिन्दु शिव से संयुक्त हो जाती है, फिर विषयों से उसे कोई भय नहीं रहता।

यहाँ कई शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। पार्वती अर्थात् सुषुम्ना से विवाह होने के पहले ही 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग में शिवजी अक्षर ब्रह्म को अपनी आत्मा के अन्दर देख चुके हैं। इसलिए जहाँ तक शिव का सम्बन्ध है, उन्हें कुण्डलिनी जगाने की आवश्यकता नहीं है। यदि सुषुम्ना का कल्याण करना है तो शिवजी किंचित्परिलुप्तधैर्य होकर उनके (पार्वती के) बिम्बफलाधरोष्ठों को क्यों निहारने लगते हैं? और जब अपने विचलित होने का ज्ञान होता है तब 'स्त्री संनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्' सुषुम्ना का साथ छोड़कर अन्तर्धान होने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न होती है? काम को एक बार भस्म कर देने पर उसे फिर जिलाने की आवश्यकता क्या थी? जब विवाह पक्का हो गया, तब **'अद्रिसुता समागमोत्सुकः'** (पार्वती-परिणयोत्सुकः—मल्लिनाथ) शिव के लिए तीन दिन काटना भी कठिन हो गया। इस पर महाकवि कहते हैं कि इस तरह के भाव यदि शिव को स्पर्श करते हैं, तब अन्य जन 'अवश' (इन्द्रियपरतन्त्रम्—मल्लिनाथ) हो जाय तो आश्चर्य क्या? पार्वतीजी ने शिव को पाने के लिए तपस्या अवश्य की थी। शिवजी ने उन्हें अपनी शिष्या भी बना लिया, किन्तु वह योगाभ्यास में शिष्या न थीं वरन्

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम्॥

निधुवनोपदेशिनः का अर्थ है **'सुरतोपदेष्टुः'**। ऐसे गुरु से पार्वतीजी ने जो शिक्षा पाई थी वही **'युवतिनैपुणम्'** दक्षिणा के रूप में उन्हें अर्पित कर दी। हो सकता है, योग की बातें सुरत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

0 79579

शब्दावली में समझाई गई हों, किन्तु आगे चलकर कालिदास कहते हैं—

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।

इन्द्रियसुख के मार्ग के सेवन से मन्मथ अनुगृहीत हुआ। यदि इन्द्रियसुख का अर्थ अतीन्द्रिय आनन्द हो और मन्मथ का अर्थ सच्चिदानन्द ब्रह्म हो, तब तो डॉ० अग्रवाल की व्याख्या ठीक मानी जायगी, वर्ना कहना पड़ेगा कि ऐसी व्याख्या अरविन्दवादी कवियों के लिए तो उपयुक्त है, शैव कवि कालिदास के लिए नहीं।

029579

डॉ० अग्रवाल ने 'मेघदूत' के सम्बन्ध में नम्रता के साथ लिखा है, "यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उस ग्रन्थ का गम्भीर किन्तु प्रमोदपूर्ण पारायण आज तक कोई नहीं कर सका।" इसका कारण यह है—"काव्य में कान्ता-संमित उपदेश दिया जाता है। इसीलिए 'मेघदूत' के अध्यात्म ज्ञान का ऊपर से कुछ पता नहीं चलता।" कवि ने स्थान-स्थान पर जो स्कन्द, शिव और कैलास का उल्लेख किया है, "इन सब बातों में एक ही अध्यात्मभाव दृष्टिगोचर होता है, जिसके द्वारा काम का कल्मष दूर होगा और वह शिव का सान्निध्य प्राप्त कर अन्ततः अध्यात्म विधि में विपरिणमित हो जायगा।" ऐसा लगता है कि यक्ष ने अपना सन्देश अपनी "प्रिया के प्राणों को सहारा देने की इच्छा से" (डॉ० अग्रवाल की टीका) नहीं भेजा, वरन् कामरूप मेघ को अध्यात्मवाद सिखाने के लिए उसे 'कान्तासंमित' उपदेश दिया है। मेघ महाकाल के मन्दिर में पहुँचेगा। उस पवित्र धाम के उपवन को "कमलों के पराग से सुगन्धित एवं जलक्रीड़ा करती हुई युवतियों के स्नानीय द्रव्यों से सुरभित गन्धवती की हवाएँ झकोर रही होंगी।" इन हवाओं से अपना तन-मन शुद्ध करके जब वह सन्ध्याकालीन आरती के समय धीर-गम्भीर गर्जन करेगा, तब उसे अपनी इस भक्ति का पूरा फल मिलेगा। वह इस प्रकार-"वहाँ प्रदोषनृत्य के समय पैरों की ठुमकन से जिनकी कटिकिंकिणी बज उठती हैं और रत्नों की चमक से झिलमिल मूठों वाली चौरियाँ डुलाने से जिनके हाथ थक जाते हैं, ऐसी वेश्याओं के ऊपर जब तुम सावन के बुन्दाकड़े (वर्षाग्रबिंदून्) बरसाकर उनके नखक्षतों को सुख दोगे, तब वे भी भौंरों-सी चंचल पुतलियों से तुम्हारे ऊपर अपने लम्बे चितवन चलाएँगी।" (डॉ० अग्रवाल की टीका) यह फल पाकर वह रात में प्रियतम से मिलने जाती हुई अभिसारिकाओं के लिए बिजली से प्रकाश कर देगा। महाकाल के दर्शन कराने के बाद ही यक्ष मेघ को यह परमज्ञान का तत्त्व बतलाता है—

ज्ञात स्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।

अलका में कुबेर के मित्र शिव को बसता जानकर काम अपना धनुष चढ़ाने से डरता है, लेकिन "कामी जनों को जीतने का उसका मनोरथ तो नागरी स्त्रियों की लीलाओं से ही पूरा हो जाता है, जब वे भौंहें तिरछी करके अपने कटाक्ष छोड़ती हैं तो कामीजनों में अचूक निशाने पर बैठते हैं।" इस प्रकार शिवसान्निध्य से मदन-व्यापार में ज़रा भी बाधा नहीं पड़ती। अन्त में काम-कल्मष धुल जाने पर मेघ के लिए यक्ष जिस अध्यात्मविधि में विपरिणमित होने की कल्पना करता है, वह 'मेघदूत' की अन्तिम पंक्ति यह है—

माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।

"हे जलधर, तुम्हें अपनी प्रियतमा विद्युत् से क्षण-भर के लिए भी मेरे जैसा वियोग न सहना पड़े।" प्रिया से सुखद संयोग की अवस्था ब्रह्मानन्द तुल्य हो सकती है, किन्तु साक्षात् ब्रह्मानन्द नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास अद्वैत सत्ता में विश्वास करते हैं, किन्तु यह सत्ता गोचर संसार का तिरस्कार नहीं करती। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के आरम्भ में कालिदास ने जिन शिव की वन्दना की है वह जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश आदि आठ प्रत्यक्ष रूपों में सभी को दिखाई देते हैं। इसलिए वह विशुद्ध अप्रत्यक्ष सत्ता नहीं है।

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु॥ (कुमार०, सर्ग २)

वह द्रव भी हैं, संघात कठिन भी (अशिव उपलाकार मंगल द्रवित जल नीहार—निराला); वह स्थूल भी हैं, सूक्ष्म भी; वह व्यक्त भी हैं, अव्यक्त भी। कालिदास के लिए प्रकृति और पुरुष की सम्मिलित इकाई है—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थ प्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वमेव पुरुषं विदुः॥ (उप०)

शिव भोज्य और भोक्ता दोनों हैं, इसलिए महाकवि वर्तमान युग के अनेक अद्वैतवादियों की तरह जड़-चेतन के द्वैत से पीड़ित नहीं हैं। आधुनिक कवियों में उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सच्चे उत्तराधिकारी आनन्दवादी जयशंकरप्रसाद थे, जिन्होंने लिखा था—"एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन। 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग में कवि ने शिव को विश्वमूर्ति कहा है और मल्लिनाथ ने **'विश्वं मूर्तिर्यस्य'** कहकर उसकी व्याख्या की है। यह विश्व ही शिव की मूर्ति है" (चिति का विराट् वपु मंगल—प्रसाद)।

कालिदास का यह दार्शनिक दृष्टिकोण साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। वह विश्व को शिवरूप मानते हैं, इसलिए उनकी सहानुभूति का क्षेत्र व्यापक है। वह मानवजीवन को क्षणभंगुर और संसार को नाशवान् कहकर वैराग्य का उपदेश नहीं देते। अनेक राजाओं को बुढ़ापे में वैरागी बनाकर उन्होंने एक रूढ़ि का अनुसरण-मात्र किया है। शिव-साधना गृहस्थ-धर्म में भी सम्भव है। वह रहस्यवादियों की तरह परोक्ष सत्ता के गीत नहीं गाते; वह प्रकृति और मानव का प्राण-स्पन्दन सुनते हैं और इस जीवन को अपनी कला का आधार बनाते हैं। इस अद्वैतवाद के कारण वह पौराणिक गाथाओं का काव्योचित उपयोग करते हैं और पुराणवादियों की तरह सैकड़ों देवताओं में अन्धविश्वास उत्पन्न नहीं करते। उनके लिए गंगा भी **'शम्भोरम्भोमयी मूर्तिः'** (शम्भु की ही जलमयी मूर्ति) हैं और ब्रह्मा-विष्णु-महेश—**'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा'**—एक ही मूर्ति के तीन भेद हैं। इस कारण वह धार्मिक आग्रहों से मुक्त पूर्ण कवि हैं।

अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण कालिदास ने पौराणिक गाथाओं की रूढ़ियों से बचते हुए साधारणतः उनका कलात्मक उपयोग किया है। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, देवता, अप्सराएँ आदि उनके काव्य का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे यूनान की देवगाथाएँ वहाँ के प्राचीन काव्य का अंग थीं। इसके साथ ही उन्होंने अशोक और बकुल के फूलने आदि की किंवदंतियों का भी कलात्मक उपयोग किया है। सुन्दरियाँ मदिरा की कुल्ली करती थीं तो बकुल फूल उठते थे। जहाँ शिव तप कर रहे थे, वहां काम के आने पर सुन्दरियों के नूपुरसज्जित चरणों की अपेक्षा किये बिना ही अशोक खिल उठा। इसी तरह सुन्दरी के मुख को कमल समझकर भौंरा उसके पास आयेगा ही (चाहे वह मुख पार्वती का हो चाहे शकुन्तला का), यह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास के सौन्दर्यशास्त्र का एक सूत्र है। प्रचलित विश्वासों के अतिरिक्त कालिदास प्रकृति में मानवत्व का आरोप करके स्वयं नई रोचक गाथाएँ (myth) गढ़ लेते हैं। 'मेघदूत' इसका श्रेष्ठ निदर्शन है। कालिदास का युग उस काल के बहुत बाद का है, जब मनुष्य ने सत्य मानकर प्रकृति-सम्बन्धी अनेक चित्रमय उद्भावनाएँ की थीं। कालिदास रोमांटिक इसीलिए हैं कि वह उस बीते युग का स्वप्न देखते हैं। स्वयं उनके युग के अनुकूल महाकवि में एक तीक्ष्ण बौद्धिकता के दर्शन भी होते हैं। जिस चन्द्रमा का कलङ्क देखकर अनेक कवियों ने कल्पना-चमत्कार दिखलाया था, उसके बारे में कालिदास को ज्ञान है कि चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ती है। छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे निरूपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः (रघु०, सर्ग १४)। बाल चन्द्रमा जब बड़ा होता है, तब वह सूर्य का तेज पाकर ही बड़ा होता है : पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः (उप०, सर्ग ३)। इस प्रकार बौद्धिकता के कारण कालिदास की लोकोत्तर कल्पना के साथ यथार्थवादी प्रवृत्ति का मिश्रण हो गया है। सेंधा नमक चाटते हुए घोड़े (रघु०, सर्ग ५), शुष्क कर्दम वाले सिर को खोदते हुए सूर्य की किरणों से व्यथित वराहयूथ (ऋतुसंहार, सर्ग १), मुँह से लार और फेन निकालते हुए तृषाकुल महिषीकुल (उप०), वर्षा का पहला गँदला पानी जो कीटरजस्तृणान्वित है (उप०, सर्ग २), सभी औषधियों को व्यर्थ करने वाला सन्निपात (कुमार०, सर्ग २)–ये सब भी 'कुमारसंभव' में हैं।

कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें संसार की विभिन्न वस्तुओं का साम्य देखने के लिए वह सहज क्षमता विद्यमान है जिसके बिना कोई कवि नहीं हो सकता। उनके अधिकांश उपमान उनके सूक्ष्म इन्द्रियबोध और सौन्दर्यग्राहिका वृत्ति के परिचायक हैं। जहाँ-तहाँ उन्होंने बड़े साहस के साथ मौलिक उपमानों का प्रयोग किया है। अज के शोक के बारे में लिखा है—

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद। (रघु०, सर्ग ८)

जैसे प्लक्षप्ररोह सौधतल भेदकर नीचे निकल जाते हैं, वैसे ही शोक ने अज के हृदय को बेध दिया था। अज की विजय से प्रसन्न इन्दुमती के मुख के लिए लिखा है कि निश्वासवाष्प के दूर होने से जैसे दर्पण चमकने लगता है वैसे ही उसका मुख प्रसन्न हुआ। स्नान की हुई पार्वती ऐसी लगती हैं जैसे पर्जन्य जल से अभिषिक्त प्रफुल्लकाशा वसुधा हो। उनके अधिकांश उपमान प्रकृति से लिये गए हैं जिससे यही परिणाम निकलता है कि नगर से अधिक उन्हें प्रकृति ही प्रिय है।

कालिदास का काव्योत्कर्ष उपमाओं तक सीमित नहीं है। उनकी कला का शृङ्गार उनकी सुकुमार संवेदनाएँ हैं। ये संवेदनाएँ वस्तुओं का रूप ही ग्रहण नहीं करतीं, वरन् उनके जीवन का स्पन्दन भी सुनती हैं। उनकी सहानुभूति जगह-जगह सामन्त-व्यवस्था और सामन्त काव्य-परम्परा की रूढ़ियों का खण्डन करती चलती है। नारी का सम्मान करने में वह वाल्मीकि की परम्परा का अनुसरण करते हैं। दुष्यन्त के पास गर्भवती शकुन्तला को छोड़कर जाते हुए शारद्वत का कहना है कि पति की प्रभुता सर्वतोमुखी है; वह चाहे पत्नी को छोड़े चाहे ग्रहण करे और शार्ङ्गरव उसे पति के घर में दासी बनकर रहने की सलाह देते हैं। शकुन्तला क्रोध से दुष्यन्त को फटकारती है—"अनार्य, दूसरों को अपने जैसा समझते हो। तृणों से ढके हुए कुएँ की तरह कौन तुम्हारे सिवा धर्म का ढोंग करेगा?" और भी, "तुमने मुझे स्वच्छन्दचारिणी बना डाला, सो ठीक किया। मैं पुरवंश का विश्वास करके तुम जैसे व्यक्ति के हाथ पड़ गई,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके मुँह में मधु है और हृदय में विष है।" यही कालिदास ने महाभारत की रोष-भरी शकुन्तला की ही थोड़ी-सी झाँकी दी है।

गर्भवती सीता को जब लक्ष्मण वन में छोड़कर चलना चाहते हैं तब वह राम को राजा रूप में स्मरण करती हैं—"वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा।" इससे बड़ी फटकार राम के लिए और क्या हो सकती थी? यह स्वाभाविक था कि रोती हुई सीता को ढाढ़स बँधाने वही महाकवि आते जिन्होंने विलाप करते हुए क्रौञ्च पक्षी को देखकर पहला श्लोक रचा था। "शोकः श्लोकत्वमागतः" को स्मरण करते हुए कालिदास ने यह अनुपम छन्द लिखा है—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यतः।
निषाद विद्धाऽण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं"—वाल्मीकि के लिए यह उक्ति नहीं है। किसी संचित पुण्यफल की भाँति सौन्दर्यवादी के हृदय में आदि कवि के लिए श्रद्धा बची हुई है, मानो वाल्मीकि से होड़ करते हुए कालिदास ने उनसे कहलाया है—

उत्खात लोकत्रय कण्टकेऽपि सत्य प्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे॥

राम ने तीनों लोकों के कण्टक रावण का नाश किया; वह सत्य-प्रतिज्ञ हैं और आत्मप्रशंसा भी नहीं करते। फिर भी तुम्हारे प्रति अकारण निन्दा-व्यापार में प्रवृत्त होने वाले राम पर मैं क्रोध करता हूँ।

वाल्मीकि ही राम पर क्रोध कर सकते थे और कालिदास ही उसके बारे में यों लिख भी सकते थे।

वनवास ही नहीं, उससे पहले भी कालिदास की भक्ति राम से अधिक सीता में है। लंका से लौटने पर माताएँ आशीर्वाद देती हैं:

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या॥

उन्होंने सीता से उठने को कहा और बोलीं—निश्चय ही भाई के साथ यह भर्ता तुम्हारे ही शुद्ध व्रत के कारण भारी संकट से पार हुए हैं। इस पर कालिदास की टिप्पणी है कि यह बात प्रिय भी थी और सत्य भी!

नारी-सौन्दर्य के प्रशंसक कालिदास मातृत्व की वन्दना करते हैं। पार्वती को पाकर मेना और भी शोभित हुईं। जब पार्वती ने अपने पुत्र को गोद में लिया तब वात्सल्य रस की अतिशयता से उनके स्तनों से दूध बह चला। अनेक स्थलों पर महाकवि ने सन्तान के प्रति इस ममत्व की अभिव्यञ्जना की है। इस प्रकार सौन्दर्यवादी कवि मानवता की उच्चभूमि तक पहुँचते हैं। इस भूमि में प्रवाहित उनकी करुणा साहित्य का स्थायी तत्त्व है।

साहित्य किन्हीं विशेष सामाजिक परिस्थितियों में ही रचा जाता है। इन परिस्थितियों की छाप उस पर पड़ती ही है। किन्तु साहित्य किसी समाज-व्यवस्था का यान्त्रिक प्रतिबिम्ब नहीं है। सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य रचने के उपकरण प्रस्तुत करती हैं, लेकिन इन वस्तुगत परिस्थितियों के साथ साहित्यकार का आत्मगत प्रयास भी आवश्यक होता है। यह बिलकुल सम्भव है कि उपकरण श्रेष्ठ हों किन्तु उनका समुचित उपयोग करने वाले का अभाव रहे। एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

ही समाज और एक ही वर्ग के व्यक्तियों की मेधा, सहृदयता, जीवन-दर्शन की क्षमता में भेद होता है। यह भेद बहुत-कुछ साहित्य का उत्कर्ष निश्चित करता है। अपने युग को प्रतिबिम्बित करने में कालिदास निष्क्रिय नहीं हैं। उनकी अपनी मेधा, सहृदयता, जीवन-दर्शन की क्षमता अपना पूर्ण चमत्कार दिखलाती है। इसी कारण उस युग का और उस समाज-व्यवस्था का कोई भी कवि कालिदास को नहीं पाता। वाल्मीकि और व्यास ही इसके अपवाद हैं। उनकी तुलना में कालिदास का काव्यजगत् संकुचित है। वह उदात्त चरित्र-निर्माण में अक्षम हैं। यद्यपि इन्होंने नाटक रचे हैं, फिर भी उनकी प्रतिभा मुख्यतः एक सौन्दर्योपासक 'लिरिक' कवि की है। मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण चित्रण बिना कोई भी व्यास और वाल्मीकि की बराबरी नहीं कर सकता। मनुष्य का अपना अनुभव जितना समृद्ध होता है, उतना ही समृद्ध वह साहित्य भी चाहता है। कालिदास की रोमाण्टिक कल्पना, उनका सूक्ष्म सौन्दर्यदर्शन हमारे लिए काफी नहीं है। तुलसीदास ने मध्यकालीन समाज के साधारणजनों की जिस व्यथा को पहचाना है और उसे वाणी दी है, उससे कालिदास स्वभावतः अपरिचित थे। महाभारत और रामायण में मनुष्य की विजय में जो उद्दाम आशा प्रकट की गई है, करुणा के साथ अन्यायी को दे देने के लिए जो संघर्ष-प्रियता व्यञ्जित हुई है, शृङ्गार के अतिरिक्त मनुष्य के भावजगत् का जो विविध और गम्भीर चित्रण हुआ है, वह कालिदास के लिए सुलभ नहीं है।

वह एक युग-विशेष के कवि हैं और उसकी अनेक विशेषताएँ आज हमें प्रिय नहीं हैं। नर-नारी के यौन-सम्बन्धों के वर्णन में उनकी रुचि बहुत जगह हमें कुरुचि मालूम होती है। वैसे तो यह मानव का (और पशुओं का भी) सार्वजनीन व्यापार है जो सनातन काल से अभी तक तो चलता ही आया है (आगे आणविक शक्ति के प्रकोप से मनुष्य उसके अयोग्य हो जाय, यह दूसरी बात है) किन्तु साहित्य का उत्कर्ष सार्वजनीन व्यापार के वर्णन से ही सम्भव नहीं होता। अपने सामाजिक विकास-क्रम में मनुष्य की साहित्यिक रुचि का भी परिष्कार होता चलता है। यह क्रम सामाजिक विकास से सम्भव होता है, किन्तु उसका सीधा परिणाम नहीं है। इसलिए नहीं है कि मनुष्य का इन्द्रियबोध उसे अपने जीवन के साथ मिला है, उसके आर्थिक सम्बन्धों की भित्ति पर उसकी रचना नहीं हुई। उसका भावजगत् भी आर्थिक सम्बन्धों के बदलने के साथ तुरन्त और पूर्ण रूप से नहीं बदल जाता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के भावों का सम्बन्ध प्रकृति से है, परिवार के लोगों से है, गाँव और नगर के मित्रों आदि से है। परिवार के सम्बन्ध बहुत-कुछ आर्थिक विकास से निश्चित होते हैं, किन्तु वे उसका प्रतिबिम्ब नहीं हैं। सौन्दर्येच्छा, यौन-प्रेम, सन्तान के प्रति स्नेह पशुओं में भी मिलता है; मानव-समाज में वह सब विकसित होता है, कभी-कभी ह्रास की दिशा में भी चलता है जिससे मनुष्य पशुओं से नीचे गिर जाता है।

कालिदास के समय की अनेक धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक रूढ़ियाँ अब निरर्थक हो गई हैं। उन पर आधारित काव्यांश भी निर्जीव हो गया है। भोगवाद के लिए कवि का आग्रह सार्वजनीन होते हुए भी अनेक स्थलों पर अपरिष्कृत लगता है। यह सब होने पर भी वह महाकवि के रूप में उचित ही प्रतिष्ठित हैं। उनकी सौन्दर्यवृत्ति कण्व के तपोवन, शिव के कैलास और यक्ष की अलका से ही सन्तुष्ट होती है। उद्यानलताओं के बदले वह वनलताओं के सौन्दर्य पर अपने को उत्सर्ग कर देते हैं। वह रूप-रस-गन्ध-स्पर्शमय प्रकृति और मानव के

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समृद्ध जीवन के गायक हैं। प्रकृति और प्राणिमात्र के जीवन-स्पन्दन साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। उमा का सौन्दर्य, वाल्मीकि का सात्विक क्रोध, इन्दुमती के लिए अज का शोक, भारत की धरती से कवि का प्रेम—ये सभी साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। इन्हें कवियों ने तुरन्त नहीं पा लिया; इन्हें पाने के लिए उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का लम्बा मार्ग तय करना पड़ा था। कालिदास ने उन मानव-मूल्यों को सहेजा और अनेक दिशाओं में उन्हें अधिक विकसित किया।

कालिदास के भोगवाद को रीतिकालीन कवियों ने अपनाया, किन्तु वे उसकी छाया ही छू सके। कालिदास के सूक्ष्म सौन्दर्यबोध को आज तक कोई नहीं पा सका। किन्तु साहित्य के मूल्यवान तत्त्व समाज-निरपेक्ष नहीं हैं। हम उन्हें अपने सामाजिक विकास-क्रम में ही पाते हैं। आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों के अनुरूप मनुष्य के बहुत से विचार बदल जाते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध और भावजगत् परिवर्तनशील होते हुए भी आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों की प्रतिच्छवि नहीं हैं। राजा-प्रजा के सम्बन्ध में, धार्मिक कर्मकाण्ड और वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में कालिदास के भाव और विचार साधारणतः हमें आकृष्ट नहीं करते। किन्तु उनकी यह कल्पना कि राज्य में कोई बन्दी नहीं है, राजा के निर्लोभी होने से प्रजा अर्थवान होती है, उनके भावुक हृदय का परिचय देती है और उसमें बाद को आने वाले कवियों के लोक-प्रेम के बीज हम देखते हैं। नारी के प्रति उनकी सम्मान-भावना, मातृत्व का आदर, जीवमात्र से सहानुभूति, इस देश की प्रकृति से अगाध स्नेह, अपनी समग्र चेतना से व्यापक विश्व-जीवन का स्पन्दन सुनने की शक्ति उनकी आत्मविभोर गेयता, भाषा पर असाधारण अधिकार और उनकी चरित्रगत नम्रता जो उनकी कला के पीछे छिपी हुई है—ये सभी बातें आज भी अभिनन्दनय हैं, अनुकरणीय भी। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ पर कालिदास का गहरा प्रभाव है और 'तुलसीदास' लिखते समय निराला महाकवि के अध्ययन में डूबे हुए थे।

कालिदास के काव्य-साहित्य के ये सब तत्त्व स्थायी ही नहीं हैं, वे आधुनिक भारतीय साहित्य में अन्तर्धारा की भाँति प्रवाहित भी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामरतन भटनागर

प्रतीकवाद

: १ :

प्रतीकवादी आन्दोलन को हम एक प्रकार से स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का विकास ही कह सकते हैं, यद्यपि दोनों में असमानताएँ कम नहीं हैं। दोनों धाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध को देखने के लिए हमें उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाना होगा।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हमें इंगलैंड में एक नई धारा का स्पन्दन सुनाई पड़ने लगता है, जो काव्य के आगस्टन चिन्तन को एक बार झकझोर देता है। यही स्पन्दन बाद में भाव और विचार के उन विप्लवी स्रोतों का रूप ले लेता है, जिन्हें सामूहिक रूप से 'रोमाण्टिक धारा' या 'स्वच्छन्दतावाद' कह दिया गया है। इस आन्दोलन की कई विशेषताएँ थीं। इसने रूढ़ि, परम्परा और श्रद्धा के स्थान पर अनास्था को महत्त्व दिया और काव्य-रुचि की सापेक्षिकता की घोषणा की। कविता स्वयं अपना मानदण्ड है। उसके बाहर किसी भी दूसरे मानदण्ड को हमें नहीं ढूँढ़ना है, यह दृष्टिकोण रखा गया। कल्पना की उन्मुक्ति इस आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में उसे सत्य से भी ऊँचा सिंहासन दे दिया गया। कीट्स के शब्दों में 'वाट द इमेजिनेशन सीजेज एज ब्यूटी मस्ट बी ट्रुथ'। कल्पना में जो सुन्दर लगे वह निश्चय ही सत्य है। पिछले युग में तर्क को सर्वोपरि माना गया था, नये युग में कल्पना को वही स्थान मिला। प्लेटो ने काव्य को 'अनुकृति' माना था और आगस्टन काव्य में इसी धारणा की प्रधानता थी। परन्तु रोमाण्टिकों का कहना था कि मानव-मन प्रकृति का दर्पण नहीं है, वह बहिर्सत्य को प्रतिबिम्बित नहीं करता, वह नये-नये संसारों का निर्माण करता है। कवि वस्तु-जगत् के आधार पर जिस कल्पना-जगत् का निर्माण करता है, उसके अपने नियम हैं। कल्पना को एक अत्यन्त चमत्कारी आश्लेषक शक्ति माना गया और कल्पना एवं जल्पना में अन्तर स्थापित किया गया। कल्पना अधिक गहरी और संयुक्त वस्तु है। इस प्रकार काव्य-प्रक्रिया में कल्पना-शक्ति को महत्त्व प्राप्त हुआ, क्योंकि उसी द्वारा कवि की विभिन्न प्रवृत्तियों और कर्तृत्वों में सन्तुलन स्थापित होता है। कॉलरिज ने काव्य-प्रक्रिया में कल्पना के महत्त्व को इस प्रकार स्थापित किया है : "This power, first put into action by the will and understanding, and retained under their irremissive, though gentle and unnoticed, control, reveals itself in the balance or reconcilement of opposite or discordant qualities : of sameness, with difference; of the general with the concrete; the idea with the image; the individual with the representative; the sense of novelty and freshness with old and familiar objects; a more than usual state of emotion with more than usual order; judgement

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ever awake and steady self-possession with enthusiasm and feeling profound or vehement.[1] मन की स्वतन्त्र प्रकृति के रूप में तर्क या बुद्धि का काव्य-प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं था। कल्पना के सीधे सम्पर्क से कवि जिस सत्य को उद्घाटित करता है, या कवि-कर्म द्वारा शब्दों में जिस प्रकार उस अनुभूत सत्य को बाँधता है, उसे तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। वास्तव में कॉलरिज की यह परिभाषा आदर्श स्थिति की सूचक है। अधिकांश कवियों ने कल्पना के सभी तत्त्वों का उपयोग नहीं किया है। अतिभावुकता, अनुभूति की आत्यन्तिकता, भावोन्माद, अनियन्त्रित असंयम—यही तत्त्व अधिक लोकप्रिय हैं। स्वच्छंदतावादी जीवन-दर्शन और कला का मूल मन्त्र है, भावोन्मेष। जिस स्वच्छंदता और असंयम को लेकर कवि आगे बढ़े, वही इस काव्यधारा की शक्ति और दुर्बलता बन गए। स्वच्छन्दतावादी कवियों की कल्पना अप्रतिहत गति से समस्त विश्व पर छा गई और उसने जीवन के उपेक्षित और दुर्गम स्तरों में भी सौन्दर्यान्वेषण में सिद्धि प्राप्त कर ली। जहाँ भी उसे सौन्दर्य के दर्शन हुए, वहीं उसने अपरिसीम आनन्द और उल्लास का अनुभव किया। वास्तव में शताब्दियों से विश्व के वस्तु-जागतिक सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म और भावोन्मेषपूर्ण संकलन नहीं हुआ था। सौन्दर्य ही नहीं, विभ्रम और भय के प्रति भी रोमांटिक कवियों का आकर्षण था। स्वच्छंदतावादी कल्पना सुदूरवर्ती, अद्भुत और असाधारण में रम गई। करुण, भयानक, अद्भुत, सभी रसों में उसने सौन्दर्य के दर्शन किये, यद्यपि शृंगार के प्रति वह सबसे अधिक संवेदित थी।

स्वच्छन्दतावादी काव्य का कल्पना-जगत् वस्तु-जगत् से इसलिए भिन्न है कि उसमें आत्यन्तिकता और असाधारणता के तत्त्वों की प्रधानता है। कभी-कभी स्वच्छन्दतावादी कवि और पाठक जीवन की विषमता तथा कटुता से भागकर इस शीतलच्छाय प्रमोद-वन में विहार करने लगा है और कदाचित् इसीलिए रोमाण्टिकों पर 'पलायन' का आरोप लगाया जाता है। परन्तु महत्तम स्वच्छन्दतावादी कवियों ने जीवन को भ्रामक न बनाकर उसे अप्रतिम सौन्दर्य से मंडित किया है और एक नई ही परिभाषा सामने रखी है।

कवि-स्वातन्त्र्य के स्वच्छन्दतावादी सिद्धान्त ने छन्दों के क्षेत्र में भी प्रयोग किया, क्योंकि स्वच्छन्दतावादी भावनाओं और परम्पराओं को परम्परागत रूढ़ छन्दों में ढालना असम्भव बात थी। फलतः काव्यभाषा और छन्दों के सम्बन्ध में समस्त प्रतिबन्ध अमान्य हुए और कवियों ने इन क्षेत्रों में नई-नई उद्भावनाएँ आरम्भ कीं। भाषा-शैली के क्षेत्र में दो दृष्टिकोण हमारे सामने आरम्भ में ही आते हैं। एक दृष्टिकोण वर्डस्वर्थ का सरल बोलचाल की भाषा का था। वर्डस्वर्थ के अनुसार गद्य-पद्य की भाषा में अन्तर नहीं होना चाहिए। उनका कहना था कि छन्द आरोपित वस्तु है, कविता की मूलभूत आवश्यकता नहीं है। परन्तु कॉलरिज का विश्वास था कि काव्य-कृति में भावना और धारणा, तात्कालिक स्फूर्ति और बोधमय लक्ष्य के ताने-बाने अनिवार्य रूप से बुने होते हैं और इसीलिए कवि की विशिष्ट और असाधारण भाषा-शैली तथा चुने हुए छन्दों का उपयोग करना होता है। अन्य रोमाण्टिक कवियों को कॉलरिज का पक्ष ही ग्रहीत हुआ।

रोमाण्टिक काव्यधारा की कुछ त्रुटियाँ भी क्रमशः स्पष्ट होने लगीं। उनमें से कुछ ये हैं—

(१) चेतन लक्ष्य की अपेक्षा भावानुभूति को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(२) कवि बुद्धि या तर्क को काव्य-प्रक्रिया में स्थान देने को तैयार नहीं है। उसका कहना

१. S. T. Coleridge : Biographia Literaria, Pt. I, P. 200.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि इससे कवि की सहज काव्य-स्फूर्ति नष्ट हो जायगी। फलतः उस अनुभूति की अभिव्यक्ति की मार्मिकता में भी कमी हो जायगी।

(३) रोमाण्टिक काव्य में कलाकारिता को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है।

(४) रोमाण्टिक काव्य में वह वस्तु नहीं है जिसे क्लासिकल परिभाषा में 'डिस्पोज़ीशन' या आकृति-सौन्दर्य कहते हैं।[1]

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की विशेषताएँ हैं कवि-स्वातन्त्र्य, प्राचुर्य, कल्पना, बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता पर बल, कला-जागरूकता और विन्यास का अभाव। ये तत्त्व हमें विभिन्न कवियों में भिन्न-भिन्न रूप में मिलते हैं। भिन्न-भिन्न कवियों ने कवि-स्वातन्त्र्य और कल्पना से विविध बोध ग्रहण किए हैं और इस विभिन्नता के कारण विभिन्न कवियों के काव्य और कलागत दृष्टिकोण में धरती-आकाश का अन्तर है। वास्तव में रोमांटिक धारा को हम एक अत्यन्त विस्तीर्ण अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं।

यूरोपीय काव्य में रोमाण्टिक धारा का सर्वोन्मेष हमें अंग्रेजी काव्य में मिलता है। फ्रांसीसी रोमाण्टिक कवि अपेक्षाकृत असफल रहे हैं। अंग्रेजी कवियों में प्रमुख हैं ब्लेक, वर्डस्वर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स और बायरन। फ्रांसीसी रोमाण्टिक कवियों में सबसे अधिक महत्ता लामार्तीन, शेतूब्रियाँ, विक्टर ह्यूगो, जेरार्द द नर्वल, अल्फ्रेड द मुसे और विग्ने की है। ऐन्द्रे जीद ने इन कवियों में ह्यूगो को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। वास्तव में फ्रांसीसी रोमांटिक कवि रोमांटिक काव्य के किसी एक या अधिक तत्त्वों में सीमित हो गए। रोमाण्टिक धारा का जैसा विविध और सम्पूर्ण विकास हमें अंग्रेजी रोमाण्टिकों में मिलता है, वैसा हमें फ्रांस रोमाण्टिक कवियों में नहीं मिलता।

रोमाण्टिक काव्य-सिद्धान्तों का सबसे विशुद्ध रूप हमें ब्लेक के सिद्धान्तों में मिलता है। ब्लेक के काव्य-सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन के ही अंग हैं। ब्लेक के अनुसार कल्पना एक रहस्यमयी प्रवृत्ति है जिससे कवि वास्तविक और शाश्वत जगत् से, जिसकी यह दृश्यमान जगत् प्रतिच्छाया-मात्र है, परिचित होता है। कल्पना द्वारा कवि आत्मा जीवन में प्रवेश करता है, जो 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' है और इसी पृथ्वी पर, इसी जीवन में, जिसकी अनुभूति सम्भव है। प्रातिभ ज्ञान द्वारा इस आत्मा के जीवन से हमें जो प्राप्त होता है तर्क और इन्द्रिय-बोध को अधिक महत्त्व देकर हम उससे वंचित रह जाते हैं। विशुद्ध अनुभूति द्वारा मनुष्य प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित शाश्वत और अनन्त का आभास प्राप्त करता है। मनुष्य इन्द्रिय-ज्ञान और तर्क द्वारा एक बन्दीगृह का निर्माण कर लेता है। कल्पना द्वारा ही वह बन्दीगृह से बाहर झाँककर शाश्वत जीवन की झाँकी पा सकता है। ब्लेक की मान्यता है कि कल्पना में ही मनुष्य की सभी आत्मिक प्रवृत्तियों, जैसे प्रेम, आस्था, साहस, शक्ति, आकांक्षा आदि,

१. We are not surprised if study & imitation go to the winds, since "Knowledge of ideal beauty", in Blake's Phrase, "is not to be acquired; it is born in us."; Yet the fundamental discipline exerted by the poet on his own imagining that sense of structure & proportion which enhances the beauty of a work & makes it appeal as "whole & not only in fragments" —'disposition' in this sense, whether attained by study or by innate power, is too often rejected by the Romantics, to their great loss. (Jean Stewart : 'Poetry in France & England', P. 107)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निवास है। तर्क और कल्पना का विरोध है। तर्क और बुद्धि मानव की आत्मिक प्रगति को कुण्ठित कर देते हैं। कला द्वारा मनुष्य उस अनन्त से संस्पर्शित होता है और इसलिए कला शाश्वत जीवन की अभिव्यक्ति है। ब्लेक कला के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि इससे मनुष्य की आत्मा कुण्ठित हो जाती है। फलतः कवि के लिए छन्दों के बन्धन को तोड़ना अनिवार्य बात है। काव्य में मानव-मन की सम्पूर्ण और अबाध अभिव्यक्ति है, यह ब्लेक की मान्यताओं का मूलाधार है। प्रातिभ ज्ञान या प्रत्यक्षानुभूति द्वारा ही कवि और पाठक सौन्दर्य तथा परीक्षा से साक्षात्कार करते हैं और काव्य के विशुद्ध, आत्यन्तिक और चिरनवीन रहस्यानुभवों में प्रविष्ट होते हैं। इन मान्यताओं में हम स्वच्छन्दतावाद और कवि के व्यक्तित्व की सबसे व्यापक तथा सबसे अधिक उन्मुक्त स्थिति पाते हैं।

वर्ड्स्वर्थ के लिए भी कल्पना उतनी ही रहस्यमयी है जितनी ब्लेक के लिए। इसी कल्पना द्वारा वह सामान्य फूल में सम्पूर्ण जीवन को आत्मसात् करके देख लेता है, परन्तु वर्ड्स्वर्थ की कल्पना उसे जीवन के स्थूल और ताथ्यिक संस्पर्श से अलग नहीं करती। उसकी अनन्त और शाश्वत जीवनानुभूति जीवन के दैनंदिन अनुभवों और प्रकृति के सर्वसुलभ स्पन्दनों पर ही आधारित है। रोमाण्टिक काव्य का भावातिरेक, कल्पना-प्राचुर्य और कलात्मक आत्यंन्तिकता वर्ड्स्वर्थ के काव्य के तत्त्व नहीं हैं। उसमें अनुभूति की तीव्रता और आत्यन्तिकता हमें नहीं मिलती। वर्ड्स्वर्थ ने कविता को प्रशान्त क्षणों में पुनर्जाग्रत रसात्मक अनुभूति माना है। इससे उसके काव्य में हमें गम्भीरता और संयम की तो पराकाष्ठा मिलती है, परन्तु बहा देने वाला भावोद्रेक और रोमाण्टिक उच्छ्वास उसकी विशेषता नहीं है। सरल अभिव्यञ्जना-शैली ने उसके काव्य को सर्वग्राह्य और मार्मिक बना दिया है। फिर भी वर्ड्स्वर्थ में वैयक्तिकता की पराकाष्ठा है और विशुद्ध, ऐकान्तिक जीवनानुभूति के प्रति उसका आग्रह किसी भी अन्य रोमाण्टिक कवि से कम नहीं है। कल्पना उसके लिए प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है। सामान्य वस्तुओं का सौन्दर्य अतिपरिचय और स्वार्थ-भाव के कारण कुण्ठित हो जाता है। कल्पना द्वारा कवि उस सौन्दर्य से साक्षात्कार करता है और उसे विशुद्ध तथा विस्तीर्ण रूप से पाठक को देने का प्रयत्न करता है। कल्पना द्वारा उद्घटित इस वस्तु-सत्य या मूल सौन्दर्य में जो भी बाधक है, वह कवि को स्वीकार नहीं है। फलस्वरूप वर्ड्स्वर्थ काव्य-रूढ़ियों, परम्पराओं, अलंकृतियों और दूरागूढ़ कल्पनाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। विशिष्ट एवं अभिजात भाषा-शैली का तीव्र और व्यापक विरोध हमें वर्ड्स्वर्थ में मिलता है। इस प्रकार वैयक्तिकता और स्वच्छन्दतावादिता का एक नये तल पर प्रसार हमें वर्ड्स्वर्थ के काव्य में उपलब्ध होता है।

कॉलरिज में हम वर्ड्स्वर्थ के विपरीत असाधारण, अतिप्राकृतिक और अद्भुत के प्रति विचक्षण रूप से आग्रह पाते हैं। कल्पना-शक्ति द्वारा उसने असम्भाव्य को लेकर एक चित्र-विचित्र, सूक्ष्म और विविध जगत् का निर्माण किया है, जिसमें मध्ययुगीन गाथाओं, यात्रा-वृत्तान्तों, स्वप्न और सत्य की रूपरेखाएँ मिलकर एकाकार हो गई हैं। विचित्रालयों और संगीत के सूक्ष्म विधानों एवं भाषा की चित्रात्मक और व्यञ्जनात्मक सम्भावनाओं द्वारा कॉलरिज जादूगर की भाँति अद्भुत रहस्य और अप्रतिम को क्षण-क्षण पर जगाने में समर्थ है। रोमाण्टिक कल्पना की संश्लेषात्मक और अभिचारी विशेषताएँ हमें कॉलरिज में सबसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक मात्रा में मिलती हैं।

शेली और कीट्स के काव्य-सिद्धान्तों तथा काव्य-परिपाटियों में भी काफ़ी विभिन्नता है। शेली आदर्श की उस ऊँची स्थिति की कल्पना करता है कि वह उसके लिए रहस्यात्मक हो जाता है। वह कवि के जगत् को दृश्यमान जगत् से अधिक सन्तुलित, सुन्दर तथा ग्राह्य मानता है और उसके काव्य में एक प्रकार की पलायनशीलता हमें मिल जाती है। परन्तु साथ ही विश्व की अशान्ति और असन्तुलन के प्रति विद्रोह तथा पुनर्निर्माण की इच्छा भी हमें पूर्ण मात्रा में मिलती है। शेली सौन्दर्य को मानवात्मा की उन्मुक्ति की कुञ्जी मानता है और उसका विश्वास है कि सौन्दर्यानुभूति द्वारा ही संसार अन्ध-संस्कारों, रूढ़ियों और स्वार्थों के बन्धन से मुक्ति पा सकता है। सौन्दर्य की अन्यतम उपासना ही शेली का कवि-दर्शन है। काव्य सामाजिक साम्य, सन्तुलन और नैतिकता का उद्बोधक बनकर ही सफल है, ऐसा शेली का विश्वास है और इस प्रकार उसने रोमांटिकों की स्वच्छन्द और निरपेक्ष कल्पना को उपयोगितावाद से ग्रथित कर दिया, यद्यपि यह उपयोगितावाद सूक्ष्म और व्यापक है। ब्लेक के बाद रोमांटिक काव्यधारा का सबसे सुन्दर उदाहरण शेली ही है।

कीट्स के काव्य और उसके पत्रों में हम उसकी काव्य-प्रक्रिया तथा उसके काव्य-सिद्धान्त का विशद् विवरण पाते हैं। कलाकार की आत्मचेतना और कलाजागरूकता उसमें सब रोमांटिकों से अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्त्वों के प्रति विशेष आग्रह है और उसके लिए काव्य आत्मगत भावनाओं की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार कीट्स के काव्य में क्लासिकल तत्त्वों का सम्मिश्रण हो गया है। 'ओडज़' और 'हाइपीरियन' उसकी काव्य-कला के सर्वोच्च विकास हैं और उनमें हमें जिस कवि और कलाकार के दर्शन होते हैं, वह शेली और वर्ड्स्वर्थ से भिन्न है।

इंगलैण्ड की रोमांटिक काव्यधारा में हम जीवन और काव्य का पारस्परिक विरोध ही पाते हैं। कल्पना-जगत् और वस्तु-जगत् में जो अन्तर पड़ गया था, उसने काव्य को विशिष्टता देते हुए भी उसे जन-साधारण के लिए अग्राह्य बना दिया था। काव्य-रचना के लिए कवि का व्यक्तित्व ही काफ़ी समझा जाने लगा। कवि के स्वप्न, उसकी आकांक्षाएँ, उसकी संवेदनाएँ, उसके अपने मौलिक लय-ताल और वैयक्तिक कल्पना-चित्र ही काव्य के उपादान बने। जैसे-जैसे समय बीतता गया, जीवन और काव्य में यह व्यवधान बढ़ता गया। अन्त में कवियों का आत्म-विश्वास डिग गया। भौतिकवादी संस्कृति के विकास और विज्ञान एवं बुद्धिवाद के आग्रह से भावना-जगत् में परिवर्तन होना आवश्यक था। आदर्शवाद, सौन्दर्यवाद, कल्पना और स्वच्छन्दता रोमाण्टिक काव्य के चार स्तम्भ थे। बुद्धिवाद, विज्ञानवाद, नैतिकता और सामाजिक रूढ़िवाद ने इन्हें एकदम हिला दिया। ढहे तो ये स्तम्भ नहीं, परन्तु जर्जर अवश्य हो गए। परवर्ती काव्य (विक्टोरियन युग के काव्य) में हम बार-बार कला को जीवन के पास लाने, या जीवन से भागकर कला की शरण जाने का प्रयत्न पाते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि कवि केन्द्रच्युत हो गया था और केवल-मात्र कल्पना के पंखों पर उड़कर सौन्दर्य के अतीन्द्रिय देश तक पहुँचना अब उसके लिए असम्भव बात थी। विक्टोरियन-युग के कवियों ने रोमांटिक काव्योद्भावनाओं और विचार-सरणियों के सूत्र का ही विकास किया और उन्हें अतिवाद तक पहुँचा दिया। पूर्ववर्ती धारा के विभिन्न तत्त्वों के ग्रहण और त्याग द्वारा उन्होंने अपने काव्य में कुछ विशिष्टता तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखलाई, परन्तु किसी नये काव्य-सिद्धान्त को जन्म नहीं दिया। काव्य-सम्बन्धी धारणा में कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखलाई नहीं देता। अधिकांश कवि व्यक्तिवादी थे और वे स्वतन्त्र रूप से आगे बढ़े। केवल प्री-रेफ़लाइट वर्ग के रूप में एक विशेष 'स्कूल' के दर्शन हमें होते हैं।

विक्टोरियन-युग के कवियों में टेनीसन, ब्राउनिंग और आर्नाल्ड प्रमुख हैं। इनमें आर्नाल्ड ने एक बार फिर क्लासिकल सिद्धान्तों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। ब्राउनिंग और टेनीसन के काव्य में हम जिन तत्त्वों को पाते हैं वे मूल रूप से रोमाण्टिक काव्य-तत्त्वों का अवशेष होते हुए भी परस्पर दो विरोधी ध्रुवों को सूचित करते हैं। ये दोनों कवि दूसरी पीढ़ी के रोमाण्टिक कवियों से मिलते-जुलते हैं। वास्तव में वे उसी श्रेणी के कवि हैं। परन्तु वे मूलतः कवि हैं, उनके लिए काव्य-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कला और जीवन में सन्तुलन स्थापित करने में दोनों असफल रहे हैं। टेनीसन मूल रूप से गीति-कवि हैं, परन्तु उत्तर जीवन में वे कवि से अधिक उपदेशक बन गए हैं। शेली भी कवि को द्रष्टा मानते हैं, परन्तु टेनीसन से अधिक व्यापक दृष्टिकोण से। वास्तव में टेनीसन की उपदेशात्मक प्रवृत्ति और उनकी रूपात्मक कला-कारिता ने उन्हें 'क्लासिकल' कवि के निकट पहुँचा दिया है। ब्राउनिंग के काव्य में हमें रोमाण्टिक व्यक्तित्व का ही विकास मिलता है। ब्राउनिंग कवि-स्वातन्त्र्य का उपयोग करते हुए नये-नये काव्य-रूपों की सृष्टि करते हैं, जिनमें उनकी प्रवृत्तियाँ और अभिरुचियाँ पूर्ण रूप से प्रति-बिम्बित हैं। पाठकों की बौद्धिक चेतना और सौन्दर्य-भावना की ग्राहक-शक्ति की उपेक्षा उनकी रोमाण्टिक विद्रोहात्मक प्रवृत्ति की ही सूचना देती है। भाषा की निरंकुशता और कलाकारिता के प्रति अन्यमनस्कता ब्राउनिंग की रोमाण्टिक कला की दो विशेषताएँ हैं। रोमाण्टिक कवि की उद्बुद्ध सौन्दर्य-भावना के विपरीत प्रतिक्रिया-रूप में ब्राउनिंग में कुरूपता और अभव्यता के प्रति आग्रह मिलता है। ब्राउनिंग शक्ति, स्वतन्त्रता और भावोन्मेष के पुजारी हैं और ये उनके जीवन-दर्शन के प्रमुख अंग हैं। उनमें उस आत्यन्तिक कल्पना का अभाव है जिससे ये विभिन्न तत्त्व मिलकर एकाकार हो जाते। लक्ष्यबहुलता, अनियन्त्रण और उपदेशात्मकता पर आग्रह होने के कारण उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता।

वास्तव में रोमाण्टिक धारा का पहला अग्रचरण हमें प्री-रेफ़लाइट काव्यधारा में मिलता है। रॉज़ेटी, मॉरिस, स्विनबर्न -- इन्हें हम इस धारा का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं। रॉज़ेटी के अनुसार नई काव्यधारा (प्री-रेफ़लाइट काव्यधारा) का अर्थ है 'वस्तुवाद, भावप्रवण परन्तु साथ ही सूक्ष्म भी।' ('रियलिज़्म, इमोशनल बट एक्सट्रीमली मांइन्यूट') रोमाण्टिक कवियों की भाँति इस वर्ग के कवियों में भी मतैक्य नहीं था। रॉज़ेटी को हम कीट्स और कॉलरिज के पास रख सकते हैं। तीनों में समान रूप से सौन्दर्य के प्रति ऐन्द्रिय आसक्ति है और तीनों ही रहस्य और स्वप्न के भयद संसार में विचरण करते हैं। मॉरिस अपने काव्य-विषयों और प्रतीकों के लिए मध्ययुग की ओर जाता है, जब जीवन दुर्दमनीय आकांक्षाओं और अप्रतिहत कर्तृत्व से भरा हुआ था। सच तो यह है कि प्री-रेफ़लाइट वर्ग के कवियों ने अपना लक्ष्य इतना ऊँचा रखा था कि वह उनसे सध नहीं सका। इन कवियों ने जीवन-स्थितियों से भागकर एक सुन्दर कल्पना-लोक का निर्माण किया और उसी के हो रहे। स्विनबर्न विशुद्ध काव्य का समर्थक था और उसने काव्य में नादात्मकता और संगीत-तत्त्व का इतना उपयोग किया कि वह कदाचित्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों के नाद-तत्त्व तक रह जाता है और इसी एक तत्त्व से अर्थ-बोध कराने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में रोमाण्टिसिज़्म का प्राधान्य रहा और उसकी प्रक्रियाएँ नये-नये रूपों में ग्रहीत होती रही।

: २ :

यहीं से प्रतीकवाद की धारा का आरम्भ होता है। इस धारा का सम्बन्ध फ्रांस से है जहाँ रोमाण्टिक आन्दोलन असफल रहा था और निर्बल था। फ्रेञ्च रोमाण्टिक काव्यधारा के दो रूप हमें मिलते हैं। एक में भावुकता की प्रधानता है, कवि अपनी भावधारा और संवेदना के आधार पर ही काव्य-भवन का निर्माण करता है और उसका विश्वास है कि मानवता के दुःखों का निराकरण उसका कर्त्तव्य है। दूसरा वर्ग कलात्मक प्रयोगों और सुन्दर शब्द-चित्रों को प्रधानता देता है। ह्यूगो में हमें इन दोनों वर्गों या दृष्टिकोणों का समुच्चय मिल जाता है। ह्यूगो के ही 'ले ओरियंतेले' के आधार पर गातियर ने एक विस्तृत कला-सिद्धान्त का निर्माण किया, जिसमें हमें प्रतीकवाद के परवर्त्ती विकास के चिह्न मिलते हैं। गातियर मूलतः चित्रकार था, रूपचित्रण और रंगलेखन के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक था। उसके लिए स्वच्छन्दतावाद स्थूल वस्तुओं के सौन्दर्यांकन तक सीमित था। कविता में वह इसी इन्द्रिय-गोचर सौन्दर्य को वाणी देना चाहता था और इस दिशा में कवि की सफलता ही उसकी सबसे बड़ी सफलता थी। स्वच्छन्दतावादी कवियों की आत्माभिव्यञ्जना के स्थान पर उसने निर्वैयक्तिक, वस्तुगत दृष्टिकोण को प्रधानता दी और रोमाण्टिक काव्य की अस्पष्टता तथा भावोन्मूलक धारावाहिकता के स्थान पर स्थूलता और आयास-सिद्ध सज्जा काव्य में आई। फलस्वरूप एक ऐसी काव्य-पद्धति का विकास हुआ जिसे पर्नासी काव्य-पद्धति का विकास कहा जा सकता है। कवियों का यह वर्ग काव्य को उपदेशात्मक या नीतिमूलक न मानकर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करता है। परन्तु यह निश्चित है कि इस कलावादिता के पीछे महत् विषयों की उपेक्षा है और कवि की भावुकता एवं महत् विषय का स्थान कलाकारिता कभी भी नहीं ले सकती। फिर भी इस नये सिद्धान्त का स्वागत हुआ। रोमाण्टिक काव्य की अतिभावुकता और समसामयिक समाज के भौतिक दृष्टिकोण के विपरीत इस धारा में जीवन से ऊपर उठकर, तटस्थ भाव से सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा थी। कला-जगत् का सौन्दर्य ही उसकी एकमात्र सार्थकता थी। इस पर्नासी साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला की एकनिष्ठ उपासना में जब कलाकार जीवन की वास्तविक और गम्भीर सम्भावनाओं से हट जाता है तब उसकी रचना अनिवार्य रूप से निर्बल हो जाती है। गातियर के बाद इस वर्ग के दूसरे कलाकार लेकान्ते द लिस्ले और जोसेमेरिया द हेरेदिया हैं। इन कलाकारों में हमें निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का पालन, कलात्मक संयम, अप्रतिहत आत्माभिव्यञ्जना के प्रति उपेक्षा-भाव, विवरणात्मकता, कलाकारिता अथवा कलात्मक सज्जा के प्रति आग्रह जैसे नये तत्त्व मिलते हैं जो उन्हें रोमाण्टिकों के विरोध में रख देते हैं। इन्होंने काव्य को जीवन से समीकृत करने की चेष्टा की है और सामयिक तत्त्व-चिंता तथा वैज्ञानिक प्रगति को काव्य में स्थान दिया है। विज्ञान और कल्पना के विभिन्न तत्त्वों को समीकृत करने का यह नया प्रयास निस्सन्देह अभिनन्दनीय था। इस प्रयास में कवियों को पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त नहीं हुई। इन कवियों में हम पहली बार प्रतीकों का निश्चित और सैद्धान्तिक प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखते हैं। परन्तु इन कवियों की रचनाओं में अन्ततः 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त की ही जय हुई है और जीवनगत गम्भीर आध्यात्मिक मूल्यों की बहुत-कुछ हानि या उपेक्षा भी हुई है।

पर्नासी और प्रतीकवादी कवियों के बीच में हम बोदलेर को खड़ा पाते हैं। वास्तव मे बोदलेर अँग्रेजी और फ्रांसीसी समकालीन कवियों को जोड़ने वाली शृङ्खला है। अँग्रेजी के ह्रासोन्मुख (डिकेडेण्ट) काव्य पर बोदलेर का व्यापक प्रभाव दिखलाई देता है और परवर्ती फ्रेञ्च प्रतीकवादियों ने भी उनसे बहुत-कुछ ग्रहण किया है। बोदलेर में हमें रूपगत पूर्णता का तो आग्रह मिलता ही है, परन्तु उसने पर्नासी कवियों के विपरीत अपनी निजी और कदाचित् रोमाण्टिकों से भी अधिक गम्भीर एवं आत्यन्तिक अनुभूतियों को अपने काव्य में वाणी दी है। बोदलेर में हमें आदर्श तथा यथार्थ का संघर्ष बड़े मार्मिक ढंग से मिलता है और इस संघर्ष से टूटकर वह अपनी स्वप्न-यात्रा के लिए बराबर तैयार दिखलाई पड़ता है। अद्भुत गन्धों और विचित्र गीत-ध्वनियों के प्रति उसकी आसक्ति है। उसने अपनी अन्तरानुभूतियों और मनःछल-नाओं को बड़े वैभव के साथ वाणी दी है। वस्तु-जगत् के पीछे परोक्ष जगत् को वह रहस्य-वादियों की भाँति पकड़ने में सफल है। उसके काव्य में स्वप्न-भंग का महान् चीत्कार भी है निराशा, विद्रोह और पीड़ा में आनन्द की विजुगुप्सक भावना ने उसके काव्य को लांछित पर अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। सबसे बड़ी चीज यह है कि बोदलेर ने स्पष्ट रूप से अप काव्य-सिद्धान्तों की घोषणा की और इस दिशा में प्रतीकवादियों का पथ-प्रदर्शन किया।

बोदलेर के प्रभाव का एक पक्ष उसके काव्य-सिद्धान्त हैं और दूसरा पक्ष उसका काव्य सम्भवतः बोदलेर ने अपने काव्य-सिद्धान्तों के निर्माण में एडगर एलेन पो की समीक्षात्म स्थापनाओं से सहायता ली है, जिनमें कॉलरिज और शेली के बहुत से तत्त्व हमें मिल जा हैं। बोदलेर के अनुसार काव्य के माध्यम से कवि पीड़ा को आनन्द का रूप देता है और उस द्वारा उसके मनःस्वप्न को स्थायित्व प्राप्त होता है। कला-जगत् में ही कवि के आदर्शों स्थायित्व और स्थूलता मिलती है। प्रकृति में सौन्दर्य और प्रगति के तत्त्व बोदलेर को दिखल नहीं देते। कला (या कलाकारिता) में ही वह सौन्दर्य की प्रतिष्ठा मानता है। फलतः उस काव्य में कविता के कला-तत्त्वों का व्यापक प्रसार है। काव्य के रूपात्मक, नादात्मक औ मूर्तिमत्तात्मक पक्षों का सम्पूर्ण विकास हमें बोदलेर के काव्य में दिखलाई देता है। उसके का में परवर्ती विकास के अंकुर स्पष्टतः अन्तर्निहित हैं। उसकी स्वप्निलता, उसके व्यञ्जनात्मक प्रती विभिन्न इन्द्रिय-बोधों में रहस्यात्मक सम्बन्ध-कल्पना, विभिन्नता में आत्मिक एकता का आग्रह-ये सब प्रतीकवाद के ही तत्त्व हैं जो बोदलेर के काव्य में पूर्ण रूप से विकसित हैं। लाफ़ार्गो औ इलियट के काव्य में व्यंग, परिहास, विशृंखलित रूपकों का उपयोग और इसी प्रकार के अन्य तत्त्व मिलते हैं वे भी बोदलेर के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं। वास्तव में बोदलेर के काव सिद्धान्त स्वयं उसकी काव्य-प्रक्रिया और काव्य-संवेदना से उद्भूत हैं उसने और उसमें अपने हि समाधान खोजने की चेष्टा की है। प्रतीकवादियों ने बोदलेर के सिद्धान्तों में तत्कालीन जीव चिन्ता का आभास पाया है और उनके आधार पर एक विस्तृत सौन्दर्य-शास्त्र ही खड़ा दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

प्रतीकवादी सिद्धान्तों के लिए हमें पाल वर्ले, मेलार्मे और रिम्बो की विचारधाराओं तथा काव्य-प्रक्रियाओं को देखना होता है। इस आन्दोलन का जन्म १८७० ई० के लगभग होता है। आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष बुद्धिवाद का विरोध है। पिछली पीढ़ी की मान्यता थी कि बुद्धि द्वारा सारी सृष्टि-प्रक्रिया को समझा जा सकता है और तटस्थ दार्शनिक दृष्टि-कोण ही सर्वोपरि वस्तु है। पर्नासी कवियों की रचनाओं का मूलाधार यह वैज्ञानिक बुद्धिवाद ही था। परन्तु १८७० ई० के लगभग स्पेन्सर, हार्टमां और शोपनहार की नई मान्यताओं ने बुद्धि के प्रति इस आस्था को डावांडोल कर दिया। इन तत्त्ववेत्ताओं का यह कहना था कि जीवन-प्रक्रिया में रहस्यमय, बुद्धि द्वारा अग्रहीत और अवचेतन, अज्ञात शक्तियों का महत्त्व-पूर्ण स्थान है और तत्त्व वस्तुतः मरु-मरीचिका की भाँति अग्राह्य छलना-मात्र है। इस नई विचारधारा ने फ्रांस के कला-चिन्तकों को भी प्रभावित किया और उन्होंने जीवन के रहस्या-वर्तों को हटाकर उससे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया। कला के माध्यम से जीवन की अपरिमेयता, अपराजितता और रहस्यमयता को प्रकट करना ही सच्चा कला-धर्म है, यह मान लिया गया। अतिप्राकृत, स्वप्न और कल्पना-जगत् को वस्तु-जगत् से अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर कवि इन्हें ही उद्घटित करने में लगे। यह कहा गया कि काव्य में जो तत्त्व बौद्धिक तर्क-सिद्धता और ऐन्द्रिय ग्राह्यता की अपेक्षा करते हैं वे वस्तु-सत्य को देने में असमर्थ हैं। काव्य हमारे उस रहस्य-मय अन्तर्बोध का प्रकाशन हो जहाँ विचार, अनुभूति और ऐन्द्रिक संवेदनाओं एवं प्रतिक्रियाओं में विभाजन-रेखाएँ नहीं रहतीं—इनमें परस्पर आदान-प्रदान सम्भव है। स्वप्न और आकांक्षा का एक नया संसार कवियों के प्रयोगों के लिए खुल गया और वस्तु जगत् से हटकर इस नये आत्म-जगत् में केन्द्रित होने वाले कवियों को अधिक मान्यता मिली।

प्रतीकवादी काव्यधारा की विशेषताएँ, जैसी वे वर्ले, मेलार्मे और रिम्बो के काव्य में दिखलाई देती हैं, इस प्रकार हैं—

(१) अनुभूति की आन्तरिकता (इन्टिमेसी)।

(२) व्यञ्जना (सजेशन)।

(३) ध्वनियों और आयोजित कल्पना-चित्रों के माध्यम से परोक्ष व्यञ्जना।

(४) कवि द्वारा भाव-भूमि के निवेदन का प्रयत्न, जिसके लिए वह स्वप्न और सत्य, अनुभूति और इन्द्रिय-बोध को विचित्र ढंग से संयोजित कर देता है, जिससे वर्णित वस्तु कवि के भावोन्मेष का आत्यन्तिक प्रतीक बन जाती है।

(५) कविता के परम्परागत रूप-विधान और लय-विधान की उपेक्षा और उन्हें लोक-वाणी और संगीत-तत्त्व के निकट लाने का प्रयत्न।

(६) तुकान्त के प्रति विद्रोह और छन्द-मुक्ति के लिए आग्रह।

(७) बौद्धिक सूझ और परिपाटी-बद्ध शैली के प्रति अनादर-भाव।

(८) यह विश्वास कि काव्य में तथ्य-कथन महत्त्वपूर्ण नहीं है, ध्वनि और व्यञ्जना महत्त्वपूर्ण हैं, उसमें भड़कीले रंगों की अपेक्षा सूक्ष्म तरल रंग अधिक उपादेय हैं। काव्य की पहली शर्त यह है कि वह संगीतात्मक हो और उसमें दिवा-स्वप्न तथा भावुक स्पन्दन को जगाने की शक्ति हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९) प्रतीकवादी आन्दोलन में बुद्धि का बाध है और काव्य-प्रक्रिया को सहज अन्त-स्फूर्ति (अथवा मनोवैज्ञानिक शब्दावली में) अन्तश्चेतन का विस्फोट माना जाता है। रिम्बो का विश्वास था कि सर्वोत्तम काव्य-कृति में काव्य-भाषा तर्क और अर्थ-संगति के सम्पूर्ण अभाव में ही हमें प्रभावित करने में सफल होती है। बाद में रिने गिल ने रिम्बो के इन सिद्धान्तों को और भी विस्तार दिया और उसने भाषा को तर्क-सन्दर्भ से अलग ही संगीतात्मक मूल्य देने की चेष्टा की, जिसका आधार संगीत-शास्त्र की भाँति नाद-सन्तुलन का सिद्धान्त था, परन्तु जिसमें साथ-साथ रंगों की निश्चित व्यञ्जना भी रहती थी। प्रयोग की यह दिशा बोदलेर में भी हमें दिखलाई देती है।

(१०) प्रतीकवादियों, विशेषतः रिम्बो के काव्य में उपचेतन तत्त्वों का अत्यधिक उपयोग हुआ है और उसका साहित्य मनोविश्लेषकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके काव्य में उसके अवचेतन की सम्पूर्ण और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। सुर-रियलिस्ट आन्दोलन के समर्थक कवियों ने रिम्बो की काव्य-प्रक्रिया का व्यापक उपयोग किया है। वे अन्तश्चेतन-मूलक लेखन में विश्वास करते हैं और उनके काव्य में अद्भुत कल्पनाओं तथा विचित्र स्वप्नों का प्राधान्य है। उनके कल्पना-चित्र स्वतन्त्र, परम्परा-विच्छिन्न और तर्कविरहित रहते हैं। वास्तव में एक वर्ग प्रतीकवादी काव्य की फ्राइडीय व्याख्या उपस्थित करता है, यद्यपि दूसरा वर्ग (जिसका प्रमुख प्रवक्ता पाल क्लादेल है) उसे सौन्दर्य और दृश्य जगत् की आध्यात्मिक एवं रहस्यमय अनुभूति मानता है। इसमें सन्देह नहीं कि रिम्बो के काव्य में रहस्यानुभव की अनेक प्रतिध्वनियाँ हैं। आधुनिक काव्य पर रिम्बो की विचारधारा और काव्य-प्रक्रिया का व्यापक प्रभाव है।

(११) प्रतीकवादी काव्य का एक नया विकास हमें मेलार्मे और पाल वेलेर में मिलता है। रिम्बो का काव्य उसके अन्तर्जगत के ऐश्वर्य और उसकी विचित्र कल्पनाओं तक सीमित था। मेलार्मे शाश्वत सत्य और सम्पूर्णता की भावना से त्रस्त था। उसके अनुसार यह असम्पूर्ण जगत् सम्पूर्ण और सत्य जगत् की छाया-मात्र है। मेलार्मे की सबसे आकर्षक कल्पना अनस्तत्त्व की है और उसके काव्य का मूलाधार ही नकारात्मक है। अभाव, मौन, मरण—ये उसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं। बोदलेर की भाँति मेलार्मे का भी विश्वास है कि बौद्धिक और कलात्मक सर्जन द्वारा ही मनुष्य दृश्यगत सत्ता से अधिक विशुद्ध और आदर्श सत्ता तक पहुँच सकता है। कवि का कर्तव्य यही है कि वह परोक्ष सत्य और सौन्दर्य की इसी अनुभूति को शब्दों के व्यञ्जनात्मक एवं ध्वन्यात्मक सौन्दर्य से पाठकों में जाग्रत करे। बड़े परिश्रम से मेलार्मे ने इस सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए एक नई परिपाटी का निर्माण किया। काव्य-परिपाटी में कल्पना-चित्रों का उपयोग कोई नई चीज नहीं है। दृश्यमान जगत् से सम्बन्धित और संवेदना जाग्रत करने वाली वस्तुओं एवं प्रक्रियाओं से कवि अपनी आत्मानुभूति की व्यञ्जना के लिए कल्पना-चित्रों को चुनता है। ये कल्पना-चित्र उसके लिए स्वयमेव महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वे इस लिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वे आदर्श के प्रतिरूप या प्रतीक हैं। शेली जैसे रोमाण्टिक कवियों में हम इस धारणा का प्राचुर्य पाते हैं, किन्तु रोमाण्टिक काव्य में इस धारणा और तज्जन्य प्रयोग के प्रति उतना निरन्तर और जागरूक आग्रह नहीं जितना हमें मेलार्मे के काव्य में दिखलाई देता है। बोदलेर की भाँति मेलार्मे भी विभिन्न इन्द्रिय-बोधों के पारस्परिक सम्बन्ध और ऐक्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वासी है और वह अन्ततः उस मूलभूत आध्यात्मिक या परोक्ष अनुभव तक पहुँचना चाहता है जो सभी पार्थिव संवेदनाओं का उद्गम है अथवा सभी इन्द्रियानुभूतियों में जिसका मात्र प्रसार है। इस मूलभूत अनुभव को वह इन्द्रियगम्य कल्पना-चित्रों के सूक्ष्म और अबाध उपयोग द्वारा पाठक तक पहुँचाने में प्रयत्नशील है। वह तथ्य-कथन और निश्चित सामान्य अर्थबोध की उपेक्षा करता है। फलस्वरूप उसकी काव्य-कला में वक्रता और सूक्ष्म अगम्यता की प्रधानता है। वह वस्तु-जगत् के प्रति अपनी संवेदनाओं और अपनी रसात्मक अनुभूतियों को वर्णित या सूचित किये बिना ही पाठक के प्रति निवेदित होना चाहता है। इसके लिए वह ध्वन्यात्मक व्यञ्जनाओं और शब्दों एवं कल्पना-चित्रों के अनेकानेक सन्दर्भों का उपयोग करता है। तथ्य-कथन द्वारा वह विचार या अनुभूति को सीमाओं में बाँधना नहीं चाहता। इसीलिए वह सहज-ग्राह्य नहीं है। उसकी विचार-प्रक्रिया सूक्ष्म, वक्र तथा उलझी हुई है और अनेकानेक सन्दर्भों से पुष्ट होने के कारण वह सहज ही पकड़ में नहीं आती। कविता के बहिरंग में भी नवीनता का आग्रह है। मेलार्मे काव्य की भाषा को स्थूल, ग्राम्य और तथ्यवादी तत्त्वों से अलग कर विशुद्ध भावमूर्ति बनाना चाहता है। वह शब्द-समूहों के चुनाव और उपयोग के प्रति इतना जागरूक है कि वह उनके द्वारा व्यञ्जना की अनन्त सीमाएँ उद्घटित करता है और वे शब्द-समूह संश्लिष्ट भावनाओं या विचारों के वाहक बनकर एक नई ही इकाई बन जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मेलार्मे के काव्य में बौद्धिकता का आग्रह अधिक है और प्रतीकवाद को दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि देकर उसने उसे एक आकर्षक और निश्चित 'वाद' का रूप दिया है। शब्द-शक्ति के रहस्यों के प्रति उसकी निरन्तर जागरूकता और काव्यानुभूति के प्रति ईमानदारी उसके काव्य की विशेषताएँ हैं। काव्य का एक नया आत्मचेतन और निश्चित ढंग से प्रयोगवादी रूप हमें प्रतीकवादियों में मिलता है। रोमाण्टिक कवियों में हम सिद्धान्तों के प्रति उतना आग्रह नहीं पाते और उनका काव्य-प्रक्रियाओं एवं कला-तत्त्वों का बोध भी उतना जागरूक नहीं है। परन्तु रोमाण्टिक काव्य में भी हमें कल्पना की आत्यन्तिकता, छन्द-मुक्ति और शब्द-शक्ति के व्यञ्जनात्मक प्रयोग का आग्रह उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार प्रतीकवादी काव्य में। वास्तव में फ्रांस का प्रतीकवादी आन्दोलन इंगलैण्ड के रोमाण्टिक आन्दोलन से अनन्यतः प्रभावित था। एक प्रकार से हम उसे रोमाण्टिसिज़्म का ही परवर्ती विकास कह सकते हैं। प्रतीकवाद के दो प्रमुख उन्नायक बोदलेर और मेलार्मे अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य से पूर्ण रूप से परिचित थे और उन पर एडगर एलन पो के काव्य-सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव था। प्रतीकवादी ही नहीं, बाद के सुररियलिस्ट कवि भी पो से प्रभावित हैं और अर्द्ध-जाग्रत चेतना में व्याप्त कल्पनाओं तथा मनःस्वप्नों के विश्लेषणात्मक और प्रतीकात्मक प्रयोग उन्होंने वहीं से सीखे हैं। पो के काव्य-सिद्धान्तों और उसकी काव्य-प्रक्रिया को हम अंग्रेजी रोमाण्टिकों (कॉलरिज और प्री-रेफ़लाइट) के सिद्धान्तों तथा काव्य-प्रक्रियाओं से निकटतम रूप से सम्बन्धित कर सकते हैं। इस प्रकार चाहे सीधे, चाहे परोक्ष में, प्रतीकवाद रोमाण्टिसिज़्म का ही विकास सिद्ध होता है और इलियट एवं नवीन कवियों के काव्य में अब भी उसीकी जय-भेरी बज रही है। यह अवश्य है कि इलियट में क्लासिकल तथा दार्शनिक तत्त्वों का भी संश्लेष है और नूतनतम काव्य में और भी अनेक धाराएँ तथा प्रक्रियाएँ आकर मिल गई हैं और काव्यचेतना मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से पुष्ट होकर और भी वैज्ञानिक एवं जागरूक हो गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४ :

प्रतीकवादी दर्शन जहाँ एक ओर बुद्धि की महत्ता को अस्वीकार करता है, जो क्लासिकल दृष्टिकोण के विपरीत है, वहाँ दूसरी ओर वह रामाण्टिकों की भावना की प्रधानता की बात को भी अस्वीकृत कर देता है। प्रतीकवादी जीवन-दर्शन के अनुसार दृश्यमान जगत् परोक्ष जगत् की असम्पूर्ण प्रतिच्छाया है। इस परोक्ष जगत् तक पहुँचना असम्भव बात है। काव्य और साहित्य का मूल लक्ष्य ही वस्तु-जगत् के दृश्यगत, श्रवणगत और स्पर्शगत ज्ञान के ऊपर उठ कर अतिवास्तव, चिर-सत्य और शाश्वत की झाँकी देना है। मेलार्मे के काव्य में हम स्पष्ट देखते हैं कि वह इन्द्रियानुभूतियों से सम्पन्न बहिर्जगत् को अपनी परीक्षा का केन्द्र बनाता है और उसके 'पार' देखना चाहता है। बाद के कवियों ने अन्तर्जगत् (आत्मा) को अपने अन्वेषण का केन्द्र बनाया है। उनके लिए यह अन्तर्जगत् (आत्मा) भी एक शाश्वत विश्व-मन की असम्पूर्ण प्रतिच्छाया है और असफलता, पीड़ा एवं दुःख के पीछे हमें शाश्वत का बोध प्राप्त होता है। इस जीवन-दर्शन के अनुसार आत्मा, प्रेम, सौन्दर्य सब भ्रम-मात्र हैं और इनकी उपादेयता यही है कि हम इनके 'पार' शाश्वत जीवन-तत्त्व को देख सकें।

परन्तु इस शाश्वत जीवन-तत्त्व को बुद्धि, भावना अथवा इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। केवल संवेदन-मात्र रह जाते हैं। प्रतीकवादियों का कहना है कि ये संवेदनाएँ ही सत्य हैं, शेष सब भ्रम है, भ्रान्तिपूर्ण और अवास्तव है। हमारी इन्द्रियों पर जो आघात होते हैं, वही सत्य हैं, वास्तविक तथ्य हैं। इस आघात से जिन विचार और भावनाओं का जन्म होता है, वे सत्य नहीं है, आधारहीन और भ्रामक हैं। फलतः संवेदना ही सब-कुछ हो जाती है। बुद्धि और भावना के संयम द्वारा जब हम अपने व्यक्तित्व को ठीक रूप से संयोजित कर लेते हैं, तब हम उस अनन्त से संस्पर्शित हो जाते हैं। ये क्षण अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं, परन्तु इसीलिए मानव के लिए अमूल्य भी हैं। कलाकार इन्हें ही खोजता है। मेलार्मे से वेलेर तक हम इसी खोज का इतिहास बनता पाते हैं।

प्रतीकवाद स्वच्छन्दतावाद का ही परवर्ती विकास है। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि प्रतीकवादी काव्यधारा के आरम्भ में जिन दो कवियों का नाम आता है (बोदलेर और वर्ले) उन्हें हम स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत भी ले सकते हैं। वास्तव में उनमें नई धारा की अपेक्षा पुरानी धारा के तत्त्व ही अधिक हैं। रिम्बो (१८५४-९१) के काव्य में हमें नये काव्य-तत्त्व पूर्ण विकसित रूप में ही मिलते हैं। रिम्बो का प्रारम्भिक काव्य विक्टर ह्यूगो के काव्य से भिन्न नहीं है, परन्तु 'ले इलूमिनेशन' नाम की उत्तर-रचना में वह एकदम अभिनव धरातल का निर्माण करता है। इन्हीं अभिनव तत्त्वों ने बाद में मेलार्मे और वर्ले को प्रभावित किया। रिम्बो कलात्मक सम्पूर्णता को भंगिमा-मात्र मानता है। वह स्पष्टता और तथ्य-कथन का विरोधी है। दृश्य जगत् को छोड़कर उसने रहस्यमय परोक्ष का अंचल पकड़ा है। उसने भाव और अभिव्यञ्जना में केन्द्रीयता लाने का प्रयत्न किया और नवीन काव्य-भाषा की सृष्टि करनी चाही। भाषा-शैली के क्षेत्र में वह किसी भी रूढ़ि को मानने को तैयार नहीं था। मौलिकता के इस अति-आग्रह ने कहीं-कहीं रिम्बो के काव्य को असन्तुलित बना दिया है। वहाँ कवि को कुछ नवीन या विशेष कहना नहीं है, वहाँ काव्य-क्षेत्र में अव्यवहृत शब्दों का प्रयोग ही एकमात्र ध्येय है। मेलार्मे (१८४२-९८) ने रिम्बो के इस काव्य-प्रयोग को उपयुक्त चिन्ताभूमि दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेलार्मे के काव्य-दर्शन को हम १८७०-१६४० के काव्य का मेरु-दण्ड मान सकते हैं। यह काव्य-दर्शन इतना सूक्ष्म और ऊँचा है कि कोई भी रोमाण्टिक कवि इस मानदण्ड पर पूरा नहीं उतरता, यद्यपि लगभग सभी रोमाण्टिक कवियों में ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जो नई काव्यधारा के उदाहरण के रूप में उपस्थित की जा सकती थीं। सर्जन के अप्रतिम क्षणों में कवि जहाँ पहुँच जाता है, वे सिद्धान्तों में बहुत बाद में बँध पाते हैं। वास्तव में ब्लेक और पो के काव्य में नई धारा का पूर्व विकास मिलता है, और बोदलेर एवं मेलार्मे ने स्रोतों से पर्याप्त लाभ उठाया है। परन्तु नई काव्यधारा का सुस्पष्ट, शृङ्खलित और निश्चित रूप हमें मेलार्मे में ही मिलता है। 'वर्स ए प्रोज़' में हमें मेलार्मे का काव्य-चिन्तन इस प्रकार मिल जाता है :

Abolished, the intention, aesthetically an error, although it directs nearly all masterpieces, of enclosing into the subtle paper of a book anything else than, for instance, the horror of the forest, or the silent thunder diffused in the leaves; not the intrinsic & dense wood of the trees. A few jets of intimate glory truthfully trumpted, evoke the architecture of the only inhabitable palace; not any stone. (Verse et Prose. P. 184)

यह स्पष्ट है कि मेलार्मे 'वस्तु' और कला में भेद मानता है। कथा-कहानी, उपदेश, भावनाओं का प्रकाशन, ये काव्य नहीं हैं। काव्य होने के लिए कुछ होना आवश्यक है। कुछ होने के लिए या काव्य होने के लिए कवि को यथार्थ के पार जाना होगा और शाश्वत रूपरेखाओं को संवारना होगा। इस परिभाषा के अनुसार काव्य कही जाने वाली चीज बहुत कम रह जाती है—कुछ पृष्ठ या कुछ पंक्तियाँ।

काव्य की जो धारणा मेलार्मे ने उपस्थित की है उसमें वह संगीत के अनेक तत्वों को ग्रहण कर लेता है। संगीत द्वारा हमें अनन्त के बोध की प्राप्ति होती है, बुद्धि के परे के अरूप जगत् तक हमारी पहुँच उसीके माध्यम से है। काव्य और संगीत में विशेष अन्तर यही है कि संगीत जिन नादात्मक ध्वनियों का उपयोग करता है अपने-आपमें उनके कोई अर्थ नहीं होते। अर्थ का बाध होने पर भी हम अतीन्द्रिय जगत् में प्रवेश कर पाते हैं। काव्य को संगीत से यही व्यञ्जनात्मकता सीखनी है। अर्थ-बोध तक सीमित रखकर हम काव्य को छोटा करते हैं। कवि को अर्थ से बड़ी, हो सके तो अर्थ से परे की वस्तु हमें देना है।

कवि के पास और भी बहुत-कुछ है जिससे काव्य संगीत से कहीं अधिक अभिव्यञ्जक बन जाता है। गन्ध, रंग, रूप, स्वाद, भावोद्रेक, ये कुछ संवेदनाएँ हमें परोक्ष-जगत् से सम्बन्धित करती हैं। शब्द इन संवेदनाओं के (जो स्वयं अनन्त और शाश्वत जीवन की प्रतीक हैं, आभास-मात्र हैं) प्रतीक होने के कारण द्विधापूर्ण, अस्पष्ट और रहस्यमय हैं। ये न हों तो वे प्रतीक ही कैसे? इस प्रकार शब्दों के रूप, रंग, गन्ध, स्पर्श और नाद-सम्बन्धी उपकरणों से कवि रहस्यमय अतीन्द्रिय परोक्ष जगत् में प्रवेश करने की अलौकिक शक्ति प्राप्त करता है।

यह विचारधारा काव्य को अलौकिक और एक तरह से आध्यात्मिक बना देती है। यह चेतन बौद्धिक तत्वों पर आधारित न होकर दुर्गम्य भाव-संवेदनाओं पर आश्रित हो जाती है। फलतः कवि-कर्म सामान्य कर्म न रहकर एक अत्यन्त विशिष्ट कर्म बन जाता है। वर्लें ने 'आर्ट पोइटीक' (१८७४) में काव्य की सीमाएँ बाँधते हुए (जिनमें क्रमशः अर्थ, व्याकरण आदि का बाध हो जाता है) यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रेष्ठ काव्य व्यक्तिगत प्रतीकों और कल्पना-चित्रों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण कूट-काव्य से कम दुर्बोध और रहस्यमय नहीं होता। वस्तुतः काव्य के उन आकाश-चुम्बी शिखरों पर पहुँचना बड़ा कठिन है और वहाँ देर तक ठहरना और भी दुस्साध्य है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीकवादी विचारधारा में मानव-जीवन और काव्य-प्रक्रिया को अत्यन्त गम्भीरता से देखा गया है और कवियों एवं पाठकों की अन्तर्दृष्टि को उससे अपरिसीम विस्तार मिला है। अब भी उसके समर्थक कम नहीं हैं। मेलार्मे के बाद पाल वेलेर (१८७१-१९४५) में इस काव्य-शैली का हम सर्वोच्च विकास पाते हैं। यह अवश्य है कि वह मेलार्मे से कहीं अधिक निराशापूर्ण है, परन्तु निराशा आधुनिक काव्य का प्रमुख अंग है।

परन्तु प्रतीकवादी विचारधारा प्रमुखतः निराशावादी होते हुए भी एकमात्र निराशावादी नहीं है। उदाहरण के लिए जुले सपरवे केवल काव्यात्मक संवेदनाओं तक सीमित रहता है और अपने लिए अथवा पाठक के लिए किसी भी सत्य-सिद्धान्त के आविष्कार का दावा नहीं करता। पिछले प्रतीकवादी कवियों के लिए हमें एक प्रकार का अतिवाद मिलता है। वे सामान्य जीवन के अनुभवों से भागते हैं, सम्भवतः उनके अनुभव असामान्य हैं। परन्तु इस कवि में हम जीवन को अखण्डित और व्यापक रूप में देखने की चेष्टा पाते हैं। काव्य का जीवन-समीक्षा का रूप हमें यहाँ पूर्ण विकसित मिलता है। उसने घृणा, प्रेम आदि मानवी संवेदनाओं को उपयुक्त परिवेश में देखा है। रोमाण्टिकों के काव्य में जिस व्यक्तिवाद (ल मुए : 'मैं—शैली') का प्राचुर्य है, वह सपरवे में नहीं मिलता। उसका भोक्ता कवि अधिक गम्भीर, तटस्थ, फलतः निर्वैयक्तिक है। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रतीकवादी काव्यधारा में नये विकास को सूचित करता है।

प्रतीकवादी धारा का एक तर्कसिद्ध परन्तु अतिवादित विकास हमें सुर-रियलिस्ट आन्दोलन में मिलता है जो १९१४ के बाद प्रेम-काव्य में एक नया फैशन है। इस धारा के कवियों ने गद्य-पद्य में कोई भेद नहीं रखा। एक नई काव्य-शैली के निर्माण के प्रयत्न में सभी काव्य-रूढ़ियों के प्रति विद्रोह उठाया गया और काव्य-विषय को ऐसे सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक रूप से उपस्थित किया गया कि गद्य-पद्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। तर्क-संगीत के अभाव में यह गद्यात्मक पद्य कूट-काव्य बन गया है जैसे ईलुअर्द की यह कविता—

Nous approchous.
Dans Les forets.
Prenez la me du matin.
Montez les marches de la brume.
Nous approchous.
La terre en a le coeur crispe.
Encore un jour a' mettre an monde. (Sans Age)[१]

इन पंक्तियों में गद्य-पद्य का कोई भेद ही नहीं रह गया है। अपालिने, अरागों, ब्रीतों, सोपाल

१. We approach
Within the forest.
Come with me at the dawn.
Let us march in the mist.
We approach.
The earth gives the heart a thrill.
(for we have) Still to enjoy & to stake a day in this world. (The Ageless

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कान्चो, इलुअर्द आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं। इस काव्यधारा ने हमें काव्य नाम की चीज़ कम दी। सुर-रियलिस्ट कवियों ने पाठकों से बहुत चाहा। जब कविता विशेष प्रकार के पाठ या नादात्मक संगीत-तत्त्व अथवा स्वयं पाठक के कल्पना-जगत् पर आश्रित हो जाती है, तो वह अपनी व्यापक संवेदना खो देती है और कविता नहीं रह जाती। सुर-रियलिस्ट कवियों का काव्य निःसन्दिग्ध रूप से कूट-काव्य बन गया है और उसमें कवि की संवेदना उसकी अभिव्यञ्जना-शैली में उलझकर रह गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमांटिक काव्यधारा, प्रतीकवादी धारा, दादाइज़्म और सुर-रियलिस्ट धारा विचारों, भावनाओं और प्रयोगों की एक उत्तरोत्तर विकसित और सूक्ष्म शृङ्खला का निर्माण करती हैं। कविता की अतीन्द्रिय और अबौद्धिक उपचेतनमूलक कल्पना के प्रति कवियों का आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और काव्य अन्त में एक बन्द गली में पहुँच गया है। फ्राइड और अन्य मनोवैज्ञानिकों की मान्यताओं ने इन धाराओं की मान्यताओं को ही पुष्ट किया है और अन्तश्चेतनमूलक काव्य अथवा प्रपद्यवादी काव्य की एक नई धारा ही प्रवाहित हुई है। प्रतीकवादी विचारधारा और काव्य की जैसी गहरी जीवन-दर्शन की मिति इस नई धारा के पास नहीं है, परन्तु कवि के व्यक्तित्व का स्वप्न-प्रतीकों और यौनमूर्त-विधानों द्वारा उद्घाटन इसकी विशेषता है।

प्रतीकवादी आन्दोलन प्रमुखतः फ्रांस तक सीमित रहा और उसने काव्य को विशद रूप से प्रभावित किया, परन्तु बाद में वह सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप पर छा गया और साहित्य की अन्य कोटियों में भी उसका प्रवेश हुआ।[1] उसका सबसे विकृत रूप हमें जरट्रूड स्टेन के काव्य में दिखलाई पड़ता है, जिसमें प्रतीकवादी सिद्धान्तों को इतनी दूर तक खींचा गया है कि काव्य हास्यास्पद हो गया है।[2] कदाचित् प्रतीकवाद के आविष्कर्ताओं ने भी ऐसी दूरागूढ़ कल्पना नहीं की होगी। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अत्याधुनिक काव्य का सम्पूर्ण इतिहास प्रतीक-वाद के विकास का इतिहास है।

: ५ :

आरम्भिक प्रतीकवादी कवियों ने अपनी धारणा का निर्माण प्रकृतिवाद के तथ्य-कथन और बुद्धिवाद की तर्कसंगिता के विरोध में किया था। उन्होंने ध्वनि या व्यञ्जना के सिद्धान्त का आविष्कार किया और उसे साहित्य का सबसे बड़ा तथ्य माना। उनका अतिवाद यह था कि वे समझते थे कि व्यञ्जना एवं अर्थ दो एकदम भिन्न और विरोधी वस्तुएँ हैं। वेलेरे, इलियट और ईट्स में हम व्यञ्जना के पक्ष का पूर्ण समर्थन पाते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि कोई भी शब्द केवल वाच्य ही नहीं है, उसमें व्यंग्य भी अन्तर्हित है। यह कहना कठिन है (कदाचित् गणित और

१. जर्मनी में प्रतीकवादी आन्दोलन के प्रमुख कवि हैं रेनर मेरिया रिल्के (१८७५—१९२६) और स्टेफ़न जॉर्ज (१८६८-१९३३) और रूस में अलेक्ज़ेण्डर ब्लॉक (१८८०-१९२१)। सी० एम० बाउरा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The Heritage of Symbolism' में इन कवियों का विशद विवरण उपस्थित किया है।

२. देखिए एडमण्ड विल्सन का ग्रन्थ 'Axel's Castle' (प्रतीकवाद पर निबन्ध और जर-ट्रूड स्टेन सम्बन्धी ८वाँ अध्याय), पृ० २५-५६ और पृ० २३७-२५६)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भौतिक विज्ञान को छोड़कर) कि एक प्रकार का लेखन अर्थी-मात्र है, दूसरी प्रकार का लेखन व्यञ्जना-मात्र। वास्तव में प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना में विचार, भाव और संवेदन तीनों मिलकर चेतन मन की प्रक्रिया का निर्माण करते हैं। श्रेष्ठ रचना की प्रभावोत्पादिता सूक्ष्म अन्तर्ध्वनियों, अन्तर्सन्दर्भों और रहस्यमय अर्थों पर आधारित होती है, जिनमें अर्थ के साथ लक्षणा और व्यञ्जना का पूरा-पूरा समारम्भ रहता है। वह हमारी प्रकृति और हमारे मन के सहस्रविध आलोड़न-विलोड़न का फल है। वास्तव में हमारे शब्द मूल रूप से प्रतीक ही हैं और प्रतीकवादियों को यदि श्रेय दिया जा सकता है तो वह यह है कि उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता (ध्वन्यात्मक या व्यञ्जनात्मक शक्ति) की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित किया और कविता को हृदय—मन की गम्भीरतम अभिव्यक्ति बना दिया। विशुद्ध या कोशीय अर्थों में शब्दों की कल्पना ही असम्भव है। प्रत्येक शब्द प्रयुक्त होते ही पूर्वापरता, परम्परा, विशिष्ट भाव-संवेदना और नवीन उद्बोधनों का एक वृहद् संसार सामने लाता है। पूर्व सन्दर्भों या पूर्वानुभूत संवेदनाओं को उभारकर वह तात्कालिक अनुभूतियों या संवेदनाओं को अपरिसीम गम्भीरता और मार्मिकता प्रदान करता है। इस चिन्तन-भूमि से देखें तो यह स्पष्ट है कि प्रतीकवाद सदैव ही काव्य और साहित्य का अंग रहा है और विशेषकर रोमाण्टिक काव्य और साहित्य में उसका व्यापक रूप से उपयोग हुआ है।

प्रतीकवादी स्कूल की सीमाओं का विवरण देते हुए ऐन्द्रे जीद ने इस प्रकार लिखा है—"प्रतीकवादी धारा की एक बड़ी लांछा यह है कि उसमें जीवन के प्रति कुतूहल का अभाव है। एकमात्र वे ग्रिफ़िन को छोड़कर (और इसीसे ग्रिफ़िन की रचनाएँ ऐसी विशिष्ट हैं) शेष सभी निराशावादी, वीतरागी, भाग्यवादी 'इस धरती के दुःखद अस्पताल से ऊबे' (लेफ़ार्गो के शब्दों में) हैं। यह समरस और असार्थक पितृदेश है। काव्य में उनके लिए एकमात्र आश्रय है, जीवन की भयावह यथार्थता से पलायन के लिए विश्राम-स्थल। उन्होंने सब ओर से आश्रय छोड़कर उसीकी शरण ली। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को छलना समझा और निष्प्राण माना। प्राण धारण करने योग्य है, इसमें उन्हें सन्देह ही बना रहा। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने हमें कोई नया नैतिक दृष्टिकोण नहीं दिया। उन्होंने विग्नी के दृष्टिकोण से ही सन्तोष कर लिया, यद्यपि उसे भी वे परिहास का रूप ही दे सके। उनकी नैतिकता सौन्दर्योन्मुखी थी। इस कथन की समीक्षा करते हुए 'एक्जिल्स केसिल' का लेखक लिखता है—"**कल्पनात्मक रसानुभूति मात्र के प्रति आग्रह होने के कारण बहिर्जगत् के प्रति वीतरागिता का आदर्श, व्यक्ति का समाज से यह पलायन-भाव एक ऐसे दृष्टिकोण को जन्म देता है जो विग्नी के निराशावाद से भिन्न है।**" (पृ० २५७-२५८)।[१]

एक प्रश्न प्रतीकवादी काव्य के भविष्य के सम्बन्ध में भी उठता है। नई-नई खोजों के कारण कवि के लिए बहिर् अथवा अन्तर्जगत् को सीधी-सादी रेखाओं में बाँधना कठिन हो गया है। परन्तु कवि के लिए निवेदन की समस्या और भी कठिन हो गई है। क्या वह धीरे-धीरे कूट लिखने लगेगा ? अथवा, क्या विज्ञान कवि की भाषा या जीवनदृष्टि को इतना प्रभावित

१. This ideal of renunciation of the experience of the outside world for the experience of the imagination alone, this withdrawal of the individual from society, did, however, give rise to an attitude quite distinct from the stoicism of Vigny. (वही, पृ० २१७-२१८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर देगा कि उसके लिए अन्तर्प्रान्तीय और पारिभाषिक शब्दों की भीड़ में से उपयुक्त शब्दों को निकालकर उन्हें प्रतीक के रूप में प्रयोग में लाना असम्भव ही हो जायगा ? इसमें सन्देह नहीं कि १८५२ ई० के बाद से यूरोपीय काव्य सूक्ष्म, अन्तर्मुख और दुर्ग्राह्य के प्रति आग्रही रहा है और उसका शैलीगत विकास भी इतना जटिल और व्यक्तिगत रहा है कि वह कुछ ही मनुष्यों के रसोद्रेक की वस्तु रह गया है। धीरे-धीरे उसने अपनी रहस्यमयी कूट-शैली का निर्माण कर लिया है और वह उसीमें कुण्डली मारकर बैठ गया है। परन्तु यह स्थिति बराबर नहीं बनी रहेगी। यह स्पष्ट है कि जीवन के सामाजिक पक्ष से निरपेक्ष होकर अन्तर्जगत् के रहस्यों में कवि काफ़ी डूब लिया और कदाचित् वहाँ उसे अब अधिक कुछ शेष नहीं रह गया है। ज्वॉइस और प्रूस्त के उपन्यासों में हम प्रतीकवाद को प्रकृतिवाद से समझौता करते पाते हैं और नये कवियों में अन्तर्मन के साथ बहिर्जगत् को देखने की भी प्रवृत्ति है। देह और मन की भूख का अनन्य सम्बन्ध है जो फ्राइड और मार्क्स को जोड़ता है। नये कवि ने इस सत्य को समझ लिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीकवादियों ने काव्य को बहुत-कुछ दिया है। वास्तव में विज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है उसने काव्य-क्षेत्र में नये अध्याय जोड़े हैं और नई सम्भावनाओं को जन्म दिया है। नये काव्यान्दोलनों में प्रतीकवाद के तत्त्व उसी तरह आत्मसात् हो जायँगे जिस प्रकार प्रतीकवाद में रोमांटिसिज़्म के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश हो गया था, अथवा टेनीसन और आरनाल्ड के काव्य में रोमांटिसिज़्म के साथ क्लासिकल तत्त्वों का विकासमान मिश्रण हमें दिखलाई पड़ता है। यदि प्रतीकवाद मानव की संवेदना को बढ़ाता है और उसे अपने प्रति अधिक-से-अधिक ईमानदार बनने की प्रेरणा देता है, तो भी उसका महत्त्व कम नहीं है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो बना रहेगा ही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या और चिन्तन

श्रीनारायण मिश्र

कवि-प्रेरणा का स्वरूप और काव्य-प्रक्रिया

साहित्य के उत्कर्ष और उसकी प्रतिष्टा के लिए सबसे अधिक हानिकारक धारणा यह है
महान् साहित्य अथवा उत्कृष्ट साहित्य का सर्जन कष्टकर साधना के बिना सम्भव है। यदि साहि
का अर्थ सूक्ष्म संवेदनाओं और उदात्त भावनाओं को सुन्दर भाषा में वाणी देना है तो यह प्रक्रि
सरल कदापि नहीं हो सकती। शब्द स्फटिक-खण्ड के सदृश होते हैं तथापि साहित्यिक कला
को उनके ही माध्यम से विशद जीवनानुभूति को सप्राण बनाना पड़ता है। सभी माध्यम क
रहते हैं और कलाकार का आधा जीवन इसीमें बीत जाता है कि वह माध्यम की कठोरता
शासन कर सके। तब कहीं जाकर वह अपनी सौन्दर्यानुभूति को रूपों में ढालने में सफल
सकता है।

उस प्रचलित धारणा में मूलतः कुछ भ्रान्ति है जो कवि को नैतिक जीवन से छुट्टी
नहीं दे देती, वरन् उसे उस आत्मानुशासन से भी अवकाश दे देती है जिसके द्वारा वह
अर्जित करता है। पूर्ण संयोजित जीवन के अभाव में चरम अभिव्यञ्जना-शक्ति सम्भव नहीं
है। जिन कहानियों और किंवदन्तियों के अनुसार लेखकों ने महान् ग्रन्थों की रचना पत्र-
की त्वरा से की है उन्हें हम हानिकारक और अविश्वसनीय मानते हैं, क्योंकि ऐसी सम्भ
एक प्रतिशत से अधिक नहीं है। शेक्सपियर, ब्लेक, जॉनसन, स्टॉक, शेली और कुछ
लेखकों के विषय में यह चमत्कार-सिद्धि उल्लिखित है और उनमें से कुछ के सम्बन्ध में यह
जाता है कि वे अपनी पाण्डुलिपियों में ज़रा भी काट-छाँट नहीं करते थे। प्रेरणा होने प
भी ऐसा कर सकता है और साहित्य का सर्जक बन सकता है। कवि की तुलना वीणा से की
है, जिसके तारों को छेड़कर अनुभूति का पवन संगीत की सृष्टि करता है। उसे केवल प्रे
प्रतीक्षा करनी होती है और उसके प्रभाव के प्रति अपने को सम्पूर्ण रूप से निवेदित क
पड़ता है। जब प्रेरणा का स्फुलिंग सुलग उटता है तो वह अग्निशिखा का रूप धारण कर
है, जब भावना की बाढ़ आती है तो वह सतत प्रवाहित, अप्रतिरोधित धारा के रूप में
हो उठती है। यह अग्निशिखा और धारा-प्रवाह स्वतः प्रसूत हैं। सर्वोत्कृष्ट काव्य भा
से निष्पन्न होता है और अनिवार्यतः वह रूप धारण करता है जिससे हम बाद में
होते हैं। सामान्यतः यह समझा जाता है कि ज्वालामुखी के तरल अग्निप्रवाह की तरह
सीधी अनुभूति की अंगीठी से गर्म निकलती है और उत्तापहीन हो जाने पर अपना दु
और शाश्वत रूप ग्रहण कर लेती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं कवियों ने प्रेरणा-सम्बन्धी इस धारणा का समर्थन किया है। उन्होंने बार-बार एक नियामक शक्ति की चर्चा की है, जिस पर उनका कोई वश नहीं और जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं की संचालिका कहकर स्वीकार किया है। प्रत्येक सच्चे कवि की यह क्षमा-प्रार्थना अथवा गर्वोक्ति रही है कि 'गीत किसीके गाता हूँ मैं।' उनमें से सर्वोत्तम कवियों ने बार-बार किसी शक्ति के हाथ में पड़कर ऐसी असमर्थता का अनुभव किया है जैसी यहूदी पैगम्बर की इन स्मरणीय पंक्तियों में है—"तब मैंने कहा, मैं न उसका नाम लूँगा, न आगे कभी उसे प्रमाण के रूप में उपस्थित करूँगा। परन्तु प्रज्वलित अग्नि की भाँति उसका शब्द मेरे अस्थि-पिंजर में बन्द होकर जलता रहा और मैं उस असहनीय को सह न सका, मौन न रह सका।" इस प्रकार अपने मस्तिष्क पर छा जाने वाले प्रवाह की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए कवियों ने अपनी प्रतिभा के दैवी उद्गम की ओर संकेत किया है और कुछ सीमा तक अपनी मनःप्रक्रिया को इस प्रकार रहस्यमण्डित रखा है कि उसमें बुद्धि का प्रवेश ही निषिद्ध है। इस दृष्टिकोण ने कवि-चेतना के इलहामी स्वरूप पर बल देकर, कि कवि को किसीका संदेशवाहक होना है, प्राचीन साहित्य के स्तर को ऊँचा रखने में सहायता दी है और इस प्रकार मानव-जाति की बड़ी सेवा की है। परन्तु जहाँ तक उसने काव्य-प्रक्रिया को रहस्य बनाकर उस वस्तु को, जिसे सभी साहित्य-निर्माताओं के अध्ययन का प्राथमिक विषय बनाना था, गूढ़ बनाया है, उसने कवि-शिक्षा-सम्बन्धी वास्तविक साधना में बहुत बड़ी बाधा भी उपस्थित की है।

कवि-प्रेरणा के प्रकृत रूप के सम्बन्ध में भ्रामक धारणा ने आधुनिक युग में कविता के मानदण्ड को नीचा किया है। विज्ञान के विकास ने आज मनुष्य को इस योग्य बना दिया है कि वह उस अध्यात्म-जगत् का परिचय पा सके जिससे कवि दैवी सन्देश प्राप्त करता है। जिन भेद-प्राचीरों के ध्वंस से प्रजातन्त्र का जन्म हुआ है उसकी प्रक्रिया में कवि का प्रेरणा-लोक भी कट-छट गया और शीघ्र ही ऐसा कुछ भी न रहेगा जिसके लिए हमें नक्षत्रों की ओर ताकना पड़े। आज कवि भवभूति के समान यह नहीं कहता कि "कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।" वह भावी पीढ़ियों को कुछ ऐसी वस्तु देने का आकांक्षी नहीं है जिसे वे चिरकाल तक धरोहर बनाकर रखें। वह नव्य चेतना को तथातथ्य रूप देकर सन्तुष्ट है, जिससे वह संवेदनशील आधुनिकों को अस्वीकृत हो सके। कवि-प्रेरणा के दैवी रूप के प्रति आस्था आज के समाज में उतार पर है। आज के कवि से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तात्कालिक क्षण के प्रति उसी प्रकार जागरूक रहे जिस प्रकार पत्रकार अथवा दल-नेता रहता है। यह कहा जाता है कि कवि उस समय तक सुन्दर रचना प्रस्तुत नहीं कर सकता और अपने समीक्षकों को रसानुभूति नहीं दे सकता जब तक वह अपने युग की हलचलों का पूर्णतया जानकार न हो। ये युगनिष्ठ समीक्षक उदार शिक्षा की उपज हैं और ऐसे नर-नारी हैं जिन्हें कुछ भी पढ़ना है, चाहे वह सूचीपत्र ही क्यों न हो। यह विशाल और सब-कुछ पढ़ने की दावेदार जनता, जिसे कवि को प्रत्यक्षतः संवेदित करना है, मुख्य रूप से तात्कालिक वर्तमान के लिए अर्थबोध चाहती है। विषय की अपेक्षा 'रूप' उसके लिए महत्त्वहीन तथा अप्रधान है और रहेगा। इसीसे आधुनिक कवि को एक प्रकार से पत्रकार बन जाना पड़ा है और किसी भी विषय के सम्पूर्ण सत्य के स्थान पर उसे सत्य का वह प्राथमिक पक्ष प्रस्तुत करना पड़ा है जो आज के देश-काल को अनुप्राणित करता रहे। उसने सामयिकता और स्पष्टता को लक्ष्य बनाया है, अपनी आँखों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से देखा है और परम्परा के अन्तिम अवशेषों से भी अपने को मुक्त कर लिया है।

जहाँ प्राचीन युग का कवि प्रेरणा के क्षणों में एक ऐसी शक्ति से आन्दोलित होकर, जो उसकी अपनी नहीं है, विश्वप्रपञ्च के नियति-चक्र के सपने को देखता था, वहाँ आज का कवि अपनी सीमित व्यक्तिमत्ता को उन कविताओं पर आरोपित कर देता है जो उसकी 'रचना' हैं। प्राचीन कवि निर्वैयक्तिक था और सच्चे योगी की भाँति व्यक्तिमुखी चिन्तन एवं व्यक्तिगत पूर्वग्रहों से अलग तथा तटस्थ रहकर अपनी अभिव्यञ्जना को शाश्वत सत्य का रूप देकर सन्तुष्ट था। आधुनिक कवि मौलिकताग्राही है, यहाँ तक कि उसमें अभिव्यञ्जना के ऐसे साधनों और शैलियों के आविष्कार का हठ है जो निःसन्देह व्यक्तिनिष्ठ हैं।

आधुनिक युग की स्वीकृति के लिए काव्य की दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त को नई व्याख्या देनी होगी। हम मन की अन्तर्निष्ठा अथवा आन्तरिक जीवन को तथ्यरूपेण मानते हैं। हमारी यह धारणा है कि मनुष्य अपनी अन्तर्वृत्तियों से प्रभावित होकर अज्ञात रूप से उन लक्ष्यों की ओर बढ़ता है जो चेतन मन में ज्ञात रूप से स्वीकृत नहीं होते। अवचेतनमूलक अन्तर्वृत्तियों का आग्रह इतना सशक्त होता है कि उसकी अवज्ञा का अर्थ है असफलता के दुर्दमनीय अभिशाप की निरन्तर पीड़ा से ग्रस्त रहना, जैसे हमने अपना भवितव्य स्वयं बिगाड़ लिया हो और अपने उच्च स्वरूप के प्रति मिथ्या सिद्ध हुए हों। उसकी स्वीकृति असन्तोष का आह्वान है, मन में नई आकांक्षाओं का द्वार उन्मुक्त करना है, निरन्तर ऊर्ध्व लोकों की ओर संक्रमण है, दूरातिदूर क्षितिज को हमारी भाव-परिधि में ले आना है। जो शक्ति व्यक्ति को आगे ढकेलती है वह इतनी 'पर' नहीं है कि वह न उसकी गति को नियमित कर सके, न उसके स्रोत और गन्तव्य को पहचान सके। अन्तर्प्रवृत्तियों से उद्भासित होने के कारण वह नितान्त व्यक्तिगत है, परन्तु साथ ही वह ऐसी बहिर्भूत शक्ति के समान है जो उसकी चेतना से बाहर किसी बिन्दु पर आसन जमाकर ध्रुवतारा की भाँति उसके जीवन का दिशा-निर्देश करती है।

कवि अपनी आभ्यन्तर प्रकृति से भावित और आन्दोलित होता है। एक ऐसी शक्ति उस पर हावी हो जाती है और उसे उँगली पकड़कर चलाती है जो अतिप्राकृत नहीं तो असामान्य तो है ही। अन्तर्वृत्तियों के माध्यम से प्रकृति कवि पर इतना दबाव डालती है कि वह स्वयं को उसके हाथों में देता है और उसके लक्ष्यों एवं प्रस्तावों को अपना भाग्यादेश मान लेता है। इस प्रकृतिगत प्रभाव के बलारोप को हम कवि की नियति अथवा उसकी 'प्रतिभा' कह सकते हैं। हम उसे चाहे जो नाम दें, इस शक्ति की अपरिहार्यता का तथ्य उसकी चेतना के नियन्त्रण से बाहर रहेगा और इस अनिवार्यता को हमें मानकर चलना होगा। हमें सदैव यह स्मरण रखना होगा कि कवि-प्रतिभा से सम्बन्धित गुप्त तथ्यों में से एक यह भी है कि उसकी बलि पर उसके दावों का अन्त नहीं है और सम्पूर्ण समर्पण से भी चरम शान्ति की उपलब्धि नहीं होती। अपनी आभ्यन्तर प्रकृति के दबाव को कवि भावना के रूप में प्रत्यक्ष करता है जो इतनी गम्भीर और शक्तिमती होती है कि उसकी सम्पूर्ण प्रकृति को आत्मसात् कर लेती है और आनन्द की अपेक्षा पीड़ा ही अधिक बनकर अनुभूत होती है। उसकी गम्भीरता और शक्तिमत्ता में पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती है और यह द्वन्द्व उसे विस्फोट-मात्र अथवा स्वप्न-मात्र बनने से रोकता है। फलस्वरूप, कवि भावुकता के उन क्षणों में उस ज्वलन्त ज्योति से ओत-प्रोत हो जाता है जिसे प्रेरणा कहते हैं और जिसके द्वारा वह विश्वान्धकार को भेद-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसीलिए ब्राउनिंग को इस लोक-भावना के विरोध में पुकार कर कहना पड़ा—

A Poet never dreams :
We prose folks do : we miss the proper duct.
For thoughts on things unseen.

कवि स्वप्न नहीं देखता। स्वप्न हम साधारण जन देखते हैं। अदृश्य को आत्मसात् करने वाली शक्ति-धारा ही हमें नहीं मिल पाती।

कवि-प्रतिभा अथवा कवि की आभ्यन्तर प्रकृति को, जिसके द्वारा दैव उसे अनुशासित करता है, हम इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत के बीच में पड़े आवरण-पट की छेदन-शक्ति कह सकते हैं। जिस अन्तःस्फूर्त्ति द्वारा यह परदा क्षीण होता है, प्रकृति का वह अंकुश जो उसे निरन्तर ऊर्ध्वाकाशों को स्पर्श करने की चुनौती देता है, उसे हम स्वयमेव लक्ष्य नहीं कह सकते। वह उसे ऐसे उद्देश्य के प्रति चैतन्य प्रदान करता है जो आनन्द, स्वार्थ अथवा सौन्दर्य से बड़ा है।

कवि की आन्तरिक प्रकृति से जिस घनीभूत भावना का जन्म होता है, वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उसके वस्तु-सत्य से संपर्कित होने का फल है। वह कवि के व्यक्तित्व और उसके परिवेश के विभिन्न धरातलों का मिलन-बिन्दु है। इस माध्यम से वह जिसे हम 'वस्तु' कहते हैं, प्रतिभासित और अन्तर्बोधित हो उठता है। जिस प्रकार भाव-बोध अनेक हैं, उसी प्रकार वस्तु-सत्य, अस्तित्व-पक्ष और प्रत्यक्षानुभूति के स्तर भी अनेक तथा विभिन्न हैं। यह अनुभूति का विषय है कि हमारी कुछ भावनाएँ उच्चतर हैं क्योंकि वे उच्चतर वस्तु-सत्य से प्रसूत हैं। उदाहरणस्वरूप किसी महान् संगीतज्ञ से हम जिस रसानुभूति की प्राप्ति करते हैं, वह सुस्वादु भोजन की रसानुभूति से उच्चतर एवं शुद्धतर है और हम यह सोचें तो ठीक ही है कि यह वस्तु चाहे जो हो, वस्तु-स्तर पर उस चीज से ऊँची है जिससे हमारी रसना तृप्त होती है। अपने चारों ओर की वस्तुओं से जो स्तर हमें प्राप्त होते हैं उनके अनुरूप हमारे भीतर भाव-बोध के स्तर का जन्म होता है और यह भाव-बोध हमें भीतरी वास्तविकता के लिए ऐसा मापदण्ड दे देता है जिसे हमें अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होता है।

सच तो यह है कि जिस शक्तिमती और गम्भीर संवेदना की अभिव्यक्ति कविता के रूप में होती है वह मानव-व्यक्तित्व के उच्चतर पहलुओं से सम्बन्धित है और उसका वस्तुगत प्रतिपक्ष वास्तविक जीवन में प्रतिभासित है। यहाँ वास्तविकता को हम गम्भीरतम अर्थों में लेते हैं। जहाँ तक कवि की ये भावनाएँ सामान्य मनुष्य की सतही भावनाओं से अधिक शक्तिमान और गम्भीरतर हैं, वहाँ तक उन भावनाओं द्वारा उद्घाटित वस्तु-सत्य जीवन और प्रकृति के सतही पहलुओं से अधिक वास्तविक होगा। अपनी शक्ति के बल पर कवि भावना के इस अन्तरंग तक पहुँचने में समर्थ होने के कारण चेतना के निगूढ़ स्तरों पर पहुँच जाता है और उस 'अवरुद्ध जीवन' का अन्वेषण करता है जो कला में अभिव्यक्ति पाने वाली संवेदनाओं का मूल उत्स है। उस गहराई तक पहुँचकर, जो हममें से बहुतेरों के लिए अज्ञात देश है, कवि उस निरुद्ध जगत् से साक्षात्कार प्राप्त करता है जो हमारे सामान्य जगत् के पीछे और परे की वास्तविकता है। इस प्रक्रिया में वह ऐसे वस्तु-क्रम की उपलब्धि करता है, जो हमारे दैनंदिन अस्तित्वमय संसार के सौन्दर्य और सत्य को अतिक्रम कर जाता है। कवि का सच्चा कार्य यह है कि वह अपनी असाधारण संवेदनशीलता द्वारा इस भाव-जगत् को उद्घाटित करे और उद्दीप्त भाव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकाय के माध्यम से उसको दूसरों पर उजागर करे।

यह वास्तविक वस्तु-क्रम, यह 'गुहा-निहित' जीवन, जिसे कवि ऊपर लाता है, अप्राकृत नहीं है। सच्चे कवि के लिए कोई द्विधा नहीं होती, उसके लिए अस्तित्व के अन्तर्बहिर् पक्षों में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। जो कुछ उसे इंन्द्रियगोचर है, उसके प्रति उसकी घनीभूत सहानुभूति प्रतिबिम्बित प्रकाश की भाँति उसके बहिर्बोध को उसके आन्तरिक जीवन का अंग बना देती है। शिशिर के तूफ़ान की भयंकरता कवि शेली के उर-अन्तराल को आच्छादित कर लेती है और उसके विरुद्ध जीवन की रहस्यमय गहराइयों में प्रतिध्वनित होती है। शेक्सपियर की पंक्तियाँ हैं—

> Night's candles are burnt out, and jocund day
> Stands tip-toe on the misty mountain-tops.

इन पंक्तियों में कवि के सरल शब्द हमारे वसन्त-स्वप्न को जगा देते हैं और साथ ही हमारे दृष्टिपथ में सौन्दर्य का सजीव आकार खड़ा कर देते हैं। हमारी स्मृति और कल्पना-शक्ति एक बार फिर बदलते हुए रंगों के वैभव को, मुखरित मौन को, उषा की हिमधौत निर्मलता और ताजगी को लौटा लाती हैं। हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है। शीघ्र ही यह अर्द्ध-ऐन्द्रिक आनन्द गम्भीरतम संवेदना में बदलने लगता है, हमारे आभ्यन्तर जीवन की गहराइयाँ उषा की गुलाबी किरनों से उद्भासित हो उठती हैं। जिस समय यह सूक्ष्म संवेदना हमारे भीतर जाग उठती है, हम वस्तुओं के विशुद्ध शाश्वत स्वरूप के प्रति अपनी एकात्मता का अनुभव करने लगते हैं और जीवन-मरण, पूर्व-पश्चिम के धुँधले प्रकाशबिन्दु अपरिसीम दिवस-ज्योति में घुल-मिल जाते हैं।

कविता का जादू सिर पर चढ़कर बोले, इससे पहले कवि के लिए आवश्यक है कि वह अखण्ड, अद्वय स्थिति का अनुभव करे और सृष्टि के गम्भीरतम जीवन-स्रोतों तक पहुँच जाय। प्रकृति की आत्मा से तादात्म्य प्राप्त करके ही कवि अपने अहं को व्यक्तिमत्ता के पाश से मुक्त कर सकता है। छविगृह में जलती हुई निष्कम्प दीपशिखा की भाँति उसे ऐसी चरम शान्ति की अनुभूति हो जाती है जो तर्क-वितर्क के परे स्वयंसिद्ध है। या यों कहिए कि उसके सामने से चेतन-अविचेतन के बीच का अन्तर्पट हट गया हो और उसकी आँखें उस कालातीत एवं सार्वभौम सत्य से प्रत्यक्षीभूत हो उठी हैं जिसे मनुष्य-मात्र पर उद्घाटित करना उसका अनन्य धर्म है। कवि अपनी अन्तरंग प्रकृति की उच्छृंखल शक्ति द्वारा शासित होकर भावमयी अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हो जाता है। इस तथ्य से उसकी प्रतिभा का रूप बदल नहीं जाता। प्रेरणा के क्षणों में उसका मन प्रकृति के गम्भीर और सूक्ष्म प्रभावों के प्रति खुला रहता है। इन प्रेरक क्षणों में कवि-प्रकृति की सहकारिणी मनःस्थिति को हम 'रसोल्लास' कह सकते हैं जिसमें आध्यात्मिक किरणों के प्रवेश के लिए चेतना पारदर्शक माध्यम बन जाती है। इस स्थिति में मन स्वीय धारणा और स्वीय चिन्तना से हटकर परे खड़ा हो जाता है और कल्पना की सघनता द्वारा खण्ड के स्थान पर अखण्ड और सम्पूर्ण बनकर तोष की प्राप्ति करता है। इस प्रकार सन्नद्ध मन में विचार एवं प्रेरणा सामान्य चेतना से बाहर से आते लगते हैं और कवि उन्हें अन्तर्ज्योति की अखण्डता में सौन्दर्यानुभूति के रूप में ग्रहण करता है।

इस साक्षात्कार की यह विशेषता है कि उसे मन के सम्मुख बहुत समय तक दृढ़ नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा जा सकता। वह लपट की तरह झपटता चला जाता है और कालानुभूति एवं कालान्तर को ध्वंसमात् कर देता है। फल यह होता है कि मनुष्य का चञ्चल मन उसे आत्मभूत नहीं कर पाता। वस्तुतः कवि भयार्त्त रहता है कि उसकी चेतना इस साक्षात्कार से मुद्रित हो, इससे पहले ही वह लुप्त न हो जाय। उसका प्राथमिक प्रयत्न यह होता है कि वह तुरन्त समाधि द्वारा उसके अतिचेतन को, प्रस्तुत किए जाने वाले इस विस्तृत आलेख को, सुरक्षित कर ले। भावात्मक सहज-बोध की यह आभ्यन्तरिक अभिव्यञ्जना एक ऐसी प्रक्रिया से प्रभावित होती है जो फोटो-पट पर बिम्ब उभारने के समान है। कवि जब अपने भंगुर स्वप्न को अपनी चेतना पर मुद्रित करने में सफल हो जाता है, जब वह प्रेरणा के अश्व पर सवार हो जाता है, तब सर्जन का प्रारम्भिक अध्याय समाप्त होता है। परन्तु ससीम के अंचल में बँधकर भी कवि का मनःस्वप्न अनु-शासित और साकार होता है। जब तक कवि का मनःकल्प छाया-नीहार अथवा स्वप्न के समान रहता है, तब तक वह उसको सम्पूर्ण विस्तार से ग्रहण नहीं कर पाता। जब तक प्रेरणा के अश्व को वल्गा नहीं लगती, कवि को यह खतरा रहता है कि वह अपने मनःकल्प को खो देगा। यदि यह मनःकल्प सर्जनात्मक प्रेरणा की परिसमाप्ति पर अतीन्द्रिय लोकों में अरूप बना रहता है तो सम्भव है कवि उसे कभी रूप नहीं दे सके। वास्तविक सर्जन की अन्तिम प्रक्रिया अंशतः कल्पना द्वारा, अंशतः भाषा की सहायता से सम्पूर्णता को प्राप्त होती है।

प्रत्येक सच्चे कवि में कल्पना-शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वह अमूर्त्त को मूर्त्त करता है, वस्तुओं को नये योगायोग देता है—ऐसे योगायोग जो मन को यथातथ्य एवं सम्भाव्य की सीमा से दूर, बहुत दूर ले जाते हैं। उसके द्वारा कवि अपने मन के भाव-सत्य और दृश्यमान जगत् के यथार्थोन्मुख सत्य में शृङ्खला स्थापित करता है। वह अपनी प्रकृति को इतनी सचाई से जानता है और विश्व-प्रकृति की एकात्मता एवं तारतम्यता का उसे इतना स्पष्ट आभास रहता है कि उन परिपार्श्वों में उसकी कल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि विकसित हो जाती है जो उसकी साधारण अनुभूति के क्षेत्र के बाहर पड़ते हैं। इस अन्तर्दृष्टि से निर्दिष्ट हो वह प्रकृति के अर्द्धोन्मीलित रहस्य को पढ़ सकता है और जिस दिशा में वह परिचालित होती है उससे उन आदर्शों की परि-कल्पना कर लेता है जिन्हें मूर्तिमान् करने में वह असमर्थ है। जिसे सामान्यतः प्रकृति कहा गया है उसके सम्बन्ध में उसके दो भाव हैं। जिस लक्ष्य की ओर वह प्रयत्नशील है उसे देखते हुए प्रकृति एक साथ सफल-असफल है और कवि न उसकी सफलता को श्रेय देता है, न विफलता से त्रस्त होता है। उसकी कल्पना स्फुट तत्त्वों का उस अखण्डता में पुनर्निर्माण करती है जो साधारण अनुभव के क्षितिज से बाहर है। जिस प्रकार हृदय की आकांक्षा अप्राप्य की ओर धावित होती है, उसी प्रकार अकल्पनीय में ही कल्पना का मुक्त प्रसार है। उसमें स्वप्न-तन्तुओं और आत्मप्रकाश से गढ़े हुए अनेक अस्तित्व समाहित रहते हैं। इसके लिए वह प्रकृति के दुष्प्राप्य और वाष्पीय अमृत-सार का उपयोग करता है, उसे तरतमता के नियमों में आबद्ध करता है। इस प्रकार गढ़ा हुआ प्रतिमान उसकी जाग्रत चेतना पर मुद्रित हो जाता है और सर्जनात्मक स्फूर्त्ति के निःशेष हो जाने पर भी उसकी पुनरुपलब्धि सम्भव है।

जब एक बार आवेशमय सहजानुभूति कवि की सर्जनात्मक कल्पना में मूर्त्तिमान् हो उठती है; जब एक बार सौन्दर्य-स्वप्न इस प्रकार आभ्यन्तर अभिव्यञ्जना प्राप्ति कर लेता है, तो वह प्रसूत होना तथा स्रष्टा से स्वतन्त्र अपनी सत्ता से जीना चाहता है। स्वतन्त्र अस्तित्व के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधनों के अभाव में वह जो हो सकता है नहीं हो पाता, न वह स्रष्टा की मृत्यु के सहस्रों वर्षों बाद दूसरों की अनुभूति में जीवित रह सकता है। वह शरीर माँगता है जिसमें वह अपना व्यक्तित्व भर सके और रह सके। जब तक कलाकार कोई स्थायी वस्तु नहीं पा लेता, जिसमें वह अपने स्वप्न को मूर्त्त कर सके और उसे अमरता दे सके, तब तक सर्जन का अन्तिम अध्याय समाप्त नहीं होता। उसे अभिव्यञ्जना का माध्यम खोजना होगा—स्फटिक खण्ड, ताम्रपत्र, स्वर-प्रवाह अथवा रंग-पट—जिसमें उसका स्वप्न बन्दी होगा और जिसके द्वारा वह सहस्रशः नक्षत्रों के सौन्दर्य से आवृत रूप-वैभव के दर्शन कर सकेगा अथवा उस प्रभात की देवी का रूप धारण करेगा जो गुलाबी परिधान पहनकर

प्राची के उत्तुंग शिखर पर तुहिन बिन्दुओं पर पग धरती मन्द उतरती दीखती है।

माध्यम द्वारा अपने मनःस्वप्न को अभिव्यञ्जित करने की प्रक्रिया में कलाकार उसकी वास्तविकता से परिचित होता है। इमरसन ने कहा है—"मैं जो अपने से नहीं कह सकता, उसे तुमसे भी नहीं कह सकूँगा।" इस 'कहने' के प्रयत्न में, भाषा के माध्यम से गम्भीर विचार अथवा भावानुभूति की अभिव्यक्ति में मन उसे अखण्डतः ग्रहण कर लेता है। अन्य किसी भी प्रकार यह सर्वग्रहण असम्भव है। भाषा के ससीम क्षेत्र में चिर वृद्धिमान वस्तु-चक्र को बन्दी करने की प्रक्रिया में, जिसमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूति का साधारणीकरण हो जाता है, कवि अपने स्वप्न की महतीयता का अनुभव करता है। अभिव्यक्ति के प्रयत्न में पीड़ा अनिवार्य है—असीम के प्रति आकांक्षी हृदय की पीड़ा, परन्तु इस प्रयत्न में सफल होने पर मानव-जीवन के चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि हो जाती है। जिसे 'कवि की पीड़ा' कहा गया है वह वस्तुतः अभिव्यक्ति के माध्यम में वस्तु-सत्य के न समा सकने की पीड़ा है।

माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया दूरदर्शक अथवा अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा 'फोकस' करने के समान है। कष्टकर प्रयत्नों के बाद ताल इस स्थिति में आता है कि दृश्य दृष्टि-पथ में तीव्रतम रेखाओं में उभर आता है। शिल्पी के मन में एक ऐसा चित्र होता है जिसे वह स्फटिक में प्रत्यक्ष और अमर करना चाहता है। छैनी-हथौड़े से वह प्रस्तर-खण्ड को काटने-छाँटने लगता है और कभी इधर, कभी उधर पत्थर को तराशता है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगेगा कि हथौड़े के प्रहारों में कोई संगति नहीं है। परन्तु उसकी आँख उस 'मूर्त्ति' पर लगी है जो प्रस्तर-खण्ड के केन्द्र में विराजमान है और जिस तक पहुँचने में वह प्रयत्नशील है। जैसे-जैसे वह केन्द्र के पास आता जाता है, वैसे-वैसे उसकी तराश सूक्ष्म होती जाती है। जब स्फटिक में से मूर्त्ति साकार होगी तो क्या वह अपनी आभ्यन्तर चेतना में प्रसुप्त 'मूर्त्ति' को आकार धारण करा सकेगा अथवा क्या वह कोई अपर या ओछी चीज होगी और उसकी विफलता का प्रतीक बनेगी? हथौड़े का अन्तिम प्रहार कलाकार के लिए आत्मोपलब्धि का अतिक्रान्त क्षण है जब वह अपनी मानसी सृष्टि से साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार संगीतज्ञ के लिए मुक्ति या आत्म-लब्धि का क्षण उस समय आता है जब अनेक यत्नों और निरन्तर प्रयोगों के बाद वह अपनी प्रिय रागिनी के स्वरूप तक पहुँच जाता है। गायक की मनःमूर्त्ति और रागिनी के स्वरूप में तादात्म्य स्थापित होने पर ही उसकी आत्मा संगीत के लोकोत्तर रस से उद्दीप्त हो पाती है। राग चमक उठता है, स्वर लौ लेने लगता है।

कलात्मक सर्जन की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए कविताओं और चित्रों के लिए प्रयुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रचना' शब्द निराशाजनक और भ्रांतिपूर्ण है। एक प्राचीन कहानी है कि ग्रीस के एक कलाकार से हेलेन का एक चित्र तैयार करने को कहा गया था और उसे यह अनुमति प्राप्त थी कि वह नगर की सुन्दरतम कुमारिकाओं का 'मॉडल' के रूप में उपयोग कर सकता था। अपनी चेतना में हेलेन की छवि को मूर्तिमान न कर उसने बौद्धिक चुनाव द्वारा दृश्यमान परिपूर्ण सौन्दर्य से चित्र की 'रचना' करनी चाही। इस प्रकार की जोड़-तोड़ वाली कृति में एकान्विता असम्भव है। सर्वहुत् भावावेश के ताप से गले बिना विभिन्न अंग कलात्मक ढंग से एकीकृत नहीं हो सकते। सच्चा कलाकार अपने चित्र को अखण्ड 'देखता' है और अपनी आभ्यन्तर चेतना में उसकी प्रतिकृति समस्त अंगोपांगों के साथ उतारता है। वह उसी समय चित्र बनाना आरम्भ करता है जब यह मनःचित्र सम्पूर्ण रूप से आलेखित हो जाता है।

अन्य कला-माध्यमों की भाँति भाषा भी कवि-स्वप्न की अभिव्यञ्जना के मूर्तिमान होने की प्रक्रिया में बाधक है। कवि की अनुभूति अपने लिए कुछ शब्द खोज लेती है और ये शब्द मिले-जुले कुछ अन्य शब्द घसीट लाते हैं तथा ये नये शब्द अनुभूति को प्रभावित करते हैं जो कालान्तर में, काव्य-सर्जन की प्रक्रिया में, स्वयं रूपान्वित होती है और रूप की व्यञ्जनाओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार नई गहराइयों तथा नई सूक्ष्मताओं का अन्वेषण करती है। जैसे-जैसे 'रूप' अनुभूति के उपयुक्त ढाँचे में बँधता चलता है, वैसे-वैसे केन्द्रीय विचार अथवा भाव के नये पहलू मन में उभरते जाते हैं। फलस्वरूप ऐसे शब्दों और वाक्यांशों के नये आरोहावरोह वांछनीय होते हैं जो कविता में आवश्यक प्रवाह एवं गतिशीलता उत्पन्न कर सकें। अनेक महाकवियों ने एक ही छन्द के साधने में अनेक दिन व्यतीत किए हैं और अकेली कविता पर वर्षों लगाए हैं। ग्रे को एकमात्र कविता में अनुभूति और 'रूप' की पटरी बिठाने में चौदह वर्ष लगे। टेनीसन को अपनी अभिव्यञ्जना को बार-बार बदलना पड़ा, यहां तक कि प्रत्येक संस्करण में पाठ बदला हुआ है। राजेटी ने उन्नीस वर्ष की आयु में 'Blessed Damosel' की रचना की, परन्तु इस रचना का पाठ आज के संस्करण से नितान्त भिन्न है। बीसियों बार उसमें संशोधन किये गए हैं और अन्त में जब कवि के मन में सुन्दरतम 'रूप' प्रादुर्भूत हुआ तो वही पहली वस्तु-सत्य की झांकी थी जिससे कवि ने आरम्भ किया था। आज तक उपलब्ध कोई भी महान् काव्य भावोद्रेक की पहली अभिव्यक्ति नहीं है। प्रारम्भिक तात्कालिक पाठ सम्पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हो सकता, क्योंकि जिस भाषा द्वारा अपरिसीम को वाणी देनी है वह जड़ और ससीम है।

तथ्य यह है कि भाषा सदैव अनुभूति के सामान्य धरातल पर चलती है और इसीसे कवि के लिए अपने असाधारण स्वप्न को वाणी देना कठिन हो जाता है। कवि की भावमय अन्तरानुभूति या तो सामान्य तल पर इतनी उतर आए कि सामान्य भाषा में उसका प्रकाशन हो सके या कवि शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग कुछ इस तरह से करे कि उनके द्वारा उसका स्वप्न चरितार्थ हो। कवि धारणातीत को धारणा में बाँधना चाहता है, अकल्पित की कल्पना करना चाहता है। वह अनभिव्यक्त को सामान्य भाषा की निश्चित रूपरेखा में अभिव्यञ्जित करना चाहता है। यदि वह असीम की अभिव्यक्ति नहीं कर सका तो उसका लक्ष्य अपूर्ण रह जायगा। चूँकि उसका उत्तरदायित्व अपने ही प्रति है, चूँकि उसकी सर्वप्रमुख आकांक्षा यही है कि वह अपने स्वप्न को मूर्त करे और उसे विस्मृति के अभिशाप से बचाए, इसीसे जो अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महानता के कारण स्पष्ट एवं संहृत अभिव्यक्ति का अधिकारी बन जाता है वही सफल कवि कहा जा सकता है। भाषा के व्यञ्जनात्मक प्रयोग से कवि कल्पना-शक्ति के तकाजे पूरे करता है, जो अंश से अंशी तक, प्रतीक से प्रतीत तक और कल्पना से धारणा तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। जब वह अपने इस आदर्शपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह कर चुकता है, तब वह यह प्रयत्न करता है कि उसकी वाणी बुद्धिगम्य हो जिससे उसका गान अरण्य-रोदन न हो जाय।

अन्य द्वारा बोधगम्य होने की उसकी सफलता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी अपने आदर्श उत्तरदायित्व के निर्वाह की सफलता। उसकी सफलता का स्रोत इसमें है कि उसे जो भावनाएँ संवेदित करती हैं वे मानव-हृदय की सामान्य सम्पत्ति हैं। उसके पाठक इन संवेदनाओं में अपनी संवेदनाओं की अनुभूति प्राप्त करते हैं, जैसे वह मानव-प्रकृति की अन्तर्भूत आत्मा हो। यदि ये संवेदनाएँ एकांततः उसीकी चीज होतीं, यदि उसकी प्रतिभा लोकोत्तर या विचक्षण होती तो वही अपने गीत का आनन्द ले सकता। उसके लिए गाना असम्भव हो जाता, क्योंकि वह सामान्य धरातल ही उसे प्राप्त नहीं होता जो अन्य मनुष्यों के लिए मिलन-बिन्दु बनता। कवि और अन्य मनुष्यों में अन्तर यह है—जबकि कवि में ये भावनाएँ प्रत्यक्ष हो उठी हैं, चेतना के प्रकाश में आ गई हैं, वहाँ सामान्य मनुष्यों के हृदयों में उनका अस्तित्व सम्भावना की भूमि पर ही है। निरुद्ध जीवन के अन्धकार में वे उस क्षण की प्रतीक्षा करती हैं जब वे प्रत्यक्ष होंगी। हम जब कविता से अनुप्राणित होते हैं तो कवि की संवेदना हम तक नहीं पहुँचती। होता यह है कि हमारे संजात संचारीभाव तीव्र से तीव्रतर होते जाते हैं और संवेदना-स्तरों को भेदकर अन्त में निरुद्ध जीवन की गहराई में उतर जाते हैं। कवि द्वारा हम एक भाव की सिद्धि में समर्थ होते हैं और तब हमें दूसरे और अधिक गम्भीर भाव का पता चलता है जो और भी गहरे भाव-बोध से निवेदित है। जो भावनाएँ कवि के लिए अर्द्धोन्मीलित हैं उनके सम्बन्ध में हम अचेत रहते हैं और कवि जिनके प्रति चेतन है उनका हमें धुँधला आभास-भर रहता है। कवि सचेतन रूप से आभ्यन्तर जीवन के अग्राह्य को मूर्त करने में सहायक होता है और इस प्रकार हमारी निरुद्ध भावनाओं को स्वरूप देता है। चाहे कितने ही असम्पूर्ण रूप में अभिव्यञ्जित हो, प्रत्येक अर्थ-बोध हमें आभ्यन्तर जीवन के अन्ध-रहस्यों में उतार देता है और हमें वही देता है जो उसने कवि को दिया है। इस तरह शब्दों की अभिव्यञ्जना-शक्ति उतनी ही महत्त्वपूर्ण और यथार्थ हो जाती है जितनी स्पष्ट बोध की शक्ति। अपने मन की मूर्ति को निखारने के सिलसिले में कवि हमारे मन की उन गहराइयों को व्यञ्जित करता है जहाँ से प्रेरणा उद्भूत हुई है। व्यञ्जना की असम्पूर्णता के कारण ही यह सम्भव है कि कविता उस अगाध वास्तविकता को प्रकट कर सकती है जिसके सम्मुख कवि, हममें से सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की तरह ही, समाधि के मौन में खो जाता है। गीतकार जब चिरन्तन के प्रति अपने गीत उठाता है तो उसे तर्क-संगति एवं अर्थ-बोध की स्पष्टता को तिलाञ्जलि देनी होती है। काल-शैल पर चढ़कर कवि कालातीत कैलाश-शिखरों की उस मेघाकार रूपरेखा की झांकी पाता है जहाँ शब्द अर्थ की बोधगम्यता और ससीम के बन्धन से मुक्त हो जाता है। केवल इसी प्रकार कविता उस असीम तक पहुँच सकती है एवं उसे ग्राह्य बना सकती है जो मन की चिरन्तन जिज्ञासा का विषय है। केवल इसी प्रकार कवि हमें उस बिन्दु की अनुभूति दे सकता है जिसकी ओर उसकी कल्पना संक्रमित है। अभिधा के विपरीत व्यञ्जना पाठक अथवा श्रोता के मन में अपरिसीम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सम्भावना विकसित करती है। अपनी शक्ति के अनुसार हम उसके सहारे कवि के साथ खोज-यात्रा पर निकल चलते हैं। वह कवि को हमारे लिए मुक्ति-दूत बना देती है और काव्य मानव-जाति की स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। वह ऐसा कोश हो जाता है जिससे प्रत्येक उत्तर पीढ़ी समाज के विकास के साथ धन संचय करती है, सर्वश्रेष्ठ कवि का स्वप्न और उसे व्यञ्जित करने वाले शब्दों के अर्थ समाज-विकास के साथ उत्तरोतर अधिक सुन्दर रूप से आत्मसात् होते जाते हैं और मनुष्य-मात्र के लिए अनन्त काल तक ज्ञान के अक्षय-स्रोत बने रहते हैं।

अध्ययन : भारतीय लेखक

रामलालसिंह

साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल

स्वस्थ मन वाले मनुष्य की प्रकृति में पूर्णता, संगति, अभेदत्व तथा समष्टि की ओर जाने की प्रवृत्ति बीज रूप में छिपी रहती है, इसीलिए वह किसी स्थान, काल की उपाधि से सीमित विशिष्ट वस्तु की सामयिक अथवा स्थानीय विशेषताओं का उतना आदर नहीं करता, जितना वह उसके सार्वभौम अथवा चिरन्तन गुणों का आदर करता है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह विशेष से सामान्य की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है। इसी प्रवृत्ति का दर्शन हमें साधारणीकरण की प्रक्रिया में दिखाई पड़ता है। इस मानवीय प्रवृत्ति को पकड़ने के कारण भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी-न-किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे यहाँ आते रहे हैं। भाव-क्षेत्र के बीच हमारी वाणी सदा भेदों को चीरकर अभेदों को ऊपर करती रही है। इसीलिए यहाँ के शास्त्रीय ग्रन्थों में साधारणीकरण की चर्चा बहुत अधिक मात्रा में मिलती है।

इस निबन्ध की प्रथम समस्या साधारणीकरण की परिभाषा, प्रक्रिया, तत्त्व और महत्त्व का विवेचन तथा तत्सम्बन्धी प्राचीन मतों का उल्लेख है, तदनन्तर उसके विषय में शुक्लजी के मत का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन है।

साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है--व्यक्तित्व का विलयन, निर्वैयक्तीकरण, सम्बन्ध-विशेष का त्याग, असाधारण का साधारणीकरण। इस प्रकार साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है, जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में दिखाई पड़ती हैं। इसमें साधारणीकरण की प्रक्रिया वह प्रक्रिया है, जिसमें सहृदय अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य या जीवन के विभावादि को सामान्यीकृत अथवा मानवीय रूप में ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया से सहृदय तथा अनुकार्य दोनों कालगत तथा स्थानगत विशिष्ट उपाधियों को छोड़कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। साधारणीकरण का व्यापार विशिष्ट भावों की वैयक्तिक अनुभूति को रस-रूप में परिणित कर देता है। यह क्रिया पाठक, श्रोता, दर्शक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि, सबके हृदय में घटित होती है। इसीको भट्टनायक भावना-व्यापार, साहित्य-दर्पणकार विभावन व्यापार, अभिनव गुप्त बीत-बिघ्न-प्रतीति व्यापार या कभी-कभी साधारणीकरण भी कहते हैं। विभावन व्यापार ही रस-प्रक्रिया की सुदृढ़ भूमिका तैयार करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधारणीकरण की प्रक्रिया में पाँच अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं। वे क्रमशः—पूर्वज्ञान (Apperception), इन्द्रियसन्निकर्ष (Preparation), अनुभूति (Perception), तुलना (Comparison) और सामान्यीकरण (Abstraction) हैं।

प्रथम अवस्था में सहृदय में काव्य-शास्त्रादि के अध्ययन तथा लोक-निरीक्षण श्रवणादि से काव्य अथवा जगत् की अनुभूतियों को समझने की शक्ति आती है। इसके बिना कोई भी सहृदय साधारणीकरण की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। भरत मुनि इसी को 'बुध' शब्द से अभिहित करते हैं।[1] उनकी दृष्टि से 'बुध' का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञानयुक्त व्यक्ति नहीं वरन् विविध अनुभवजन्य ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति है। अभिनव गुप्त निरूपित सहृदयों के लक्षण व्यासंग (अध्ययन), विकसित मन, तथा समरस होने की चित्तवृत्ति में साधारणीकरण की प्रथम स्थिति की आवश्यक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

द्वितीय अवस्था में सहृदय काव्य, नाटक अथवा प्रत्यक्ष जीवन का दृश्य रागात्मक रूप में देखता है, निज सुख-दुःखादि विवशी भावों से मुक्त होता है, क्योंकि सहृदय जब तक अपने वैयक्तिक सुख-दुःखों से आबद्ध रहेगा, तब तक वह तन्मयता की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता।

तृतीय अवस्था में सहृदय काव्य पढ़ते समय या नाटक देखते समय पात्रों को अपने दृष्ट पथ के सामने घूमता हुआ पाता है। इस समय वह उन्हें विशिष्ट देश, काल, नाम आदि उपाधियों से मुक्त रूप में देखता या अनुभव करता है।

चतुर्थ अवस्था तुलना की है। इस अवस्था में सहृदय अपने मन में आये हुए विशिष्ट उपाधियों से युक्त पात्रों को अपनी कल्पना द्वारा अपनी पूर्वोपार्जित अनुभूतियों तथा संस्कारों से बार-बार तुलना करता है। यही स्थिति तन्मयता की होती है।

अन्तिम स्थिति में उन पात्रों में पूर्वार्जित अनुभूतियों, आदर्शों तथा संस्कारों की अनुरूपता पाकर उनको उपाधिमुक्त रूप में निरूपित करता है, जिसे साधारणीकरण की स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में पात्रगत् अनुभूतियों की व्यक्तिनिष्ठता दूर हो जाती है।

साधारणीकरण का कारण मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति है, मानव-सुलभ सहानुभूति है, अथवा किसी वस्तु को एक साँचे में देखने की प्रवृत्ति है, या इसीको दार्शनिक पदावली में भेद में अभेद की ओर जाने की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

साधारणीकरण में मुख्यतः तीन तत्त्व हैं—१. कवि का लोकधर्मी व्यक्तित्व, जिससे वह अपनी अनुभूति अथवा विभावादिकों को विश्वात्मक बना देता है; २. भाषा का भावमय प्रयोग और ३. पर-प्रतीति से भरा व्युत्पन्न स्वस्थ सहृदय।

यदि कवि का व्यक्तित्व लोकधर्म का अनुकरण नहीं करता, लोकसाधारण भावों को नहीं अपनाता, तो साधारणीकरण सम्भव नहीं। कवि की रसवत्ता ही काव्य की जननी होती

१. षडङ्गनात्यकुशलाः प्रबुद्धाः शुचयः सभाः।
चतुरातोषकुशला नेपथ्यताः सुधार्मिकाः॥ 'नाट्यशास्त्र'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है; और कवि की रसवत्ता का अर्थ है—साधारणीकरण की क्षमता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारणीकरण की शक्ति के बिना काव्य-सृष्टि नहीं हो सकती। साधारणीकरण के व्यापार से ही कवि अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर साक्षात् रूप से जगत् के पदार्थों से रसमयी अनुभूति प्राप्त कर कलात्मक रूप में उसकी अभिव्यक्ति करता है। साधारणीकरण के व्यापार को अपनाये बिना जो कविता या साहित्य रचा जायगा वह वाग्जाल, शब्द-कारीगरी, अलंकार-चमत्कार कहा जा सकता है, पर काव्य नहीं। वह विस्मय, कुतूहल की सृष्टि कर सकता है पर रस नहीं उँडेल सकता। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों, हजारों क्या लाखों आदमी ग्रहण करें। जब किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता ही न रहेगी तब उसे कोई पढ़ने या सुनने क्यों जायगा? जिस कवि का स्वान्तःसुखाय सबका सुख नहीं बन सकता; जिसका चित्त, भाव, विचार, आदर्श, कल्पना, धारणा सार्वजनीन नहीं हो सकती, उसके साथ साधारणीकरण नहीं हो सकता। अतः यदि कवि को अपनी आत्मानुभूति को विश्वानुभूति बनाना वाञ्छनीय है तो उसे साधारणीकरण का व्यापार अपनाना पड़ेगा। इसी प्रकार सहृदय के भावमय व्यापार को संचालित करने के लिए भाषा का भावमय प्रयोग आवश्यक है। तीसरे, यदि सहृदय पर-प्रतीति से भरा नहीं है; किसी निजी सुख-दुःख के वेग में है, तो उसका हृदय साधारणीकृत अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता।

साधारणीकरण के कारण रस चिन्मय, लोकोत्तर चमत्कार-ज्ञानस्वरूप, सत्त्वोद्रेकयुक्त, अखण्डानन्दमय, अस्मितास्वादन रूप बन सका। इसी कारण वह भग्नावरणाचित अथवा अलौकिक कोटि का माना गया। इसी कारण रस की प्रकृति लोक सत्तात्मक कोटि की हुई। इसीसे साहित्य साध्य-परम सामाजिकता के रूप में स्वीकृत हुआ। इसी साधारणीकरण के व्यापार को अपनाने के कारण सहृदय अपनी पृथक् सत्ता का परिहार कर संसार के द्वन्द्वात्मक भावों की अनुभूति स्वार्थमुक्त रूप में करता है; अपने वैयक्तिक स्वार्थों की संकुचित सीमा से उठकर लोक-सामान्य भावभूमि में विचरण करने लगता है, जहाँ वह जाति, देश, काल की सीमा से ऊपर उठकर मानव-मात्र के सुख-दुःख, हर्ष-क्लेश, विजय-हार का स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करता हुआ अपने हृदय को विश्व-हृदय में परिणत कर देता है। जिस मनुष्य में साधारणीकरण की जितनी अधिक शक्ति सामान्य जीवन में आ जायगी, उसके हृदय का बन्धन उतना ही अधिक खुल जायगा; उसका हृदय संकोच उतना ही नष्ट हो जायगा तथा उसे मनुष्यता की उच्चभूमियों के दर्शन भी उतनी ही अधिक मात्रा में प्रतिक्षण होने लगेंगे। किसी कलाकृति में साधारणीकरण की जितनी अधिक क्षमता रहेगी, उसमें उतना ही अधिक सच्चा समन्वय, सच्ची संगति एवं सच्चे सौन्दर्य का दर्शन होगा। कलाकृति में इसी साधारणीकरण की विशेषता होने के कारण अनेक युद्धों, पराभवों एवं अवनतियों के बीच भी सहृदय जनता रंग-रथी की रंगीन स्मृतियों को कई पीढ़ियों तक सँभालकर रखती आई है; इसी विशेषता के कारण कवि के शब्दों का खिलवाड़ पीढ़ियों का पोषण एवं उत्तरदायित्व बनता आया है; इसी विशेषता को धारण कर कलाकृति सहस्र-सहस्र मानवों को नवीन जन्म देती आई है; अस्तित्ववान के अस्तित्व की साँस बनती आई है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि साधारणीकरण का सिद्धान्त तत्त्वमसि को प्रयोगात्मक रूप में चरितार्थ करता है। इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हमारे आचार्यों ने लोक-हृदय की सामान्य अन्तर्भूमि परखकर की है। यह सामान्य अन्तर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-रचना की रूढ़ि या परम्परा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन-व्यापार के बदलने वाले बाहरी रूप-रंग पर स्थित नहीं है। इसकी नींव बहुत गहरी है। इसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूल देश से है; उसकी सामान्य वासनात्मक सत्ता से है, जो देश, काल की उपाधियों से मुक्त है। साधारणीकरण का महत्त्व काव्य के प्रत्येक अंग में समाया है। इसका अभाव कवि, भावना, भाषा, कल्पना, अलंकार, सहृदय आदि जहाँ कहीं भी हुआ कि काव्य-सौन्दर्य विकृत हो जायगा।

साधारणीकरण-सम्बन्धी सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए उसके विषय में प्राचीन आचार्यों का मत संक्षेप में नीचे विवेचित किया गया है।

भट्टनायक इसके आविष्कारक हैं। इनकी दृष्टि में काव्य-सौन्दर्य, गुण, शक्ति आदि से भावकत्व व्यापार उद्भूत होता है। इसी भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण व्यापार सम्भव होता है। इसीसे विभावादिकों का रूप साधारणीकृत कोटि का हो जाता है[1], अर्थात् आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, स्थायीभाव, अनुभाव, संचारीभाव का साधारणीकरण होता है। वस्तुतः भावना-व्यापार का सम्बन्ध कवि-कर्म से है। कवि-कर्म से ही काव्य में सौन्दर्य, प्रभाव, शक्ति आदि का समावेश होता है, जिससे भावना-व्यापार सम्भव होता है। भावना-व्यापार प्रकारान्तर से कवि-कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि-कर्म का साधारणीकरण अन्तर्निहित है। भट्टनायक के साधारणीकरण में विभावादिक, विशेषतः आलम्बन के साधारणीकरण पर अधिक बल है। विभावादिक कवि की पूरी अनुभूति के प्रतीक हैं, अतः विभावादिक के साधारणीकरण में कवि की अनुभूति या कवि-कर्म का साधारणीकरण प्रकारान्तर से निहित है। विभावादिक खड़ा करना कवि-कर्म के अन्तर्भूत है। इस प्रकार साधारणीकरण में आलम्बन पर अधिक बल देकर भट्टनायक साधारणीकरण में कारयित्री प्रतिभा पर अधिक बल देते हैं।

भट्टनायक के साधारणीकरण-विवेचन में सहृदय का, कवि-निरूपित विभावादिक को सामान्यीकृत रूप में अपनी अनुभूति का विषय बनाना, उसके हृदय में सत्वोद्रेक होना, संविद् विश्रान्ति की अवस्था उत्पन्न होना, इस बात का प्रमाण है कि उसका भी साधारणीकरण होता है।

इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि, सहृदय, विभावादि सबका साधारणीकरण निहित है—यह दूसरी बात है कि वे विभावादिक के साधारणीकरण पर सर्वाधिक बल देते हैं।

इसके पश्चात् अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत साधारणीकरण में कवि, सहृदय, आलम्बन सबके साधारणीकरण की स्पष्ट चर्चा करते हैं।[2] अभिनव गुप्त के साधारणीकरण में विभावादियों के साथ सहृदय, कवि, सबका साधारणीकरण माना गया है। भट्टनायक या भट्टतौत के

१. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय-संविद्विश्रान्ति सत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः। (मम्मट के अनुसार)—'काव्यप्रकाश', चतुर्थं उल्लास

२. कवेरन्तर्गतं भावं भावयन भाव उच्यते।
नायकस्य कवेः श्रोतुः समानानुभवस्तथा ॥ —भट्टतौत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर यही है कि इनके साधारणीकरण में सहृदय के ऊपर अधिक बल है, इसीलिए वे साधारणीकरण-व्यापार को 'बीतविघ्न प्रतीति व्यापार', साधारणीकरण से उपलब्ध अनुभव को 'बीतविघ्न प्रतीति' तथा रस को 'सर्वथा बीतविघ्न प्रतीति ग्राह्यो' अभिहित करते हैं; तथा साधारणीकरण में बाधक विघ्नों में अधिकांश का सम्बन्ध सहृदय से स्थापित करते हैं।

दशरूपककार की दृष्टि में साधारणीकरण में सभी सामान्य हो जाते हैं। कवि कर्णपूर भी रसानुभूति में सबके संश्लेष पर बल देते हैं। मम्मट के मत में सम्बन्ध-विशेष का त्याग, निर्वैयक्तीकरण अथवा असाधारण का साधारणीकृत होना ही साधारणीकरण है। ये भी भट्टनायक का अनुसरण करते हुए साधारणीकरण में विभावादिक के साधारणीकरण पर अधिक बल देते हैं।

विश्वनाथ अपने साधारणीकरण-विवेचन में विभावादिक,[1] स्थायीभाव[2] तथा सामाजिक का साधारणीकरण बताते हुए आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य[3] की भी चर्चा करते हैं। साधारणीकरण में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात अलग रूप से विश्वनाथ में ही मिलती है। इसी तथ्य पर गम्भीरता से सोचने के कारण ही आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति-मात्र के साथ सहृदय का तादात्म्य होने पर शुक्लजी को भाव-विवेचन में शील दशा की बात सूझी और सहृदय को शील द्रष्टा में निरूपित कर उन्होंने साधारणीकरण की मध्यम कोटि का आविष्कार किया।

पण्डितराज जगन्नाथ साधारणीकरण को प्रत्यक्ष रूप से नहीं मानते, किन्तु रस को भग्नावरणाचित कहकर अभेद की बात द्वारा साधारणीकरण को प्रकारान्तर से मान लेते हैं।

शुक्लजी की कृतियों में साधारणीकरण की व्याख्या एक स्थान पर पूर्णरूपेण नहीं मिलती; इसीलिए उनके आलोचक किसी एक वाक्य को लेकर उड़ पड़ते हैं और उसे एकाङ्गी, संकुचित अथवा अशास्त्रीय घोषित करने का प्रयत्न करते हैं, और कुछ उसे किसी आचार्य के अनुकरण का फल बतलाने का प्रयत्न करते हैं।

रस-मीमांसा के 'काव्य का लक्ष्य' नामक निबन्ध में शुक्लजी ने साधारणीकरण में कवि, विभावाद तथा सहृदय तीनों के साधारणीकरण की बात कही है, वह उन्हीं के शब्दों में देखिए—**"जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है, वहाँ तीनों हृदयों का समन्वय चाहिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।"**[4] अर्थात् काव्य में साधारणीकरण की स्थिति लाने के लिए शुक्लजी सर्वप्रथम कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर बल देते हैं। इसे भी उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट रूप से देखिए—**"विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी** तभी यह साधारणीकरण हो सकता है।"[5] अर्थात् विषय

१. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
२. साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।
३. प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। —'साहित्यदर्पण'
४. 'रस मीमांसा', पृष्ठ ६७-६८।
५. " " " ९०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सामान्यत्व की ओर दृष्टि जाते ही कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होने लगता है, और जब तक वह सामान्यत्व का चयन तथा निरूपण करता रहता है, तब तक उसकी अनुभूति का साधारणीकरण होता रहता है। कवि की अनुभूति अथवा कवि-कर्म के साधारणीकरण पर बल देने के कारण ही वे सच्चे कवि की कसौटी, लोक-हृदय की पहचान, लोक-धर्म का निरूपण, अनेक विशेषताओं एवं विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय का चित्रण मानते हैं।[१] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कवि की अनुभूति का सामान्यीकरण कौन करता है ? शुक्लजी का उत्तर है—आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित सामान्य धर्मवाला व्यक्ति या वस्तु। जब तक आलम्बन सार्वजनीन या मानवीय कोटि का नहीं होगा, सामाजिक स्तर का नहीं होगा, तब तक वह कवि या सहृदय की सहानुभूति आकर्षित नहीं कर सकता; उसमें समानुभूति उत्पन्न नहीं कर सकता; सत्त्वगुण का उद्रेक नहीं कर सकता; सामान्य कोटि का भाव उत्पन्न नहीं कर सकता। शुक्लजी का कहना है कि जब तक किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता नहीं रहेगी, तब तक उसे कोई पढ़ने या सुनने क्यों जायगा ? फिर वे आगे कहते हैं—"जब तक किसी भाव का विषय **इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।**"[२] अर्थात् किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता, आलम्बन रूप में साधारणीकृत धर्म की प्रतिष्ठा से आती है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।[३]

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। यदि शुक्लजी केवल आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण का उल्लेख-मात्र करके रह गए होते, साधारणीकरण के स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में और कुछ चर्चा न करते, तब भी इस प्रसंग में उनके ऊपर यह आरोप लगाना ठीक नहीं होता कि उनका साधारणीकरण सम्बन्धी विवेचन एकाङ्गी है; उसमें कवि की अनुभूति अथवा पूरे कवि-कर्म का साधारणीकरण विवेचित नहीं है। वस्तुतः जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है; उसकी मानसी सृष्टि का प्रतीक है; वह पूरे कवि-कर्म से निर्मित हुआ है। काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं; वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं, किन्तु वे विशेष या व्यक्ति सामान्य के प्रतिनिधि होकर आते हैं।[४] इस सामान्य के प्रतिनिधियों के निरीक्षण, पहचान तथा निर्माण-काल में कवि ही नहीं, सहृदय-मात्र की अनुभूति का साधारणीकृत हो जाना स्वाभाविक है। इस तथ्य का समर्थन काव्य-शास्त्र ही नहीं, मनोविज्ञान भी कर रहा है। शुक्लजी ने कवियों की उच्चता साधारणीकृत अनुभूति के तारतम्य से निरूपित की है। उन्होंने वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी की श्रेष्ठता उनकी साधारणीकृत अनुभूति की मात्रा के आधार पर स्थापित की है; रीतिकालीन अधिकांश कवियों की निन्दा उनमें साधारणीकृत अनुभूति के अभाव के कारण की है। भारतीय काव्य की विशेषता

१. 'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृष्ठ ३०८-३०६।
२. " " पृष्ठ ३०८।
३. " " पृष्ठ ३१२।
४. " " पृष्ठ ३०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरूपित करते समय भी उनकी दृष्टि कवि की साधारणीकृत अनुभूति पर सर्वाधिक मात्रा में स्थित है, यह तथ्य उनकी निम्नाङ्कित पदावली से स्पष्ट है—"भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है; किसी-न-किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार को झंकार सुनाने में ही सन्तुष्ट रहे, जो मनुष्य-मात्र के भीतर से होता हुआ गया है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, स्पष्ट-अस्पष्ट रूप से अनेक बार, अनेक बातें, बलपूर्वक अनेक प्रसंगों में कही हैं।

अब शुक्लजी के साधारणीकरण सिद्धान्त के द्वितीय तत्त्व आलम्बन के साधारणीकरण पर विचार करना चाहिए, जिस पर वे सबसे अधिक बल देते हैं।[2] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शुक्लजी के आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर सबसे अधिक बल देने का कारण क्या है और वह कहाँ तक ठीक है?

समीक्षक रूप में शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे किसी भी सिद्धान्त के निरूपण में मूल तथा केन्द्रीय वस्तु तुरन्त पकड़ लेते हैं। यह बात साधारणीकरण के विषय में भी सत्य है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो यही अवगत होगा कि जीवन तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में किसी तरह की अनुभूति उत्पन्न करने में आलम्बन की सत्ता मुख्य है।[3] कवि अथवा श्रोता, पाठक आलम्बन के ही माध्यम से अपनी अनुभूति साधारणीकृत करने में समर्थ होते हैं। हमारे हृदय में प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों के सामाजिक रूप की प्रतिष्ठा सामाजिक कोटि के आलम्बनों के दर्शन, सम्पर्क, प्रत्यभिज्ञान आदि से ही होती है। कवि में भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान ये ही हैं।[4] उदात्त कोटि की सौन्दर्य-भावना जगने का अर्थ है—मन में उदात्त कोटि के आलम्बन का चित्र आना।[5] तात्पर्य यह है कि सामाजिक कोटि का भाव उत्पन्न करने के लिए सामाजिक कोटि का विभाव आवश्यक है। इसी कारण शुक्लजी भी सच्ची सहानुभूति के लिए भाव-विभाव का सामञ्जस्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं।[6] रसात्मक बोध के विविध रूप नामक निबन्ध में आलम्बन के सामाजिक स्वरूप की महत्ता पर विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष जीवन अथवा साहित्य में सामाजिक कोटि के आलम्बनों से रुचि नहीं रखता; उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ नहीं होता, वह काव्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण नहीं कर सकता; वह सच्ची कविता में रुचि नहीं ले सकता।[7] यदि साधारणीकरण में शुक्लजी के मुख्य सिद्धान्त आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण को न मानें तो फिर किसी भी प्रकार की कविता से सहृदयों का साधारणीकरण

१. 'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृष्ठ ३२४।
२. " " " ३१३।
३. " " " ३२८।
४. " " " ३३१।
५. " " " ३३०।
६. " " " ३३८।
७. " " " ३३१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुरन्त सम्भव हो जायगा।

रामवनवास के पश्चात् भरत, रामवनगमन में कैकयी को मूल कारण समझकर, उन पर बिगड़ते हैं, उन्हें भला-बुरा कहते हैं। इस आधार पर तुलसी ने कैकयी को राम-विरोधी दिखाकर उनमें आलम्बनत्व धर्म का समावेश कर दिया है, अन्यथा भरत से पाठक या श्रोता का तादात्म्य न हो पाता। साधारणीकरण में केन्द्रीय वस्तु आलम्बन का लोक-धर्मी स्वरूप है, अन्यथा सहृदय-मात्र के साथ उसका साधारणीकरण नहीं हो सकता; वह सबके भावात्मक सत्त्व पर समान प्रभाव नहीं डाल सकता; उसके आश्रय के साथ सभी सहृदयों का तादात्म्य नहीं हो सकता, फलतः रसानुभूति-प्रक्रिया में सहृदयों के व्यक्तित्व का परिहार नहीं हो सकता। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से अभिज्ञ होने के कारण शुक्लजी ने अपनी साधारणीकरण की परिभाषा में आलम्बन के लोक-धर्मी स्वरूप पर सर्वाधिक मात्रा में बल दिया है। इस तथ्य की स्पष्टता के लिए उनकी परिभाषा का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। **"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"**[1] आगे इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस तथ्य को और स्पष्ट किया है—

साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही अपने सामान्य धर्मों के कारण सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।[2]

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है, व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।[3] तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं', इसका तात्पर्य यही है कि रस-मग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है, या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है, उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।[4]

'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं', यह पदावली स्पष्ट कर देती है कि शुक्लजी साधारणीकरण में विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन), अनुभाव, संचारीभाव तथा आश्रय का साधारणीकरण मानते हैं, अन्यथा विभाव के पश्चात् आदि न जोड़ते। **"थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक-हृदय हो जाता है, उसका अपना हृदय नहीं रहता।"** ये दोनों वाक्य स्पष्ट करते हैं कि उन्हें सहृदय पाठक तथा श्रोता के हृदय का साधारणीकरण भी मान्य है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि शुक्लजी के साधारणीकरण में कवि, आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन तथा श्रोता अथवा पाठक—सबके साधारणीकरण का तत्त्व विद्यमान है। जिस

१. 'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृ० ३०८।
२. ,, ,, ,, ३१२।
३. ,, ,, ,, ३१३।
४. ,, ,, ,, ३१२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यात्मक रसानुभूति में कवि, सहृदय तथा विभावादि तीनों तत्त्वों का साधारणीकरण सम्भव होता है, उसीको शुक्लजी उत्तम कोटि की रसावस्था मानते हैं। जहाँ पाठक या आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होकर कवि की भावना या अनुभूति के साथ साधारणीकरण होता है वहाँ शुक्लजी मध्यम कोटि की रसावस्था मानते हैं।[1] जैसे कोई क्रोधी प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराधी दीन पर क्रोध की प्रबल व्यञ्जना कर रहा है, तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रागात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा, आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होगा; उसके भाव में वह लीन नहीं होगा, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शीलद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा; उसकी भावव्यञ्जना की स्वाभाविकता-मात्र का अनुमोदन करेगा। शुक्लजी के अनुसार यह प्रभाव भी रसात्मक ही है।[2] पर उनकी दृष्टि में यह रसात्मकता मध्यम कोटि की मानी जायगी। फिर इसी प्रसंग में आगे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया है कि जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित रहता है,[3] वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई-न-कोई भाव अवश्य जगा रहता है। अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, उस पात्र के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होता, वरन् वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन[4] हो जाता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य या साधारणीकरण होता है, पर यह तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।[5] शुक्लजी इसे भाव की शील-दशा मानते हैं। शील-दशा के विषय में उनकी मान्यता है कि "**वह अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है।**"[6] इसकी अनुभूति पात्रों के चरित्र-चित्रण अथवा चरित्रानुशीलन के अवसर पर होती है। इस प्रकार भाव की शील-दशा को वे मध्यम कोटि की रसानुभूति मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की स्थितियाँ हमारे यहाँ भाव अथवा भावाभास की स्थिति के भीतर विवेचित हैं। किन्तु साधारणीकरण के प्रसंग में इसका विवेचन शुक्लजी के अतिरिक्त उनके किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं किया है। अतः साधारणीकरण के प्रसंग में उनकी इस विवेचना को मौलिक मानने में किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिए। शुक्लजी की यह विवेचना साधारणीकरण की दृष्टि से मौलिक होते हुए भी अशास्त्रीय नहीं कही जा सकती। जैसा ऊपर के विवेचन से स्वयं शुक्लजी भी इसे अशास्त्रीय नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही सूक्ष्मता से विचार करने से मिलती है—(१) जिस भाव की व्यञ्जना हो उसीमें लीन हो जाना।[7] (२) जिस भाव की व्यञ्जना हो उसी भाव में लीन

१. 'चिन्तामणि' प्रथम भाग, पृष्ठ ३१५।
२. " " " पृष्ठ ३१४।
३. " " " पृष्ठ ३१४।
४. " " " पृष्ठ ३१५।
५. " " " पृष्ठ ३१४-३१५।
६. 'अभिभाषण', पृष्ठ ८४-८५।
७. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ५९-६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो न होना पर उसकी व्यञ्जना की स्वाभाविकता अथवा उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना। शुक्लजी द्वारा विवेचित उत्तम कोटि की साधारणीकरण की स्थिति लक्षण ग्रन्थों द्वारा अनुमोदित प्रथम प्रकार की रसानुभूति के भीतर आएगी तथा मध्यम कोटि की स्थिति द्वितीय प्रकार की रसानुभूति के भीतर।

साधारणीकरण की मध्यम स्थिति के आविष्कार में शुक्लजी के ऊपर दो पुस्तकों—विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' तथा शैण्ड के 'फाउण्डेशन ऑफ कैरेक्टर'—का प्रभाव जान पड़ता है। भाव-विवेचन में शील-दशा की बात उन्हें शैण्ड की उक्त पुस्तक से प्राप्त हुई। साधारणीकरण में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात उन्हें विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से मिली। 'साहित्य दर्पण' में पठित आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य वाली बात पर गम्भीरता से सोचने के कारण उसकी अपवादीय स्थिति का आविष्कार उन्होंने किया। आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली इस स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति-मात्र के साथ सहृदय के तादात्म्य होने पर तथा भाव-विवेचन में शैण्ड की शील-दशा का उपयोग करने के कारण, उक्त स्थिति में सहृदय को शीलद्रष्टा के रूप में निरूपित कर उन्हें साधारणीकरण की मध्यम कोटि की बात सूझी।

शुक्लजी की साधारणीकरण विवेचन-सम्बन्धी विशेषता के ज्ञान के लिए इस सम्बन्ध में पुराने आचार्यों से उनकी तुलना आवश्यक है। भट्टनायक साधारणीकरण का सामर्थ्य भावकत्व व्यापार में मानते हैं, अभिनवगुप्त व्यञ्जना-व्यापार में, किन्तु शुक्लजी लोकधर्म वाले आलम्बन में। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में साधारणीकरण में केन्द्रीय वस्तु आलम्बन का लोकधर्मी स्वरूप है, भट्टनायक के मत में भावना-व्यापार तथा अभिनवगुप्त की दृष्टि में सहृदयता। आचार्य भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण का मूलाधार कवि की कारयित्री शक्ति है, अभिनवगुप्त की दृष्टि में सहृदय तथा शुक्लजी की दृष्टि में आलम्बन। साधारणीकरण के स्वरूप-निरूपण में लगभग तीनों सहमत दिखाई पड़ते हैं, केवल बल में कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। कवि-सहृदय के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी, सभी का साधारणीकरण तीनों को मान्य है। इसमें भट्टनायक कवि की कारयित्री प्रतिभा पर सर्वाधिक बल देते हैं, शुक्लजी आलम्बन के लोकधर्मी स्वरूप पर तथा अभिनवगुप्त सहृदय पर। साधारणीकरण का प्रभाव—व्यक्तित्व का परिहार, सत्त्वगुणोद्रेक रसानन्द, संविदविश्रान्ति, रसास्वादन मानने में सभी सहमत हैं। सैद्धान्तिक रूप में भारतीय आचार्यों का साधारणीकरण सम्बन्धी मत मानते हुए भी, मध्यम कोटि के आविष्कार और काव्य तथा नाटक के अतिरिक्त अन्य साहित्य-रूपों के साथ इसके व्यावहारिक प्रयोग की विधि बताने में शुक्लजी की देन मौलिक कोटि की कही जा सकती है। पुराने आचार्यों ने प्रायः शृङ्गार-वीर अथवा कभी-कभी रौद्र रस को ही लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया था; शुक्लजी ने इससे आगे बढ़कर अन्य रसों के साथ इसके प्रयोग की विधि बताई। साधारणीकरण की पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए भी शुक्लजी ने आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेकर तथा उसमें अपने व्यक्तित्व का पुट देकर उसे मनोवैज्ञानिक तथा सामयिक बनाने का प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों दिशाओं में भी शुक्लजी का प्रयत्न साधारणीकरण-विवेचन के क्षेत्र में मौलिक कोटि का है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED

अनन्त चतुर्वेदी

इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

जोशीजी का उपन्यास-साहित्य में आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उपन्यास-साहित्य में पात्रों की मनःस्थिति के आधार पर पूरे उपन्यास के सूत्र इकट्ठे करके सँजोना इसी प्रतिभाशाली कलाकार की विशेषता है। जोशीजी के उपन्यासों के पूर्व तक हिन्दी-उपन्यासों की स्थिति वाह्यार्थवादी रही है। कतिपय सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं को विभिन्न घटनाओं और चरित्रों के सहारे से खड़ा कर देना, यही इन उपन्यासों का उद्देश्य रहा है। किन्तु चरित्रों की आत्मचेतना और विकृतियों के आधार पर उपन्यास के एक पूरे ढाँचे को खड़ा कर देना शायद जोशीजी के पूर्व तक किसीने भी नहीं किया। सन् '३० के साहित्यिक परिवर्तन-काल में जिन प्रमुख प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहा, उनमें यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। आधुनिक उपन्यास-साहित्य को इस प्रवृत्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। प्रेमचन्द-युग में इस प्रवृत्ति के केवल दो ही विशिष्ट कलाकार थे—जैनेन्द्र और जोशीजी।

जैनेन्द्रजी के उपन्यास एक आदर्श से आच्छादित हैं, पात्र केवल इस आदर्श को प्राप्त करने में सहायक-मात्र हैं। उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व उतना महत्त्वपूर्ण नहीं लगता जितना कि जोशीजी के उपन्यासों के पात्रों का लगता है। इस मूल अन्तर का केवल एक प्रमुख कारण है। जैनेन्द्रजी वास्तव में एक दार्शनिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने सामाजिक समस्याओं को अपनी विशिष्ट शैली से आवृत्त कर एवं पात्रों को रहस्यात्मकता का आवरण डालकर प्रस्तुत किया है। मूल में उनके उपन्यास व्यवहारगत विषमता का आधार लिये हुए हैं। उनके पात्र इस विषमता को एक रहस्यवादी ढंग से प्रकट करते हैं। बीच-बीच में इन पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की झलक भी मिलती चलती है। लेकिन केवल पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अथवा अन्तश्चेतना के नग्न-रूप को प्रकट करना उनका उद्देश्य नहीं है। यह तो उनके उपन्यासों का सहायक-मात्र है। जैनेन्द्रजी के लिए मनोविज्ञान एक साधन है, साध्य नहीं।

वस्तुतः जोशीजी के उपन्यासों के आधार कुछ अन्य तत्त्व हैं। यह मन के अन्दर होने वाली क्रिया के रासायनिक तत्त्वों के प्रकटीकरण हैं। दूसरे रूप में, वे मन के अन्दर घटित होने वाली विभिन्न मनोवृत्तियों—विकृतियों—के इतिहास हैं। वे वास्तव में कोई सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य के पोषक नहीं हैं (हालांकि सामाजिक और राजनीतिक विचार भी प्रकट किये गए हैं, किन्तु वह गौण महत्त्व के हैं)। वे तो केवल मनुष्य की चित्तवृत्ति की जो विभिन्न स्थितियाँ हैं और उनके जो परिणाम हैं, उनके ही चित्रण करने वाले हैं। उनके उपन्यासों के यही आधार हैं। अतः जैनेन्द्रजी और जोशीजी के उपन्यासों के मूल अन्तर को प्रस्तुत किया जाय तो दो बातें सम्मुख आती हैं—

(१) जैनेन्द्रजी के उपन्यास उद्देश्य (आदर्श) के साथ पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं, किन्तु मूल में उद्देश्य को ही महत्त्व देते हैं। जोशीजी पात्र के अन्तर्जगत् को प्रथम महत्त्व और उद्देश्य को गौण महत्त्व देते हैं।

(२) जैनेन्द्रजी घटनाओं द्वारा पात्र की मनःस्थिति का चित्रण करते हैं और कथानक को आगे बढ़ाते हैं। जोशीजी के उपन्यास केवल चरित्रों की विभिन्न मनोवृत्तियों (या विकृतियों)

REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उत्पन्न घटनाओं के सहारे आगे बढ़ते हैं।

इन दोनों उपन्यासकारों के ये दो मूलगत अन्तर उनके उपन्यासों को दो अलग-अलग रास्तों पर ले जाते हैं और दो विभिन्न प्रवृत्तियों को सम्मुख रखते हैं।

जोशीजी ने अपने उपन्यास 'लज्जा' (घृणामयी) के साथ औपन्यासिक क्षेत्र में पदार्पण किया और आज तक वे इस क्षेत्र को सुशोभित किये हैं। 'लज्जा' के अतिरिक्त उनके अन्य प्रकाशित उपन्यासों के नाम हैं —'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'मुक्ति-पथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' और 'जहाज़ का पंछी'। इस लेख में उनके प्रथम उपन्यासों के आधार पर ही मूल्यांकन किया गया है।

लज्जा — यह उपन्यास मूलतः एक चरित्र को लेकर चलता है और उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए विरोध और उत्तोलक के रूप में राजू और डॉक्टर साहब के चरित्र आये हुए हैं। लज्जा का चरित्र बुद्धि-व्यापार से सम्बद्ध नहीं, प्रत्युत काम की अबाध और उन्मुक्त अन्तःप्रेरणा को लेकर चलता है। केवल इस एक मूल प्रेरणा को लेकर ही उसके चरित्र की योजना की गई है और उसके वास्तविक व्यक्तित्व को उद्घाटित किया गया है। वह एक सम्पन्न परिवार में पली है, माता बच्चों की ओर से उदासीन रही है और पिता निरन्तर व्यस्त रहने वाले हैं, किन्तु उसके प्रति उन्हें विशेष अनुराग है। लज्जा की काम-चेष्टाएँ स्वल्प अवस्था से ही आरम्भ हो जाती हैं और अपने रूप से पुरुषों को मन्त्रमुग्ध करने में उसे उल्लास मिलता है। किन्तु वह किसी विशेष व्यक्ति की ओर आकृष्ट नहीं हो पाती और पुरुषों पर अपने मायावी प्रभाव की सुखद अनुभूति के पश्चात् जब वह अकेली होती है तब एक गहरा अवसाद उसके मन को घेर लेता है, रोने को जी चाहता है किन्तु वह छटपटाकर रह जाती है।

उसकी कल्पना में ऐसा मायालोक घूमा करता है जो स्वप्निल और उन्मादक वातावरण की भूमिका में चिर-युवा स्त्री-पुरुषों की अनन्त प्रेमकेलि से परिपूर्ण है। उसीके दिवा-स्वप्नों और स्वप्नों में वह खोई रहती है।

डॉक्टर से मिलने पर एक नया ज्वार उसके तन-मन में उठता है और वासनामय प्रेम की ऐसी लीलाएँ वह करती है मानो इस कार्य में वह जन्म से ही दक्ष हो। इतनी ढिठाई, इतनी चपलता, पुरुष को फँसाने के ऐसे दांव-पेच एकाएक उसने कैसे सीख लिए, इसका एकमात्र उत्तर है उसकी आन्तरिक चेतना की प्रचण्ड शक्ति, जिसने वास्तव में उसे दीक्षित किया है।

अपने भाई राजू से उसे बहुत प्रेम है, किन्तु वह न जाने क्यों आरम्भ से ही डॉक्टर से घृणा करता है। उसके साथ अपनी बहन का हेल-मेल उसे तनिक भी सहन नहीं। डॉक्टर और लज्जा के बीच वह अनेक ऐसे अवसरों पर उपस्थित हो जाता है जो उनके लिए बहुत संकटमय सिद्ध होते हैं। उसकी बढ़ती हुई घृणा भी लज्जा को बदल नहीं पाती, बल्कि उसकी जलन को देखकर लज्जा एक प्रकार से सुखी होती है। इस स्थिति में संघर्ष अनेकमुखी हो जाता है।

लज्जा समझ जाती है कि अब अन्तिम निर्णय का क्षण आ गया है। अपने भाई और डॉक्टर के बीच से किसी एक का वरण उसे करना ही होगा। उसका अन्तर्मन इस सहसा ज्ञान से कांप उठता है कि उसके भाई के लिए भी वह अन्तिम निर्णय का क्षण हो गया है और यह निर्णय निश्चित रूप से बहुत भयंकर होगा। विनाश की इस सीमा पर वह भयभीत, आहत और कम्पित होती है, किन्तु उतनी ही शीघ्रता के साथ वह स्पष्ट निर्णय भी कर लेती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजू के प्रति बाल्यकाल से चले आने वाले गूढ़, गम्भीर और श्रद्धामिश्रित प्रेम के समक्ष डॉक्टर साहब के लिए पैदा हुआ नया उबाल नहीं ठहरता। उन्हें वह तत्काल स्वयं से दूर हटा देती है।

राजू यह नहीं जानता कि अपनी बहन और डॉक्टर साहब में उसने कैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी है। वह यही जानता है कि इतने दिनों तक खुले आम उसकी अवहेलना करते हुए लज्जा, डॉक्टर की ओर निरन्तर अधिकाधिक बढ़ती ही गई है। जो कुछ वह देखता है उसमें उसे अपनी अन्तिम पराजय दिखाई देती है और इस पूर्णतम हताशा में वह भी अन्तिम निर्णय कर लेता है—आत्महत्या।

इस प्रकार जो बातें उपन्यास के आरम्भ में सीधे-सादे रूप में उठी थीं, वे पुष्ट, अन्तर्गुम्फित और विकराल होती हुई एक निर्दय नियति का रूप धारण कर लेती हैं। इस नियति का चक्र अब स्पष्ट है। राजू को आत्महत्या करनी ही चाहिए, यह उसका अनिवार्य आदेश है और राजू आत्महत्या करता है। लज्जा को अपने भाई का वरण करना चाहिए और यह आत्महत्या इस वरण पर अपनी क्रूर मोहर लगा देती है और डॉक्टर साहब! यहाँ आकर उनकी कोई स्थिति नहीं रह जाती और वे परिस्थिति-विशेष से विच्छिन्न हो जाते हैं।

लज्जा और डॉक्टर के प्रेमालाप में मनोविश्लेषण (Psycho analysis) और मानसोपचार (Psychiarry) इत्यादि की बातें उठती हैं और लज्जा अपने रोग के वास्तविक मानसिक हेतु को व्यक्त करने के लिए भरपूर चेष्टाएँ करती है। उद्दाम कामावेग और इस सुख से वंचित होने का अभाव यह उसकी दो मूल प्रेरणाएँ हैं। अन्त में वह सबसे घृणा करती है—स्वयं से, समस्त नारी-जाति से, डॉक्टर से—जो नारी द्वारा सताई हुई पुरुष जाति का प्रतिनिधि होकर भी उसे छल गया। इस प्रकार उसके जीवन में हम सर्वत्र पराजय पाते हैं। कहानी के मनोवैज्ञानिक सूत्र इस प्रकार विकसित होते हैं कि उनका परिणाम एक ध्रुव नियति का रूप धारण कर लेता है—ऐसी नियति जिसकी प्रेरणा-शक्ति स्वयं लज्जा की आन्तरिक भावग्रन्थियों में प्रस्तुत है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राजू का चरित्र अधिक सूक्ष्म, गहन और रहस्यमय तन्तुओं से बना हुआ प्रतीत होता है। उसके अन्तर्मन की प्रेरणाएँ और ग्रन्थियाँ एक गहरे छद्मवेश में उपस्थित होती हैं, जबकि लज्जा की मूल प्रेरणाएँ अपेक्षाकृत स्पष्ट और खुली हुई हैं।

उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है।

संन्यासी—यह उपन्यास नन्दकिशोर (नायक) के आत्मवक्तव्य के रूप में लिखा गया है। इसमें विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों के अन्तर्गत नन्दकिशोर के चरित्र की एक झलक प्रस्तुत की गई है।

नन्दकिशोर भरपूर पैसा पाकर भी पंडितों के समान सादगी का जीवन व्यतीत करता है। उसकी कोई विशेष रुचि नहीं है; यथार्थ जीवन की प्रखरताओं और कटुताओं का उसे कोई अनुभव नहीं है; उसमें संकल्प अथवा दृढ़ निर्णय-शक्ति नाम की कोई शक्ति नहीं। जयन्ती के प्रति अपने मन में वह एक तीव्र आकर्षण का अनुभव करता है और अपने लिए उसे यह एक नई बात प्रतीत होती है। उपन्यास में जयन्ती नन्दकिशोर के मन में प्रेमाकांक्षा का उदय करके केवल अन्तिम विध्वंस के लिए ही लौटकर आती है।

किन्तु प्रेम का यह सूत्र पुनः आगे बढ़ता है—इस बार शान्ति को लेकर! शान्ति से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्दकिशोर की भेंट अत्यन्त विचित्र परिस्थितियों में होती है। शान्ति एक पाठशाला में अध्यापिका है। क्रमशः शान्ति के साथ नन्दकिशोर की घनिष्ठता बढ़ जाती है और परिस्थितियाँ उसे शान्ति के साथ इलाहाबाद पहुँचा देती हैं और वहाँ वे पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं।

प्रयाग में नन्दकिशोर बलदेव के सम्पर्क में आता है। नन्दकिशोर और बलदेव के चरित्र पूर्णतम विरोध को प्रस्तुत करते हैं। प्रथम निश्चिन्त जीवन, दायित्वहीनता, अस्थिर जीवन-गति, प्रावृत्तिक चरित्र, स्वप्नमय जीवन और अहं के पीड़न वाला व्यक्ति है। द्वितीय जीवन की कटुतम परिस्थितियों और अनुभूतियों द्वारा विद्रोह की ज्वाला से भरा हुआ, तीखी और क्रान्तिकारी विचारधारा का व्यक्ति है। बलदेव एक ओर वर्तमान कटु सामाजिक यथार्थ का ज्वलन्त प्रतिनिधि है, तो दूसरी ओर उसका चरित्र नन्दकिशोर की अस्थिरता, संकल्प-शक्ति के अभाव और घोर अयथार्थवादिता को सुस्पष्ट बनाता है। यह वैपरीत्य द्वारा दो चरित्रों और उपन्यास की भावभूमि में संतुलन भी स्थापित करता है।

नन्दकिशोर बलदेव और शान्ति के सम्बन्ध को लेकर अपने मन में अकारण शक कर लेता है। बलदेव के प्रति उसके हृदय में भीषण घृणा और ईर्ष्या के भाव उठते हैं तथा शान्ति के प्रति उसके प्रेम में भी विष घुल जाता है। इसके द्वारा उसके घोर अहंभाव की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में उसमें प्रेम करने की वास्तविक क्षमता नहीं है। प्रेम दो व्यक्तियों, दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है। किन्तु नन्दकिशोर दूसरी आत्मा, दूसरे व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं रहने देता, उसे मानता ही नहीं। केवल वह स्वयं रह जाता है। तब प्रेम कहाँ रहता है।

शान्ति नन्दकिशोर के भाई की बातें सुनकर नन्दकिशोर को छोड़कर चली जाती है। बलदेव द्वारा शान्ति का विदा-पत्र पाकर उसका यह निर्मूल सन्देह और भी दृढ़ हो जाता है कि वह बलदेव को चाहने लगी थी और उसके प्रेम के नितान्त अयोग्य है।

जयन्ती से नन्दकिशोर का विवाह हो जाता है। कैलास से उसकी भेंट होती है। उसकी बातें उसे रहस्यमय लगती हैं और सन्देह होता है कि उसके और जयन्ती के बीच अवश्य कोई गूढ़ सम्बन्ध रहा है। एक बार कैलास जयन्ती से पर्दे के पीछे मिलकर नन्दकिशोर के शक को विश्वास में बदल देता है। नन्दकिशोर जलन और आक्रोश से उन्मुक्त होकर उनकी कोई बात नहीं सुनता, कैलास को निकाल देता है और जयन्ती को प्रताड़ित करता है।

यह विस्फोट जयन्ती को भी अन्तिम निर्णय पर पहुँचा देता है। वह चूल्हे में बैठकर भस्म हो जाती है।

विफलता, जलन, अपनी शक्तिहीनता का उत्पीड़क ज्ञान, असन्तोष और हाहाकार—यही नन्दकिशोर के जीवन में शेष रहते हैं। उसके अहं ने जिस नारकीय ज्वाला में सदा जलने के लिए उसे छोड़ दिया है, उससे वह कैसे त्राण पाए ? यथार्थ से उसका कभी कोई नाता नहीं रहा। अपनी मनोरथ-सृष्टियों में ही उसने अपना समस्त जीवन व्यतीत किया था—अब भी उसकी प्रतिक्रिया यथार्थमूलक नहीं रहती। वह संन्यासी बन जाता है, अपने नारकीय अन्तर्दाह से मुक्ति पाने के लिए, किन्तु साथ ही वह जानता है कि उसकी यह ज्वाला कभी न बुझ सकेगी।

पर्दे की रानी—इस उपन्यास की नायिका निरञ्जना चार व्यक्तियों के सम्पर्क में आती है। इनके सम्पर्क में ही उसका पूर्ण आन्तरिक व्यक्तित्व उद्घाटित किया गया है। यद्यपि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन चारों पात्रों के चरित्र की पर्याप्त झलक उपन्यास में प्रस्तुत की गई है, तथापि वे इसी आवश्यकता से सीमित हैं कि उनके द्वारा निरञ्जना के चरित्र पर ही प्रकाश पड़े। इस प्रकार इस उपन्यास की वस्तु जोशीजी के अन्य उपन्यासों की वस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक एकरूप, एकान्वित और एक-लक्ष्यात्मक है। जिन अन्तःप्रवृत्तियों के संघर्ष को इसमें व्यक्त किया गया है वे परिणामतः अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, अमिश्रित और विकसित रूप में इसमें आई हैं। अतिरिक्त वस्तु को अलग रखकर इस प्रकार इस कृति में जो सतर्क चलन किया गया है और उसे आवश्यकता की सीमा के अन्तर्गत ही रखा गया है उससे जोशीजी ही के रचना-उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यह कृति अधिक एकान्वित, अतिरिक्त विस्तार से रहित और स्वयं में अधिक सम्पूर्ण बन पड़ी है।

इसमें दो अहंवादी चरित्रों की अन्तःप्रेरणाओं के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ ही उनके विनाशक संघात को भी अंकित किया गया है।

निरञ्जना एक भयानक हीनता के भाव से पीड़ित नारी है और इसकी उत्पत्ति उस आघात के फलस्वरूप होती है जो मनमोहन ने उसके अहं पर यह उद्घाटित करके पहुँचाया है कि उसकी मां वेश्या थी और उसके पिता हत्यारे थे। इस प्रकार चोट खाया हुआ उसका अहं अधिक विक्षुब्ध और भयानक हो जाता है तथा हीनता के इस भाव से निवारण के लिए वह निरन्तर लोगों को अपने जाल में फंसाकर उन्हें नष्ट कर देने की योजना बनाती रहती है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों को वह आत्मविश्लेषण द्वारा समझ भी लेती है और उनकी भयंकरता से चौंककर उनसे बचने की इच्छा भी करती है, किन्तु अपनी अन्तःप्रेरणाओं पर उसका कोई वश नहीं, वे कठपुतली के समान उसे चलाती हैं और अन्तिम सर्वनाश होकर रहता है।

उपन्यास में आये हुए चार पात्रों के साथ उसके सम्बन्ध इसी प्रकार हैं—

(१) शीला के साथ उसका गहरा प्रेम है। शीला के अतुलित स्नेह को पाकर अपने मन में वह उसे अपनी स्नेहमयी माता का स्थान प्रदान करती है। शीला इस प्रकार उसकी माँ का प्रतीक बन जाती है। किन्तु निरञ्जना के मन में अपनी इस माँ के प्रति घोर घृणा और प्रतिहिंसा का भाव भी है, जो वेश्या थी और इस प्रकार निरञ्जना के जीवन पर कलंक और सामाजिक हीनता की एक अमिट छाप लगा गई है। यह घृणा और प्रतिहिंसा माँ की प्रतीक शीला के प्रति प्रवर्त्तित होती है और परिणाम होता है निरञ्जना के कुटिल निर्देशों के कारण इन्द्रमोहन द्वारा शीला की हत्या। इस प्रकार अपनी मृत माता से मानो वह बदला ले लेती है।

(२) इन्द्रमोहन भी उतनी ही दुर्धर्ष अन्तःप्रवृत्तियों का व्यक्ति है जितनी निरञ्जना। वह कामुक, धूर्त, मक्कार और अपनी लक्ष्यप्राप्ति के लिए कुछ भी न उठा रखने वाला ऐसा व्यक्ति है जो ऊपर से अत्यन्त सुन्दर, सुसंस्कृत और आकर्षक प्रतीत होता है। निरञ्जना और उसकी टक्कर में दोनों पक्ष समान बलशाली हैं; दोनों का नाश होता है, दोनों की विजय होती है और दोनों की हार भी। निरंजना इन्द्रमोहन को साधन बनाकर शीला को मिटा देती है, किन्तु इन्द्रमोहन निरंजना से जो चाहता था, उसे पाकर ही रहता है। इन्द्रमोहन शीला की हत्या भी करता है और इस प्रकार ट्रेन के सूने डिब्बे में निरंजना की सहमति से उसके कौमार्य को खण्डित करने का अवसर पा जाता है। यही उसके जीवन का ध्रुवतारा था और अब उसे पा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेने के बाद उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं। आत्महत्या करके वह यह सूचित करता है कि उसके जीवन की कुल एक प्यास थी—निरञ्जना के अहं को अपने अहं की ठोकर से तोड़ देना। वह मिटता तो है किन्तु निरञ्जना को मिटाकर।

(३) इन्द्रदेव के पिता मनमोहन भी निरञ्जना से प्रेम करते हैं। उनका प्रणय-निवेदन एक व्यंग्यात्मक और परिहासात्मक परिस्थिति की सृष्टि करता है। निरञ्जना उनकी मूल आकांक्षा को समझकर चौंक उठती है, किन्तु साथ ही प्रतिद्वन्द्विता में उनके पुत्र को रखकर उस वृद्ध के मन में घोर विकलता और जलन उत्पन्न कर देती है और उसमें भरपूर रस लेती है। मनमोहनजी वृद्ध हैं और निरञ्जना नवबाला, इसलिए उनका प्रणय-निवेदन भी सविशेष होता है। इसमें एक सामाजिक व्यंग्य भी सन्निहित है। मनमोहनजी हार गए, किन्तु वे इतने से ही चुप नहीं हो गए। प्रतिहिंसा की भावना से निरञ्जना के समक्ष उन्होंने उसके जीवन के एक ऐसे रहस्य को उद्घाटित कर दिया जिसकी काली छाया में वह चिरकलंकिनी बनी रहे, उसकी आत्मा निरन्तर विदग्ध होती रहे और अन्त में वह मिट जाय। वह सफल भी होते हैं।

(४) गुरुजी ने निरञ्जना के मन पर गहरा प्रभाव डाला था, किन्तु उसकी अन्तःप्रेरणाओं के उद्दाम वेग को रोकने में समर्थ न हुए। उपन्यास के अन्तिम भाग में निरञ्जना से भेंट होने पर वे उसकी और इन्द्रमोहन की अन्तःप्रवृत्तियों का स्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। लेखक का उद्देश्य इस विश्लेषण द्वारा पाठकों के समक्ष अपने पात्रों की अन्तःप्रवृत्तियों का उद्घाटन करना प्रतीत होता है।

निरञ्जना ट्रेन की घटना से गर्भवती हो गई है। इससे अपनी परिस्थिति को वह और अधिक संकटापन्न और निराशामय पाती है। किन्तु अन्त में गुरुजी इसी सत्य के आधार पर उसमें नई आशा का सञ्चार करते हैं। निरञ्जना के जीवन में प्रथम बार सुख, शान्ति और आशा के स्वर के साथ उपन्यास समाप्त होता है।

'लज्जा' और 'संन्यासी' में हम यही देखते हैं कि उनके केन्द्रीय पात्र अपनी उद्दाम अन्तःप्रेरणाओं के वशीभूत होकर और अपने अहं की असीम सत्ताकांक्षा के कारण अन्त में चूर-चूर हो गए हैं, किन्तु 'पर्दे की रानी' में यह स्थिति आने के बाद इसके विपक्ष का एक और भी सत्य प्रस्तुत किया गया है। 'पर्दे की रानी' में प्रेम के कल्याणमय पक्ष के उदय का आभास भी दिया गया है। एडलर के अनुसार मानव-जीवन का सूत्र होना चाहिए अपनी सत्ताकांक्षा को विश्व-बन्धुत्व द्वारा सीमित कर देना। यह उपन्यास में स्पष्ट नहीं, किन्तु निरञ्जना के व्यक्तित्व के लिए मोड़ में संकेतित अवश्य है। इस प्रकार एडलर का दृष्टिकोण अपनी तात्त्विक पूर्णता में प्रथम बार जोशीजी के इस उपन्यास में प्रस्तुत हुआ है। इस दृष्टि से भी यह उपन्यास उनके पिछले उपन्यासों से आगे बढ़ी हुई कृति है।

'प्रेत और छाया'—'प्रेत और छाया' की समस्या भी बहुत-कुछ 'पर्दे की रानी' की समस्या के समान है। पारसनाथ अपने पिता से यह सुनकर कि उसकी माँ व्यभिचारिणी है और वह जारज-पुत्र है, अपने व्यक्तित्व के समस्त सन्तुलन को खो बैठता है। हीनता के इस भाव से निवृत्ति पाने के लिए वह निरन्तर विकल एक स्थान से दूसरे स्थान घूमता फिरता है। वह पलायन करता है, अपने मन को अधिग्रस्त करने वाले प्रचण्ड उत्पीड़क भाव से दूर भाग जाना चाहता है, किन्तु सफल नहीं होता, क्योंकि कोई भी मनुष्य स्वयं से दूर कभी नहीं भाग सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज के प्रति उसका हृदय घोर प्रतिहिंसा के भाव से भर जाता है और उसकी नैतिकता पर आघात करने में अपूर्व पाशविक आनन्द प्राप्त करता है। अपनी माँ के प्रति उसके मन में गहरा क्रोध और हिंसाभाव है और इसीलिए वह विभिन्न स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित करके उनका सतीत्व लूटकर फिर उन्हें छोड़ देता है। इस प्रकार वह अपनी माँ के अन्याय का बदला चुकाता है। जो पतित, नीच, निपीड़ित और असहाय हैं उनके प्रति उसके मन में स्वाभाविक सहानुभूति और स्नेह उमड़ता है, क्योंकि स्वयं को भी वह उसी स्थिति में पाता है। उसकी मानवीय और संस्कृत प्रवृत्तियाँ उपयुक्त अवसरों पर उभरने लगती हैं, किन्तु अन्तिम क्षण में हर बार उसके अन्तर्मन में गहरा पैठा हुआ हीनभाव अपनी अबाध शक्ति का परिचय देता हुआ उसे कपट, आत्मपीड़न और अधःपतन के और गहरे गर्त में ढकेल देता है।

उपर्युक्त प्रायः समस्त तथ्य मंजरी के साथ उसके सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाते हैं। मंजरी को अपने ही समान बहिष्कृत और प्रताड़ित पाकर उसके साथ बन्धुत्व स्थापित कर लेता है। उसकी माँ से परिचय, माँ की मृत्यु और तत्पश्चात मंजरी के साथ सहवास के काल में मंजरी की पूर्ण समवेदना पाकर उसकी विकृतियाँ विलीन होती प्रतीत होती हैं, किन्तु उसके गर्भवती होने पर ज्योंही वह अनुभव करता है कि इस प्रकार मंजरी के साथ वह सदा के लिए बँध जायगा, त्योंही नारी-जाति के प्रति उसकी प्रतिहिंसा का पुनः विस्फोट होता है और अन्त में इस भाव के पूर्णतया वशीभूत होकर वह मंजरी को त्यागकर नन्दिनी के साथ भाग जाता है।

नन्दिनी वेश्या थी इसलिए उसे भगाने में उसका उद्देश्य विफल हो गया। इस विफलता से नन्दिनी के प्रति भी उसका मन प्रतिहिंसा और घृणा से भर गया। किन्तु नन्दिनी से ही प्रथम बार उसे अनुभव हुआ कि औरत भी उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकती है। इस पराजय से अपने अहं पर उसका विश्वास टूट जाता है। परिणामतः उसकी विकृति और भयंकर रूप धारण करके उसमें स्पष्ट विक्षेप उत्पन्न कर देती है। अब वह आत्म-सम्मान की बात करते हुए भी समस्त अपमान को चुपचाप पी जाता है। इस दयनीय स्थिति में भी उसके अन्तर्मन का कुटिल चक्र थमता नहीं। वह नन्दिनी की बहन हीरा को संगीत और शिक्षा द्वारा नन्दिनी के समकक्ष बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसे नन्दिनी के मन पर चोट पहुँचाने की आशा है। हीरा को नन्दिनी से अलग करके उसे उसका सब-कुछ लूटकर भाग जाने की पूरी योजना भी उसने तैयार कर ली। नन्दिनी हीरा से प्रेम करती थी और इस प्रकार हीरा को दी जाने वाली इस चोट का वास्तविक लक्ष्य नन्दिनी को चोट पहुँचाना था।

किन्तु घटनाचक्र उसे पुनः पिता के समक्ष उपस्थित कर देता है। उसकी माँ की मृत्यु हो चुकी है और पिता उसे अत्यन्त त्यागमयी आदर्श नारी घोषित करके स्वयं को अपराधी और पापी सिद्ध करते हुए अपने उस भयानक वक्तव्य को पूर्णतया मिथ्या करार देते हैं जिसके आघात से पारसनाथ की कहानी आरम्भ होती है। इस वक्तव्य के मिथ्या सिद्ध होते ही पारसनाथ तुरन्त अपना सन्तुलन पुनः प्राप्त कर लेता है, अपनी समस्त विकृतियों से तत्काल निवृत्त हो जाता है। रोग का मूल हेतु हटते ही वह तुरन्त स्वस्थ हो गया। अब अपने समस्त पाप-कर्मों के लिए प्रायश्चित की भावना उसे अभिभूत कर लेती है और इस दिशा में प्रथम कार्य वह हीरा को अपने पिता की स्वीकृति से अपनी पत्नी बनाकर करता है।

'प्रेत और छाया' का तात्पर्य अन्तश्चेतन के अन्धकारमय पाताल लोक में डोलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली भयंकर असामाजिक प्रवृत्तियों से है। ये प्रवृत्तियाँ कठोरता से मनुष्य का सञ्चालन तो करती हैं, किन्तु चेतना में आने का उन्हें साहस नहीं होता। चेतना के निर्बल क्षणों में यदि कभी अवसर मिला तो वह वहाँ पहुँच जाती है, किन्तु छद्मवेश में। इसी प्रकार पारसनाथ अपने को समाज से बहिष्कृत समझकर 'अपराध और पाप' के अन्धकारमय जगत् का अधिवासी समझने लगता है। उस जगत् में ही वह रह सकता है और सामाजिक जगत् में आने का उसे साहस नहीं। इस प्रकार 'प्रेत और छाया' एक रूपक है जो पारसनाथ के विकृत जीवन का निर्देश करता है। 'प्रेत और छाया' अन्धकार में ही बसती हैं। इसी प्रकार एक विशिष्ट भाव से प्रताड़ित पारसनाथ भी अधःपतन, अपराध और पाप के जगत् में ही बस सकता है। नन्दिनी से प्रेम करने पर वह कहता है कि मैं प्रेत हूँ, तुम छाया अर्थात् वह उन व्यक्तियों से ही प्यार करता है जिनकी स्थिति उसे अपने समान प्रतीत होती है। समाज से भागकर भी वह अकेला नहीं रहना चाहता। पाप की दुनिया में और साथी बनाकर उसे प्रसन्नता होती है।

निर्वासित—महीप कवि है—पहले सुकुमार भावनाओं का और अब क्रान्ति की आग उगलने वाला। वह सब तरह सुयोग्य है किन्तु कद और स्वरूप में बालक जैसा प्रतीत होता है। उसकी यह विशेषता हर क्षेत्र में उसे विफल बनाती है। कविता के क्षेत्र में क्रान्ति की आग उगलकर, प्रेम के क्षेत्र में नारियों पर विजय पाकर, जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक तुच्छताओं के परे उच्च आदर्श को अपनाकर, प्रत्येक विधि से वह अपना बड़प्पन सिद्ध करना चाहता है। उसके इन रूपों और उनके पीछे संचित भावावेश की प्रचण्ड शक्ति का स्पष्ट परिचय पाकर कभी-कभी अन्य व्यक्ति—और विशेषतः नीलिमा—उसके व्यक्तित्व की महानता से प्रभावित हो उठते हैं और ऐसे क्षण महीप के जीवन के सबसे महान् उल्लास के क्षण बनते हैं। किन्तु ये क्षण ही रह जाते हैं और उसका अनिवार्य बबुआ रूप ही अन्य लोगों के समक्ष यथार्थ बना रहता है। परिणामतः रमा और सुषमा ने तथा नीलिमा ने भी उससे प्रेम किया, किन्तु अपने सहचर पुरुष के रूप में नहीं, प्रत्युत् उसे एक सुन्दर बालक समझकर।

ठाकुर साहब की दुर्धर्षता से टकराकर वह अपनी हीनता का, अपने छोटेपन का और गहरा अनुभव करता है। प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या उसके मन में उठती है किन्तु ठाकुर साहब का सामना करने की शक्ति वह स्वयं में नहीं पाता। केवल नीलिमा ही ठाकुर साहब को पराजित कर सकती है, किन्तु नीलिमा का मन भी दो विपरीत तत्त्वों से निर्मित प्रतीत होता है। जिसे वह प्रेम करती है वह उसे सहन नहीं और जो उसे सहन नहीं उसे वह प्रेम करती है। दो पुरुष उसे मिलते हैं, किन्तु दोनों अधूरे। वह किसे चुने ? इस विकल द्वन्द्व में वह अनेक ऐसे कार्य करती है, जो उसे कभी ठाकुर साहब की ओर झुका हुआ दिखाते हैं और कभी महीप की ओर। वह चुन नहीं सकती, किन्तु उसे चुनना ही होगा और वह ठाकुर साहब का वरण करती है। इस वरण में उसकी माँ की प्रबल आन्तरिक इच्छा और अपनी माँ के प्रति उसके प्रबल प्रेम का भी महत्त्वपूर्ण योग है।

ठाकुर साहब के समक्ष नीलिमा और महीप दोनों पराजित होते हैं। वे दृढ़ संकल्पी, कठोर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी साधन का उपयोग करने वाले, निर्भय व्यक्ति, हत्यारे, स्त्रियों को अपनी भोगवृत्ति का साधन बनाकर नष्ट कर देने वाले, अपनी प्रजा के शोषक जमींदार हैं। वे एक वर्ग के प्रतीक हैं और उनका मनोविज्ञान उस वर्ग का मनोविज्ञान है, इसी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए नीच और दुश्चरित्र होने पर भी उनके चरित्र की रूपरेखा अत्यन्त स्पष्ट रूप में उभर आई है और उनके कार्यों में शोषक-वर्ग का चरित्र प्रतिबिम्बित है।

महीप, नीलिमा और ठाकुर साहब की प्रणय त्रिकुटी के नीचे एक ज्वालामुखी विद्यमान है और वह है शारदा देवी का चरित्र। शारदा देवी ऊपर से अत्यन्त शुष्क और दुर्बल प्रतीत होती हैं, किन्तु उनके मन में उतनी ही भयानक प्रतिहिंसा सुलग रही है। यह प्रतिहिंसा ठाकुर साहब के विरुद्ध है, क्योंकि वे उसकी बहन को अपने प्रेम-जाल में फँसाकर अन्त में उससे पीछा छुड़ाने के लिए उसकी चुपचाप हत्या कर देने वाले व्यक्ति हैं। दूसरी स्त्रियों के साथ भी उन्होंने ऐसा किया है। सब-कुछ जानते हुए भी स्वयं शारदा देवी उनके प्रेमजाल में फँसी हैं, किन्तु मानो प्रतिहिंसा के लिए ही वे जी रही हैं। अपने और ठाकुर साहब के बीच इस व्यक्तिगत सम्बन्ध को उन्होंने सामाजिक रूप दे दिया है और निम्न-मध्यम वर्ग की क्रान्ति का सिद्धान्त निर्मित किया है। क्रान्ति की यह धारणा वैयक्तिक अनुभव से उत्पन्न होती है और बाद में उसे तर्कयुक्त बनाया जाता है।

महीप अपने बबुआ रूप और तज्जनित हीनभाव से निवृत्ति पाने के लिए एकदम महान् महत्त्वाकांक्षा को ले बैठता है। शारदा देवी की प्रेरणा के आधार पर वह एक क्रान्तिकारी दल का संगठन करता है। वह जब निष्क्रिय था तब भी नीलिमा उसकी प्रेरणा थी और उसे पाने की आशा उसके मन में बनी हुई थी और क्रान्तिकारी बन जाने पर भी नीलिमा ही उसकी प्रेरणा है, यद्यपि उसे पाने की आकांक्षा अब मिट गई है।

इस उपन्यास की रूपरेखा जोशीजी के पिछले सभी उपन्यासों से अधिक जटिल है और उनके द्वारा उठाई गई मानव-जीवन की समस्याओं ने अधिक व्यापक रूप धारण कर लिया है। इसके पूर्ववर्ती उपन्यासों में वे मूलतः एक चरित्र को ही लेकर उसका विशद विश्लेषण प्रस्तुत करते रहे हैं। किन्तु 'निर्वासित' के पात्र तुलनात्मक महत्त्व में एक-दूसरे के अधिक समीप हैं। उनके आन्तरिक द्वन्द्व के साथ अनेक विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के बीच घात-प्रतिघात द्वारा औपन्यासिक वस्तु अन्तर्मन के अतल कूप से उठकर सामाजिक संघर्ष के धरातल पर उभर आई है और इस प्रकार यह उपन्यास वस्तु की दृष्टि से अधिक समृद्ध, द्वन्द्व एवं आरोह-अवरोह की दृष्टि से अधिक स्पन्दनशील तथा सजीव और विश्लेषण की दृष्टि से अधिक अर्थवाही हो उठा है। इतनी जटिल पृष्ठभूमि को सफलता के साथ एक सुदृढ़ और गतिमान रूप में गूंथ कर विशुद्ध कला-पक्ष में जोशीजी ने एक नया उन्नयन प्राप्त किया है।

मुक्तिपथ—इस उपन्यास के प्रकाशन से जोशीजी की औपन्यासिक कला में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित हुआ है। इसमें वे स्पष्ट रूप से एक आदर्श को, जो गांधीवाद से प्रभावित है, लेकर चले हैं। पात्रों में रहस्यात्मकता का कम होना, चरित्रों में सेक्स-भावना की न्यूनता, बुर्जुआ की क्रान्ति के विरोध में गांधीवादी सामूहिक सर्वोदय की भावना का आना ये इस उपन्यास की विशेषताएँ हैं, जिनसे यह आभास होता है कि जोशीजी में आन्तरिक परिवर्तन हो रहा है। इस बात के प्रमाण उनके अगले उपन्यास 'सुबह के भूले' और 'जिप्सी' भी हैं।

राजीव एक बी० ए० पास बेकार नवयुवक है। यह नवयुवक एक क्रान्तिकारी की हैसियत से अण्डमान जेल जाने के पश्चात् अब लौटा है और एक नौकरी की खोज में है। लखनऊ में दूर के रिश्ते के एक भाई उमाशंकरजी के यहाँ वह टिका हुआ है जो सरकार में उच्चपदाधि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारी भी हैं। इन भाई के परिवार में उनकी पत्नी के अतिरिक्त एक रिश्ते की विधवा बहन भी है, जिसने परिवार के समस्त बोझ को अपने कन्धे पर उठा लिया है। यह नारी सुनन्दा राजीव के जीवन के प्रति आस्था रखती है और अपनी सहानुभूति प्रकट करती हैं। एक दिन चर्चा में राजीव इसी सुनन्दा को परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करने भी प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा को ग्रहण करने के बाद सुनन्दा में एक परिवर्तन लक्षित होने लगता है—उसके स्वभाव में भी, कार्य में भी। उमाशंकरजी की पुत्री प्रमिला राजीव के प्रति उसके गहरे स्नेह को देखकर उसे एक दिन सदैव के लिए राजीव के साथ कर देती है। राजीव उसे लेकर एक शरणार्थी बस्ती में बस जाता है जहाँ वह सुधार की नई आदर्शवादी योजना पर कार्य प्रारम्भ कर देता है और बहुत हद तक सफलता भी प्राप्त करता है। किन्तु यह बाह्य सफलता सुनन्दा के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि उसका हृदय जैसा पहले सुना था वैसा ही अब भी है और अन्त में एक दिन इसीलिए उसे राजीव का साथ छोड़कर चल देना पड़ता है।

इस उपन्यास की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) इसमें व्यक्तिगत प्रश्नों की अपेक्षा एक सामूहिक विकास और उसकी महत्ता पर बल दिया गया है।

(२) इसमें प्रथम बार पुरुष एक दृढ़ व्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ है जो निरन्तर अपनी मन की भ्रान्ति से न लड़कर एक सुस्पष्ट विकास के लिए सचेष्ट है। वह केवल अपनी भावना में मग्न नहीं रहता, दूसरों की भी चिन्ता करता है।

(३) इसमें पुरुष और नारी की अकर्मण्यहीनता, आलस्य सभी के विरुद्ध प्रबल प्रयत्न है।

(४) इसमें मनोवैज्ञानिक ऊहापोह जोशीजी के सभी उपन्यासों से कम है।

(५) इसमें एक क्रियात्मक आदर्श की ओर मानवता को प्रेरित किया है जो अभी तक उनके किसी भी उपन्यास में इतने स्पष्ट रूप से नहीं आई।

नैतिकता, अहिंसा, सामूहिक विकास-योजना के साथ सर्वोदय की भावना में विश्वास इस उपन्यास की विचारधारा के अन्य तत्त्व हैं जिनसे वह प्रभावित है।

जोशीजी के उपन्यासों के विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि उनके छः उपन्यासों में से चार का सम्बन्ध पुरुष के मन का विकृत अहंवाद है और दो उपन्यासों का सम्बन्ध नारी के मन की विकृति से है। दूसरे रूप में यह भी अहंवाद का एक रूप है।

जोशीजी का विश्वास है कि चरित्र जिस रूप में जगत् के सामने आते हैं उनका वह रूप वास्तविक नहीं होता अर्थात् मनुष्य जैसा ऊपर से दीखता है, आन्तरिक रूप से वैसा नहीं होता। वह मूलतः चेतनबुद्धि से परिचालित नहीं होता, किन्तु उसे जीवन में प्रवर्तित करने वाली वास्तविक प्रेरणाएँ उसके अन्तश्चेतन में निवास करती हैं, इसीलिए ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्य अपनी समझ से कोई विशेष संकल्प ले चुका है, किन्तु उसकी आन्तरिक शक्तियाँ उसे उस संकल्प की ठीक विपरीत दिशा में प्रवर्तित कर रही हैं।

व्यक्तित्व के बाह्य स्तर को चीरकर उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करना अपने उपन्यासों में जोशीजी का प्रधान लक्ष्य रहता है। स्वभावतः उनके उपन्यास विश्लेषणात्मक, मनोवैज्ञानिक और चरित्रमूलक होते हैं। उपन्यास के प्रधान चरित्र को वे अनेक परिस्थितियों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनाचक्रों से पार होता हुआ दिखलाते हैं। पाठक उसके सम्बन्ध में अपनी एक प्रारम्भिक धारणा बना लेता है, किन्तु एक स्थिति पर आकर इस चरित्र की मूल मनोवृत्तियों का उद्घाटन आरम्भ हो जाता है और पाठक उसके विकल अन्तर्मन्थन की झाँकी पाता है। यह आन्तरिक विवशता बढ़ते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है और उस मनोवैज्ञानिक क्षण में नायक के वास्तविक व्यक्तित्व, उसकी मूल अन्तःप्रेरणाओं का पूर्ण उद्घाटन हो जाता है। यह उनके उपन्यासों की रचना और विकास की रीढ़ है।

जोशीजी के पात्रों की मूल प्रवृत्ति दो हैं—अहं और हीनता की भावना। हीनता की भावना के कारण ही अहं की उत्पत्ति होती है। सारे पुरुष एवं नारी-पात्र इसी हीनता ग्रन्थि और अहंवाद से परिचालित होते हैं। पुरुष पात्रों द्वारा इस अहं की अभिव्यक्ति प्रचण्ड रूप में हुई है। ये पात्र नारी पर अपना स्वत्व पूर्ण रूप से चाहते हैं। नारी के अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व जैसी किसी वस्तु की एक झलक भी उन्हें सहन नहीं हो सकती, मानो जिसे वे प्रेम करते हैं उसे पूर्णतया अपने अहं से आच्छादित किए बिना वे नहीं रह सकते और प्रिय पात्र के रूप में मानो उनका अहं ही अधिक विस्तार प्राप्त करता है। प्रिय पात्र उनके व्यक्तित्व का एक अंग-मात्र है, स्वयं में कुछ नहीं। वास्तव में प्रेम करने की इनमें क्षमता नहीं है। प्रेम दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है, किन्तु ये पात्र दूसरी आत्मा अथवा दूसरे व्यक्तित्व को मानते ही कहाँ हैं?

सच तो यह है कि जिस अहं के वशीभूत हो पात्र दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न करते हैं, यहाँ तक कि दूसरे की सत्ता मिटा डालने पर भी तुल जाते हैं, उनका यह अहं अन्त में टूटकर ही रहता है। कोई भीषणतम आघात उनके इस अहं को तोड़ देता है। जोशीजी ने एक स्थल पर लिखा है—**"मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंवाद की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', इन पाँच उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टि को अपनाया है।"**[1]

इस अहं के साथ ही ये पात्र भयानक हीनता-ग्रन्थि से पीड़ित होने वाले व्यक्ति हैं और वे निरन्तर इस हीनता के भाव से अपने-आपको छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं और रहस्यमय तथा अटपटे कार्य करते हैं। 'पर्दे की रानी' की निरञ्जना यह सुनकर कि उसकी मां वेश्या थी और पिता हत्यारा, इस भाव से अभिग्रस्त होकर तद्जनित हीनता की भावना से उत्पीड़ित होती हुई अपने आहत अहं की क्षतिपूर्ति के लिए विवश विकृतिमय जीवन में अग्रसर होती है। इसी प्रकार 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ भी अपने पिता से यह सुनकर कि उसकी मां व्यभिचारिणी है और वह जारज-पुत्र है, अपने व्यक्तित्व के समस्त सन्तुलन को खो बैठता है। हीनता के इस भाव से निवृत्ति पाने के लिए वह निरन्तर विफल एक स्थान से दूसरे स्थान घूमता फिरता है। अन्तर्मन में गहरा पैठा हुआ यह हीन भाव ही अपनी अबाध शक्ति का परिचय देता हुआ उसे कपट, आत्मपीड़न और अधःपतन के और गहरे गर्त में ढकेल देता है। 'निर्वासित' का महीप एक सफल कवि है और सब तरह योग्य है, किन्तु कद और स्वरूप में बालक जैसा प्रतीत होता है। यह पात्रहीनता की भावना से ग्रसित होकर, कविता के क्षेत्र में क्रान्ति की आग उगलकर, प्रेम के क्षेत्र में नारियों पर विजय पाकर, जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक तुच्छताओं के परे उच्च आदर्श को अपनाकर प्रत्येक विधि से अपना बड़प्पन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है,

१. इलाचन्द्र जोशी, 'विवेचना', पृ० १२४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु कहीं भी सफल नहीं होता। जोशीजी के अधिकांश पात्र इसी हीनता-ग्रन्थि से पीड़ित हैं।

'लज्जा' और 'संन्यासी' में हम यही देखते हैं कि उनके केन्द्रीय पात्र अपनी उद्दाम अन्तःप्रेरणाओं के वशीभूत होकर और अपने अहं की असीम सत्ताकांक्षा के कारण अन्त में चूर-चूर हो गए हैं, किन्तु 'पर्दे की रानी' में यह स्थिति आने के बाद इसके विपक्ष का एक और भी सत्य प्रस्तुत किया गया है। एडलर के अनुसार व्यक्ति के जीवन में दो मूल प्रेरणाएँ रहती हैं। शारीरिक अथवा अन्य किसी हीनता के कारण उसमें एक जन्मजात हीनता का भाव रहता है। उसके निवारण के लिए वह महत्ता का एक कल्पित लक्ष्य स्थापित करता है और उसकी समस्त जीवन-योजना उस लक्ष्य की प्राप्ति की ओर निरन्तर क्रियाशील रहती है। दूसरों पर हावी होकर, उन पर प्रभुत्व स्थापित करके वह स्वयं को यह विश्वास दिला देना चाहता है कि वह वास्तव में हीन और दुर्बल नहीं, किन्तु महान् और सर्वशक्तिमान है। यह है व्यक्ति का अनिवार्य अहंकार, किन्तु व्यक्ति यह भी अनुभव करता है कि समाज के बिना उसका अस्तित्व सम्भव नहीं और अस्तित्व की इच्छा प्रत्येक जीवधारी की मूल अन्तःप्रेरणा है। इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक सहयोग और सामाजिक प्रेमभाव की आवश्यकता भी अनुभव करता है। इस प्रकार व्यक्ति में एक ओर होता है उसे समस्त दुनिया के विरुद्ध स्थापित करने वाला दुर्धर्ष, ज्वलनशील, सत्ताकांक्षी और विनाशक अहं और दूसरी ओर सहयोग में सामाजिक त्यागमूलक और समाज से अनन्य बनाने वाली विश्वबन्धुत्व की भावना। अहं और प्रेम इन दो पक्षों में से 'संन्यासी' में हम केवल समाजविरोधी और विनाशक अहं की लीला ही देखते हैं। किन्तु 'पर्दे की रानी' में इससे आगे बढ़कर प्रेम के कल्याणमय पक्ष के उदय का आभास भी दिया गया है। एडलर के अनुसार मानव-जीवन का सूत्र होना चाहिए। अपनी सत्ताकांक्षा को विश्वबन्धुत्व द्वारा सीमित कर देना वह उपन्यास में स्पष्ट नहीं, किन्तु निरञ्जना के व्यक्तित्व के नये मोड़ में संकेतित अवश्य है। इस प्रकार एडलर का दृष्टिकोण अपनी तात्विक पूर्णता में प्रथम बार जोशी जी के इस उपन्यास में प्रस्तुत हुआ है।

उनके सभी पात्र सुगम्भीर होते हैं, उनका बौद्धिक स्तर सामान्य से ऊपर रहता है, अधिकांश में बढ़ी हुई आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति और क्षमता रहती है। प्रायः अपनी प्रवृत्ति को पहचान लेने पर भी उनके विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर पाते और आत्मविश्लेषण के साथ उनमें बहुधा दूसरे व्यक्तियों को देखकर उनके अन्तर्मन की गोपनमूलक प्रेरणाओं को पहचान लेने की शक्ति भी पाई जाती है।

जोशीजी मूलतः व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं। प्रायः एक ही व्यक्ति—ऐसा व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व अनेक मानसिक और यौनवर्जनाओं से कुण्ठित और विघटित हो गया है—उनके उपन्यासों का केन्द्र रहता है। किन्तु जोशीजी "सामाजिक परिपार्श्व को और उसमें काम करने वाली जानी हुई पूर्वानुमेय शक्तियों को उचित महत्त्व नहीं देते। व्यक्ति महान् है तो इसलिए कि वह सर्वथा अननुमेय, स्वच्छन्द और अनियमित है, वरन् इसलिए कि वह एक अनुमेय और नियमित सामाजिक परिपार्श्व में रहते हुए भी उसे परिवर्तित करता है और नई दिशाएँ तथा नई गति दे सकता है। परिपार्श्व के साथ उसके अन्योन्याश्रय को न देखने का परिणाम सम्पूर्ण, पराजय और निराशावाद हो सकता है और वास्तव में इलाचन्द्रजी के उपन्यासों में यह परिणति हुई है। 'संन्यास' से 'निर्वासित'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक का विकास इसे सूचित करता है।"[1]

पुरुष पात्र—जोशीजी ने एक स्थल पर लिखा है—"वीर नायकों की गाथा लिखने वाले उपन्यासकारों की कमी नहीं है, पर दुर्बल-स्वभाव व्यक्तियों को कथानायक बनाने का सौभाग्य अकेले मुझे ही प्राप्त है।"[2] उनकी यह स्वीकारोक्ति अंशतः सत्य है। उनके प्रायः सभी पात्र निष्क्रिय हैं और अपने-आपमें डूबे रहने वाले, अकर्मण्य, आलसी तथा अस्वस्थ जीवन बिताने वाले हैं और आर्थिक रूप से दूसरों पर आवलम्बित हैं। यथार्थ से इन पात्रों का कोई नाता नहीं रहता। अपनी मनोरम सृष्टियों अथवा विकृत कुण्ठाओं में ही ये अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये पात्र प्रायः परिवार के बन्धन से मुक्त स्वच्छन्द विचरण करने वाले प्राणी हैं। प्रेम करना उनका मुख्य कार्य है। एक साथ वे तीन-तीन, चार-चार नारियों से प्रेम करते हैं। किन्तु वास्तव में वे नारियों को अपने व्यक्तित्व से आच्छादित कर देना चाहते हैं, अपने अहं की तुष्टि के लिए उनसे खेलते हैं, वास्तव में प्रेम वे नहीं करते। अन्त में वे अपनी प्रेमिकाओं को धोखा भी देते हैं।

पुरुष पात्रों की उपर्युक्त प्रवृत्तियों को देखकर ही एक आलोचक ने शिकायत के लहजे में लिखा है—"इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में कुण्ठाग्रस्त पात्रों के रुग्ण मानस को औचित्य प्रदान करके उनके जघन्य और असामाजिक कृत्यों को महिमा-मण्डित करने का प्रयत्न है। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' आदि उपन्यासों में पाठकों को ऐसे ही पात्रों का चित्रण मिलता है। जोशीजी के पात्र हीन-भावना, मातृरति, स्वरति, आदि मानसिक विकृतियों के शिकार होते हैं। इस अवस्था में वे नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करके पूर्ण स्वच्छन्दता से अपने पाशविक और हिंसक रूप में समस्त मानवीय सम्बन्धों को ठुकराते हुए केवल अपनी स्वार्थसिद्धि और भद्र-अभद्र नारियों के साथ काम-तृप्ति करते फिरते हैं।"[3]

नारी पात्र—जोशीजी के नारी पात्रों की अपनी विशेषताएँ हैं। वे जैनेन्द्र की नारियों की भाँति आत्महनन करने वाली नारी नहीं हैं और न वे पति की दासी ही प्रमाणित होती हैं, बल्कि पति या प्रेमी के पशुबल के विरुद्ध अपना विरोध स्पष्ट घोषित करती हैं। लज्जा अपने भाई की इच्छा के विरुद्ध भी डॉक्टर से प्रेम करती रही और भाई की मृत्यु का कारण बनी। 'प्रेत और छाया' में मञ्जरी और नन्दिनी दोनों ही पारसनाथ को उसके पशुबल के कारण आजन्म क्षमा नहीं कर पातीं। वे अन्त तक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किए रहती हैं। 'संन्यासी' की शांति का भी यही रूप है और 'निर्वासित' की नीलिमा तथा प्रतिमा भी आखिर तक पुरुष के सम्मुख नहीं झुकतीं। 'मुक्तिपथ' में सुनन्दा राजीव से अपने प्रेम की उपेक्षा या उसे छोड़कर चली जाती है, राजीव के अन्त में झुकने पर भी। कहने का तात्पर्य यह है कि जोशीजी के समस्त नारी-पात्र अपने में एक दृढ़ता रखे हुए हैं और वे जैनेन्द्र के नारी-पात्रों की भाँति निरीह नहीं हैं। वे कल्याणी की भाँति सड़क पर जूते खाने के बाद भी पति के साथ नहीं रहतीं, बल्कि वे शान्ति की भाँति नन्दकिशोर को छोड़कर जीवन के पथ पर निपट अकेली

१. अज्ञेय, 'साहित्य सन्देश', नवम्बर १९४९, पृष्ठ १९४।
२. 'जिप्सी', उपन्यास, पृ० ७०६।
३. शिवदानसिंह चौहान, 'नई धारा', अगस्त १९५३, पृ० २६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने साहस और विश्वास के सहारे बढ़ चलती हैं। अपने नारी-पात्रों को गढ़ने में जोशीजी का एक विशेष दृष्टिकोण रहा है जिसका स्पष्टीकरण एक लेख में उन्होंने किया है। उनका कथन है—"धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है अर्थात् वह शरत-युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटाना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही हैं। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है।"[1]

विचारधारा—जोशीजी की यह विशेषता है कि वे चरितार्थ जगत् की घटनाओं और सामाजिक तत्त्वों का सन्निवेश भी कुशलता के साथ अपने उपन्यासों में करते हैं। इसलिए उनकी कृतियों में एक यथार्थवादी व्याप्ति भी कुछ सीमा तक आ जाती है, किन्तु पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सांसारिक और सामाजिक पक्षों की उपस्थिति होते हुए भी लेखक का मूल उद्देश्य व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता का उद्घाटन रहता है।

वे अपनी कृतियों में विभिन्न विचारधाराओं का समावेश भी करते हैं, किन्तु उनमें से कोई ऐसी नहीं होती जिससे यह प्रतीत हो कि वह उनके द्वारा अपना ली गई है। विभिन्न विचार-धाराएँ विभिन्न पात्रों से सम्बन्ध रखती हैं और लेखक की दृष्टि से वे उन पात्रों के आन्तरिक चरित्र की यथार्थ बाह्य प्रतिच्छवि (प्रतिरूप) हैं।

जोशीजी का विश्वास है कि बाह्य जगत् का जो घटनाचक्र है, जो अव्यवस्था है, वह अन्तर्जगत् का प्रतिरूप है। 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास की भूमिका में उन्होंने इस विषय में अपना मत प्रकट किया है जो महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं—"आज का मनोवैज्ञानिक जब गहराई से सोचता है तो उसे यहाँ तक विश्वास करना पड़ता है कि समय-समय में जिन विभिन्न आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रकोप या प्रताप संसार में छाया है, उनके मूल में अज्ञात चेतना के भीतर अज्ञात रूप से ही कुलबुलाने वाली असंख्य रहस्यमयी प्रवृत्तियाँ अथवा संस्कार हैं। मानव-जाति के सामूहिक अवचेतन मन में निहित आदिमकालीन प्रवृत्तियाँ आज भी पूर्ण रूप से नये-नये स्वरूपों में—बेमालूम ढंग से अथवा स्पष्टतः—अपना कार्य करती चली जाती हैं, और राष्ट्रों के उत्थान-पतनों, अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तियों अथवा विश्वव्यापी युद्धों के पीछे मूलतः उन्हीं निहित प्रवृत्तियों की अज्ञात रहस्यमयी शक्ति का चक्र चलता रहा है, इस बात के असंख्य प्रमाण मिल सकते हैं।.... "मेरा यह ध्रुव, निश्चित विश्वास है कि व्यक्तियों के अन्तर्जीवन के स्वरूप ही सामूहिक बाह्य जीवन के रूपकों के रूपों में—विश्वव्यापी, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के प्रतीक बनकर—प्रकट होते रहते हैं।"[2]

वर्तमान परिस्थिति, वैयक्तिक जीवन और समाज-व्यवस्था से जोशीजी को असन्तोष है। उनका विश्वास है कि वर्तमान समाज में मनुष्य अपना स्वाभाविक विकास प्राप्त नहीं कर

१. इलाचन्द्र जोशी, 'विवेचना', पृ० १२४।
२. इलाचन्द्र जोशी, 'प्रेत और छाया' की भूमिका से उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। उसकी विफल और कुण्ठित होने वाली प्रवृत्तियाँ अनेक कल्पित रूप धारण करके प्रकट होती हैं। व्यक्ति अपनी इन आन्तरिक भावनाओं की गतिविधि को पहचान नहीं पाता और मायाजाल में फँसकर अधिकाधिक विकल और विफल होता जाता है, किन्तु इसी विक्षुब्ध मनुष्य के अन्तर्मन में सृजन के तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं। आत्मविश्लेषण द्वारा अथवा दूसरों की सहायता से इन तत्त्वों को प्रकाश में लाकर और उनका विकास करके ही मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को पा सकता है। मनुष्य की समस्त भावनाओं एवं उनके उत्तर को वे उसकी मूल प्रकृति के रहस्योद्घाटन द्वारा समझना चाहते हैं। यह मूल प्रकृति अचेतन, अन्तर्मन के विश्लेषण से ज्ञात होती है। इसके द्वारा वे मनुष्य का वास्तविक स्वरूप समझ लेना चाहते हैं और उनका विश्वास है कि इसमें सफल हो जाने पर मानव-व्यक्तित्व की चरम-सिद्धि है। अतएव सामाजिक उथल-पुथल के मूल में भी मानवीय अन्तर्मन की शक्तियों को ही देखते हैं। समाज उनकी कृतियों में प्रस्तुत होता है, किन्तु उनका दृष्टिकोण मूलतः व्यक्ति-केन्द्रित है। मनोविज्ञान की इस स्वाभाविक योजना ने उनके उपन्यासों में कुछ विशेषताएँ उत्पन्न कर दी हैं। उनमें से निम्नलिखित विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) अन्तर्मन का विस्फोट।

(ख) अहंता और हीनभाव तथा सेक्स—ये तीन मनुष्य को विवश बनाने वाली और संचालित करने वाली प्रवृत्तियाँ हैं।

(ग) मनुष्य के अन्दर जो सृजन के बीज होते हैं उन्हें पहचानने वाले व्यक्ति मानो एक विशेष शक्ति से समन्वित हैं। अपनी मर्मवेधी अन्तर्दृष्टि द्वारा वे उसे देख लेते हैं जो दूसरों की दृष्टि से गोपन रहता है।

(घ) ऐसे चरित्रों की योजना, जो किसी निपीड़क भाव की छाया में कार्य करते हैं अपना-प्रकृत जीवन नहीं जीते।

(ङ) ऐसे चरित्रों की योजना, जिनके कार्यकलाप विचित्र होते हैं—व्यावहारिक दृष्टिकोण से नहीं समझाए जा सकते—जिनके कार्यों की व्याख्या उनके अन्तर्मन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उनमें सक्रिय ग्रन्थियों को खोजकर ही की जा सकती है।

उपसंहार—वस्तु-विन्यास, कथा-विकास, शिल्प और प्रकटीकरण की शैली—कला के इन बाह्य रूपों में जोशीजी बहुत-कुछ परम्परावादी हैं। उनका कथा-सौष्ठव प्रेमचन्द से समानता रखता है और उन्हीं की भाँति समृद्ध है। जोशीजी उपन्यास को सबसे पहले एक कहानी मानते हैं जिसे सुन्दर ढंग से कलात्मक सौष्ठव के पूर्ण निर्वाह के साथ कहा गया हो। जीवन की गहन समस्याओं से सम्बन्धित यह कहानी होनी चाहिए।[1] जोशीजी के उपन्यासों में उनकी यह परिभाषा पूर्णरूपेण चरितार्थ है।

१. इलाचन्द्र जोशी, 'निर्वासित' की भूमिका से उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन : विदेशी लेखक

गंगाधर झा

दस्तोएवस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ

दस्तोएवस्की का व्यक्तित्व और कृतित्व प्रतिध्वनियों से निर्मित धूमिल मायालोक के समान है। मानो वह एक ऐन्द्रजालिक दर्पण है, जिसमें प्रत्येक समीक्षक अपने आकांक्षित को प्रतिबिम्बित पाता है। नीति और अनीति, पाप और पुण्य, नास्तिकता और आस्तिकता, अपराध और मंगल, प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता में से प्रत्येक को विभिन्न समीक्षकों द्वारा उनके कृतित्व का मूल तथ्य निरूपित किया गया है। दब्रोल्यूबफ़ ने उनमें मानसिक विकार के लक्षण पाए और यह देखा कि समाज के दलित मनुष्यों के प्रति सहानुभूति दस्तोएवस्की के उपन्यासों का सार तत्त्व नहीं, किन्तु एक प्रकार के अपराधियों का चरित्र अंकित करने का नशा उनके मूल में है। टाल्सटॉय के अनुसार दस्तोएवस्की ने जिस जीवन का चित्र अंकित किया है वह असत्य, उद्‌भावित और छद्म निरूपित है। गोर्की उनमें मनुष्य के प्रति विश्वास का अभाव, मनुष्य की बुद्धिवृत्ति के प्रति आस्था का अभाव और मनुष्य के सुख और मुक्ति के प्रति प्रत्यय का अभाव प्रचारित पाते हैं। ऐसे ही दस्तोएवस्की की कृतियाँ महायुद्ध के उपरान्त इटली की धार्मिक पुस्तकों की दुकानों में अभूतपूर्व संख्या में बिकीं। फ्रायड ने उनमें यदि एक विफल व्याधिग्रस्त की कहानी देखी तो एडलर ने मानव-जाति के महान् मंगलसाधक मसीहा के दर्शन किए।

समीक्षा एक ओर यदि आलोचित कृति अथवा लेखक की व्याख्या करती है तो दूसरी ओर वह स्वयं समीक्षक के जीवन-दर्शन को भी प्रस्तुत करती है। इसीलिए यदि एक ही लेखक पर विभिन्न जीवन-दर्शनों से प्रेरित समीक्षाओं का अध्ययन किया जाय तो वह भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। उसके द्वारा यह सम्भव है कि अनेक दृष्टिकोणों से देखने पर समीक्षित लेखक के विषय में हम अधिक गहराई से जान सकें, अथवा एक ही तत्त्व पर विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों को क्रियाशील देखकर हम स्वयं इन समीक्षा-पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन कर सकें। समीक्षा-विषयक अपनी मान्यताओं और मानदण्डों पर पुनर्विचार इस विवेचन का अनिवार्य परिणाम होगा। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि कला-विषयक अपनी समस्याओं के हल के अभाव में हम, कला के गम्भीरतर स्रोतों की ओर प्रेरित होने के साथ, उन्हें कम-से-कम वैज्ञानिक रूप में सूत्रबद्ध कर लें। विशेषतः दस्तोएवस्की एक ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने अपनी वैचित्र्यमय कृतियों द्वारा चाहे साहित्य के लिए प्रतिमान न उपस्थित किए हों, किन्तु उससे सम्बद्ध अनेक समस्याओं को अवश्य जन्म दिया है।

मनोविज्ञान और मार्क्सवाद वर्तमान युगचिन्तन की दो प्रमुख धाराएँ हैं। दस्तोएवस्की की समीक्षा में दोनों का प्रयोग भी हुआ है। उनके ही कुछ प्रतिनिधि रूपों का चयन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। दोनों समीक्षा-पद्धतियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः फ्रायड और एडलर तथा व्लादिमीर येर्मिलोफ और रेण्डल स्विंगलर यहाँ करते हैं। आरम्भ में दस्तोएवस्की पर बेलिन्स्की की समीक्षा उपस्थित की जा रही है, क्योंकि उसमें दस्तोएवस्की से सम्बद्ध मूल समस्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रबद्ध हो गई है। अन्त में इस सामग्री के आधार पर हम कतिपय ऐसे सारगर्भ संकेतों का संकलन करेंगे जो गम्भीर विचारणा के योग्य हैं।

मृत्यु से पूर्व बेलिन्स्की दस्तोएवस्की की चार कृतियाँ देख सके। वे क्रमशः 'पुअर फोक', 'दि डबुल', 'मि० प्रोखार्शिन', और 'दि मिस्ट्रेस' हैं। प्रथम में उन्होंने लक्ष्य किया कि "जिस तीव्र गति से दस्तोएवस्की ने ख्याति लब्ध की, वह रूसी साहित्य में अभूतपूर्व है।" उसका दोष यह था कि "पाठक के मन में प्रशंसा का भाव जगाते हुए भी वह उसे थका देती है।" इसका कारण कुछ लोग अनावश्यक विस्तार तथा अन्य आतिशयिक उर्वरता में देखते थे। यही दोष द्वितीय कृति में अधिक विराट् बन गया है। एक ओर वह दस्तोएवस्की की अतुलित सृजन-प्रतिभा का जीवन्त आख्यान है, किन्तु दूसरी ओर एक ऐसी उर्वर कल्पना-शक्ति का दृष्टान्त भी, जो मूल भाव के कलात्मक अनुशासन में अक्षम है, अर्थात् दस्तोएवस्की 'प्रकृति' से तो सम्पन्न हैं, किन्तु वांछित कलात्मक निपुणता उनमें नहीं। उपचार यह है कि अनावश्यक विस्तार निकालकर लेखक अपनी कृतियों को संक्षिप्त कर दें, और तब कला की दृष्टि से वे अधिक सम्पन्न हो जायँगी। द्वितीय कृति में **"एक और महत्त्वपूर्ण दोष है, और वह है उसमें अस्वाभाविक कल्पना का वातावरण।"** बेलिन्स्की के अनुसार **"....अस्वाभाविक कल्पना को केवल पागलखानों में स्थान मिल सकता है, साहित्य में नहीं; वह डॉक्टरों के काम की वस्तु है, कवियों के काम की नहीं।"** यहाँ स्वयं दस्तोएवस्की की 'प्रकृति' के विषय में संशय उठ खड़ा होता है।

उपर्युक्त संशय मिटता नहीं, किन्तु परिपुष्ट होता है। तृतीय कृति के विषय में बेलिन्स्की लिखते हैं—**"यहाँ हम एक महान् प्रतिभा की जगमगाती चिनगारियाँ देखते हैं, किन्तु वे ऐसे सघन अन्धकार में चमकती हैं कि उनका प्रकाश पाठक की असहायावस्था को दूर नहीं करता ....। जहाँ तक हम देख सकते हैं वहाँ तक इस विचित्र कहानी को जन्म देने वाली वस्तु न तो प्रेरणा है और न उन्मुक्त एवं सहज सृजनशीलता; किन्तु वह वस्तु प्रकृत्या—किस प्रकार हम उसे कहें?—आडम्बर और छद्म के समान कुछ है। सम्भवतः हम भूल में हैं, किन्तु तब वह इतनी कृत्रिम, विलक्षण और अगम्य क्यों है? मानो वह एक प्रकार की सत्य किन्तु अद्भुत और अबूझ घटना हो, एक काव्यात्मक सृष्टि नहीं। कला में कुछ भी धुँधला और अगम्य नहीं होना चाहिए।"** यहाँ पहुँचकर दस्तोएवस्की का निपुणता-विषयक दोष नगण्य हो जाता है। चतुर्थ कृति के अनुशीलन में बेलिन्स्की इसी दिशा में चलकर दस्तोएवस्की के समक्ष अपनी विश्लेषण-क्षमता के चरमान्त पर पहुँच जाते हैं। 'दि मिस्ट्रेस' के पात्रों का व्यवहार अद्भुत और रहस्यमय है तथा उनका वार्तालाप विलक्षण और अगम्य—**"उनमें एक-दूसरे से क्या बात होती थी, जो वे इतने अनियन्त्रित रूप में हाथ-पैर पटकते थे, विकृत मुद्राएँ बनाते थे, अचेत हो जाते थे और होश में आ जाते थे। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम इन लम्बे और दर्द-भरे उद्गारों में एक शब्द भी नहीं समझ पाए हैं। इस सम्भवतः अत्यधिक मनोरंजक कहानी का केवल मूल भाव ही नहीं, किन्तु स्वयं उसका अर्थ उस समय तक हमारी बुद्धि के लिए रहस्य बना रहेगा जब तक लेखक अपनी विलक्षण कल्पना की इस विस्मयजनक पहेली की आवश्यक व्याख्या और टीका प्रकाशित नहीं करा देता। यह क्या हो सकता है—कलाशक्ति का**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुरुपयोग अथवा उसकी अकिंचनता, जो अपनी सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न करती है। और इसलिए, सामान्य पथ का अनुसरण करने में भयभीत होती है तथा ऐसा पथ खोजती है, जो असामान्य है ? हम नहीं जानते।''

हम नहीं जानते। यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि बेलिन्स्की और उनके युग की सुनिश्चित साहित्यिक मान्यताएँ थीं और दस्तोएवस्की का कृतित्व उनके अनुकूल न था। दस्तोएवस्की पुश्किन, गोगल और तुर्गनेव की परम्परा में विजातीय प्रतीत होते थे। यही नहीं, वे इतने अभिनव और भिन्न थे कि तात्कालिक समीक्षा-पद्धति उनकी व्याख्या में अक्षम थी और जब कृति का अर्थ नहीं समझा जा सकता तब उस पर उपयुक्त निर्णय देना भी सम्भव नहीं। यही बेलिन्स्की में हम पाते हैं। आरम्भ में हम देखते हैं कि वे पूर्ण आत्मविश्वास के साथ दस्तोएवस्की के कृतित्व पर निर्णय देते हैं, किन्तु उसके रूप की रहस्यमयता का आभास होते ही उनकी वाणी अनाश्वस्त और अनिर्णयात्मक हो जाती है। अतएव दस्तोएवस्की की प्रथम समस्या उसकी व्याख्या है। यह सम्भव है कि जो कार्य बेलिन्स्की की समीक्षा-पद्धति से सम्पन्न हो सका वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक और मार्क्सवादी पद्धति से विश्लेषण करने पर सम्पन्न हो सके।

फ्रायड अपनी व्याख्या में दस्तोएवस्की के व्यक्तित्व का इन चार पक्षों में विभाजन करते हैं—कलाकार, व्याधिग्रस्त, नीतिवादी और पापी। सर्वप्रथम दस्तोएवस्की की उत्कृष्ट कला-प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए वे यह भी स्वीकार करते हैं कि **''कलाकार की समस्या के समक्ष मनोविश्लेषण को शस्त्र-त्याग करना पड़ता है।''** अतएव व्याख्या के लिए तीन पक्ष लक्षणीय हैं।

दस्तोएवस्की का चरित्र इतनी विषमताओं से पूर्ण है कि उसकी संगठित धारणा दुःसाध्य प्रतीत होती है। दुर्भाग्य और यन्त्रणा के झंझावातों ने उनकी जीवनगाथा लिखी है एवं भीषणतम उतार-चढ़ाव उसमें आए और गए हैं। नीति और पाप का देवासुर-संग्राम उनके अन्तरंग जीवन में परिणतिविहीन और अनवरत चलता रहा है। इस अनन्त द्वन्द्व में ही फ्रायड ने उनके चरित्र का सूत्र खोजने का प्रयत्न किया है। दस्तोएवस्की की नैतिक दुर्बलता और विफलता का चित्र फ्रायड ने इस प्रकार अङ्कित किया है—

''नीति दस्तोएवस्की का सबसे दुर्बल पक्ष है। यह कहकर उन्हें उच्च नैतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करना भ्रामक होगा कि पाप करने वाला ही नैतिकता का शिखर पा सकता है। प्रलोभन का अनुभव करते ही नैतिक मनुष्य उसमें फँसे बिना तत्काल उसका दमन करता है। जो व्यक्ति बारी-बारी से पाप करता है और फिर पश्चात्ताप में नीति के ऊँचे-ऊँचे मानदण्ड स्थिर करता है, उसे नैतिक कहना कठिन है। नैतिकता के मूलमन्त्र 'त्याग' की सिद्धि उसे नहीं हुई, क्योंकि नैतिक आचरण एक व्यावहारिक मानवीय स्वार्थ है।···दस्तोएवस्की की नैतिक साधना का परिणाम भी बहुत गौरवमय नहीं रहा। अपनी व्यक्तिगत वासनाओं तथा समाज की माँगों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए घोरतम संघर्ष के पश्चात् उन्होंने सांसारिक और आध्यात्मिक अधीशों के आगे घुटने टेककर, ज़ार तथा ईसाइयों के भगवान् के प्रति भक्ति-भाव अपनाकर, तथा एक संकीर्ण रूसी राष्ट्रीयता अंगीकार करके एक प्रतिगामी स्थिति ग्रहण कर ली। परन्तु यह एक ऐसी स्थिति है जिसे अल्पतर बुद्धिवालों ने लघुतर प्रयासों से सिद्ध किया है। उस महान् व्यक्तित्व में यही दुर्बलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवता का शिक्षक और मुक्ति-विधाता बनने का अवसर त्यागकर दस्तोएवस्की मानव-कारागार के संरक्षकों में जा मिले। ऐसा बहुत कम है जिसके लिए मानवीय सभ्यता का भविष्य उन्हें धन्य कह सकेगा। यह सम्भव है कि उनकी यह विफलता उनकी व्याधि का दुर्निवार अभिशाप थी। उनकी बौद्धिक महानता एवं मानवता के प्रति प्रबल प्रेम, उनके जीवन के लिए एक श्रुति-प्रचारक (Prophet) का पथ खोल सकते थे।"

महान् प्रतिभा और नैतिक विफलता, श्रुतिप्रचारक की क्षमता और व्यावहारिक प्रतिगामिता, दस्तोएवस्की की इस विपरीत परिणति की तह में फ्रायड न्यूरॉसिस की सम्भावना मानते हैं। दस्तोएवस्की को अपराधियों की कोटि में रखते हुए ये कहते हैं कि उनके द्वारा केवल हिंसामय, विघातक और अहंकारी चरित्रों का चयन यह इंगित करता है कि उनके अन्तर्मन में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। उनकी आक्रान्ता प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल एवं प्रधानतः अन्तरोन्मुख थी। परिणामस्वरूप उसने आत्मपीड़न और पाप-ग्रन्थि का रूप धारण कर लिया था। दस्तोएवस्की के व्यवहार से यह प्रकट होता है कि "छोटी बातों में उनका पीड़न-प्रेम दूसरों की ओर उन्मुख था, और बड़ी बातों में स्वयं की ओर। आत्म-पीड़क होने के कारण वे अधिकतम मृदुल, दयालु और सहायक व्यक्ति थे।" इस चरित्र-वैचित्र्य की व्याख्या में फ्रायड न्यूरॉसिस का सहारा लेते हुए इस सम्भावना पर ध्यान देते हैं कि दस्तोएवस्की जिस एपीलेप्सी से संत्रस्त थे वह उनकी मनोव्याधि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है।

एपीलेप्सी के आविर्भाव के पूर्व, जीवन के आरम्भिक वर्षों में, दस्तोएवस्की पर एक विशेष व्याधि का आक्रमण हुआ करता था। "ये आक्रमण मृत्यु का अर्थ-संकेत रखते थे: उनका आरम्भिक प्रकोप मृत्यु-भय के रूप में होता था, और वह दशा शैथिल्य एवं तन्द्रा की स्थितियों से समन्वित रहती थी।" मनोविश्लेषण द्वारा ऐसे आक्रमणों की व्याख्या निम्नलिखित है।

"वे (आक्रमण) एक मृत व्यक्ति के साथ तादात्म्य का संकेत करते हैं, जो या तो वास्तव में मृत है या अभी भी जीवित है, किन्तु व्याधिग्रस्त उसकी मृत्यु का आकांक्षी है। इनमें द्वितीय अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उस स्थिति में, व्याधि का आक्रमण दण्ड का अर्थ रखता है। एक व्यक्ति ने दूसरे की मृत्यु की कामना की और अब वह स्वयं यह दूसरा व्यक्ति है और स्वयं मृत है।"

फ्रायड के अनुसार यह दूसरा व्यक्ति बालक के लिए सामान्यतः पिता ही होता है। दस्तोएवस्की और उनके पिता के सम्बन्ध में दो बातें विशेष हैं। प्रथम यह कि उनके पिता सचमुच अत्यन्त प्रचण्ड प्रकृति के थे और परिणामस्वरूप दस्तोएवस्की की निष्क्रिय नारी-वृत्ति उतनी ही प्रबल थी, "उनकी असाधारण पापानुभूति और आत्म-पीड़क जीवन-व्यवहार का सूत्र एक विशेष प्रबल नारी-वृत्ति के अवयव के साथ जोड़ा जा सकता है।" उभय-यौन-वृत्ति की प्रबलता न्यूरॉसिस को अधिक सम्भव बना देती है। दस्तोएवस्की की व्याधि में पिता के साथ जो तादात्म्य सन्निहित है, उसकी कार्य-प्रणाली का वर्णन फ्रायड 'इगो' के प्रति 'सुपर-इगो' के इन वचनों में करते हैं—

"अपने पिता को तुम मारना चाहते थे, जिसमें स्वयं तुम अपने पिता बन जाओ; अब तुम अपने पिता हो, किन्तु मृत पिता।"...और आगे—"तुम्हारा पिता अब तुम्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार रहा है।"···इसका आशय यह हुआ कि "मृत्यु-लक्षण 'इगो' के लिए पुरुषवर्ती इच्छा की काल्पनिक परितृप्ति है, और साथ ही आत्मपीड़नमूलक तृप्ति भी। सुपर-इगो के लिए वह दण्डित करने को तृप्ति, अर्थात् परपीड़न की तृप्ति है। इगो और सुपरइगो दोनों पिता का कार्य करते हैं।"

एपीलेप्सी की व्युत्पत्ति इस आरम्भिक व्याधि से हुई। दस्तोएवस्की के पिता की सच-मुच भयानक मृत्यु इस परिणति में सहायक हुई। फ्रायड कहते हैं कि "पितृघात की बाल्य-आकांक्षा यदि सचमुच सफल हो जाती है तो उसके विरुद्ध समस्त रक्षात्मक शक्तियाँ अतिरिक्त शक्ति ग्रहण कर लेती हैं। दस्तोएवस्की के साथ यह बात हुई थी और परिणाम-स्वरूप उनकी आरम्भिक व्याधि ने एपीलेप्सी का रूप ले लिया। इस स्थिति में भी व्याधि के आक्रमण दण्ड के रूप में पिता के साथ तादात्म्य सूचित करते हैं, किन्तु पिता की भयानक मृत्यु के समान वे भी भीषण हो गए हैं।" पिता के साथ दस्तोएवस्की के सम्बन्ध का यह द्वितीय प्रमुख तत्त्व है।

सारांश यह है कि पितृघात की प्रबल आकांक्षा, असाधारण पापानुभूति तथा प्रायश्चित के रूप में दण्डित होने की आवश्यकता, दस्तोएवस्की के चरित्र की मूल अन्तःवृत्तियाँ हैं। इगो और सुपर-इगो के सम्बन्ध तथा पिता के साथ दोनों के तादात्म्य में उनकी प्रक्रिया लक्षित होती है। पिता की मृत्यु की आकांक्षा पूर्ण होने पर पहले आनन्द प्राप्त होगा, किन्तु उसके शीघ्र पश्चात् पाप की अनुभूति उद्दाम वेग से फूट पड़ेगी। ठीक यही बात दस्तोएवस्की की एपीलेप्सी में भी लक्षित होती है—"एपीलेप्टिक आक्रमण के बाल्याचक्र में एक चरम आनन्द के क्षण की अनुभूति होती है। बहुत सम्भव है कि यह पिता की मृत्यु का समाचार सुनने पर अनुभूत जय और छुटकारे के भाव का अंकित प्रमाण हो, जिसके तत्काल पश्चात् एक क्रूरतर दण्ड का विधान चल निकलता है।"

पिता के प्रति दस्तोएवस्की का जो मनोभाव था, उसी मनोभाव ने ज़ार और ईश्वर के साथ उनके सम्बन्ध का भी निरूपण किया। दोनों की अधीनता उन्होंने स्वीकार की, तथा अपनी दण्डित होने की आवश्यकता की पूर्ति उन्होंने ज़ार द्वारा दण्डित होकर की। इस विश्लेषण के पश्चात् उनके व्यक्तित्व पर फ्रायड का अन्तिम निष्कर्ष यह है—

"निश्शंक होकर यह कहा जा सकता है कि पितृघात की इच्छा से उत्पन्न पाप की अनुभूतियों से वे कभी मुक्त न हो सके।···वैयक्तिक धरातल पर विश्व-इतिहास के एक विकास की संक्षिप्त पुनरावृत्ति द्वारा उन्हें आशा थी कि ईसा के आदर्श में वे अपने पाप से बाहर निकलने का पथ और मुक्ति पा सकेंगे; यही नहीं, उन्हें यह भी आशा थी कि अपने पीड़ित जीवन का उपयोग करके वे ईसा-तुल्य जीवन-साधना के दावी हो सकेंगे। यदि समस्त के पश्चात् वे मुक्ति न पा सके और प्रतिगामी बन गए, तो इसका कारण यह है कि पिता के प्रति वह बाल्य-अपराध, जो मनुष्यों में सामान्य रूप से उपस्थित रहता है और जिसके ऊपर धार्मिक भावना निर्मित होती है, उनके अन्दर अतिवैयक्तिक प्रखरता प्राप्त कर चुका था और उनकी महान् बुद्धि के लिए भी वह दुर्लंध्य बना रहा।"

दस्तोएवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'दि ब्रदर्स कारामाज़ोव' में भी फ्रायड वही तत्त्व प्राप्त करते हैं, जिनका विवरण ऊपर दिया गया है—"दि ब्रदर्स कारामाज़ोव'···में···हत्या किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य व्यक्ति द्वारा की जाती है। किन्तु हत मनुष्य के साथ इस अन्य व्यक्ति का सम्बन्ध भी वही है जो नायक डिमिट्री का है, अर्थात् हत मनुष्य दोनों का पिता है। इस अन्य व्यक्ति के विषय में अन्तःप्रेरणा के रूप में कामगत प्रतिद्वन्द्विता की स्वीकृति प्रत्यक्ष रूप में की गई है। वह नायक का भाई है और यह एक लक्षणीय तथ्य है कि दस्तोएवस्की ने स्वयं अपनी व्याधि, एपीलेप्ली का गुण उसे प्रदान किया है, मानो वे यह स्वीकार करना चाहते थे कि उनके अन्दर का एपीलेप्टिक, न्यूरॉटिक, पितृघाती था।" इसके अतिरिक्त फ्रायड हमारा ध्यान इस उपन्यास में वर्णित एक दृश्य-विशेष की ओर आकृष्ट करते हैं, जिसमें एक धर्माधिकारी, डिमिट्री को पितृघात के लिए प्रस्तुत जानकर भी उसके चरणों में झुक जाते हैं। इस दृश्य को लेकर फ्रायड जो निर्णय देते हैं वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें दस्तोएवस्की के चरित्र एवं उनकी कृतियों का अन्तर्सम्बन्ध स्पष्ट होता है। उन्हीं के शब्दों में यह निर्णय इस प्रकार है—

"यह असम्भव है कि इस कार्य का (पितृघात के आकांक्षी के चरणों में झुकने का) आशय सराहना का भाव प्रदर्शित करना हो। उसका अर्थ यही होना चाहिए कि धार्मिक सज्जन हत्यारे से घृणा या कुत्सा करने का प्रलोभन त्याग रहे हैं, और इसीलिए उसके समक्ष अपना दैन्य प्रदर्शित करते हैं। अपराधी के प्रति दस्तोएवस्की की सहानुभूति सचमुच असीम है, वह उस करुणा को बहुत दूर तक अतिक्रान्त कर जाती है जिसकी याचना वह अभागा दुखिया कर सकता है....। अपराधी उनके लिए प्रायः त्राता ही है; उसने वह पाप अपने माथे ले लिया है जिसका बोझ अन्यथा दूसरों को वहन करना पड़ता। हत्या करने को अब कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'वह' पहले ही हत्या कर चुका है, अतएव उसका कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि उसके न होने पर स्वयं को हत्या के लिए विवश होना पड़ता। यह ठीक दयाजनित करुणा नहीं, यह तो समान हत्यावृत्ति पर आश्रित तादात्म्य—वास्तव में किंचित् स्थानान्तरित आत्मरति—है।...इसमें सन्देह नहीं कि दस्तोएवस्की के वस्तु-चयन में निर्णायक तत्त्व यह तादात्म्यजनित सहानुभूति ही थी। वे सर्वप्रथम साधारण अपराधी (जिसकी अन्तःप्रेरणाएँ अहंमूलक होती हैं) और राजनीतिक तथा धार्मिक अपराधी को लेकर चले, और अपने जीवन के अन्तिम चरण में ही आदिम अपराधी, अर्थात् पितृघाती, तक पहुँचकर एक कलाकृति में उसका उपयोग अपने पापों की स्वीकृति के लिए कर सके।"

दस्तोएवस्की का विचित्र चरित्र ही उनकी कलाकृतियों में अभिव्यक्त हुआ है। उनकी मनोव्याधि और वस्तु-चयन का घनिष्ठ सम्बन्ध देखते हुए यह प्रश्न उठता है कि क्या कला का न्यूरॉसिस के साथ सहभाव अपरिहार्य है? निम्नलिखित वक्तव्य में फ्रायड बहुत स्पष्टता से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

"दस्तोएवस्की के जटिल व्यक्तित्व में हमने तीन तत्त्व चुने हैं—उनके भावगत जीवन की असाधारण तीव्रता, उनकी प्रवृत्तियों की विकृत पूर्ववृत्ति—जिसने उन्हें अवश्यम्भावी रूप से आत्मपीड़क और परपीड़क अथवा अपराधी होने के लिए अंकित कर दिया, तथा उनकी अविश्लेष्य कलात्मक देन। तत्त्वों के ऐसे संयोग का अस्तित्व न्यूरॉसिस के बिना भी सम्भव है; ऐसे मनुष्य हैं जो पूर्णतया आत्मपीड़क होकर भी न्यूरॉटिक नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"....हम कह चुके हैं कि उन परिस्थितियों में न्यूरॉसिस का होना अवश्यम्भावी नहीं था।"

फ्रायड ने दस्तोएवस्की के व्यक्तित्व में विफलता की धूमिल कहानी देखी तो एडलर ने उनमें मंगल-पुष्प का अनिंद्य विकास पाया। एडलर के अनुसार दस्तोएवस्की एक महान् कलाकार ही नहीं, अपितु मानव जाति के एक चरम कल्याण-साधक भी हैं। उनका जीवन त्याग और बलिदान का एक दुःखात्मक घटनाचक्र है, "भूख, यन्त्रणा, विपन्नता—इनका आस्वादन उन्हें जीवन में बहुत बार करना था। जीवन-पथ पर वे एक तीर्थयात्री के समान चले।... समस्त अनुभवों का संचय करते हुए, एक विशाल आलिंगन में अखिल मानवता को हृदय लगाते हुए, वे कदम-कदम आगे बढ़े—ज्ञान पाने के लिए, समस्त पक्षों में जीवन को छूने के लिए, सत्य के सन्धान में, 'अभिनव उपदेश' के अन्वेषण में।" महानतम द्वन्द्वों और विरोधी तत्वों को अन्तस् में समेटे हुए वे जीवन की तुच्छ-से-तुच्छ बातों को भी अनुभूत और अभिव्यक्त किये बिना नहीं छोड़ सकते थे, क्योंकि "उनकी सम्पूर्ण प्रकृति उन्हें जीवन की एक एकान्वित व्याख्या की ओर अग्रसर करती है, जिससे अपने इस विकल युग की अनन्त अस्थिरता में वे सुरक्षा और विश्राम पा सकें।"

अनन्त बलिदान देकर भी दस्तोएवस्की सत्य को पा लेना चाहते थे। इस पथ पर वे असीम संवेदना, अनन्त सहानुभूति और अक्षय सहनशीलता लेकर अग्रसर हुए। ऐसा कोई अनुभव नहीं जिसकी गहराई में वे पैठ न सकते, घृणित-से-घृणित कोई ऐसा अपराधी नहीं जिसकी ओर उनकी सहानुभूति का अजस्र प्रवाह उन्मुक्त न बह सकता, और ऐसा कोई उत्पीड़न नहीं जो उनकी सहनशक्ति को तोड़ देता; ऐसी कोई बाधा ही न थी जो अपने निर्धारित पथ से उन्हें विमुख और च्युत करने में समर्थ कही जा सके। सत्यान्वेषण के लिए एक विशिष्ट विधि उन्होंने अपनाई—"स्पष्ट वक्तव्य के बहुत पूर्व ही उनका सिद्धान्त रहा है—सत्य की ओर मिथ्या द्वारा अग्रसर होना, क्योंकि निर्णयपूर्वक हम कभी यह नहीं मान सकते कि सत्य को हमने पा लिया है और हमें सूक्ष्मतम मिथ्यावादों का सहारा लेने के लिए प्रस्तुत रहना पड़ता है। इस प्रकार वे 'पाश्चात्य संस्कृति' के शत्रु बन गए, जिसकी मूलभूत प्रेरणा उन्हें सत्य द्वारा मिथ्या पर पहुँचने की चेष्टा प्रतीत हुई।"

एडलर के अनुसार मनुष्य में मूलभूत आत्मप्रेम और वैयक्तिक सत्ताकांक्षा होती है। समस्त मनुष्यों की ये चिरन्तन प्रेरक-शक्तियाँ यदि दस्तोएवस्की में भी थीं तो उनकी साधना पर उनका क्या प्रभाव पड़ा? मिथ्या द्वारा सत्यसिद्धि की चेष्टा में वे कहाँ तक पहुँचे? एडलर कहते हैं कि मनुष्य की मूलभूत सत्ताकांक्षा को दस्तोएवस्की खूब पहचानते थे, किन्तु मानव-बन्धुत्व में उन्होंने उसकी सीमा निर्धारित कर दी—"वे केवल अपने अन्तस् में संघर्षरत अन्तर्विरोधों का एकान्वय करके ही सत्य को पा सके थे, उन वैषम्यों को समन्वित करके, जिन्होंने स्वयं को उनकी सृष्टि में सदा अभिव्यक्त किया है, और जो उन्हें एवं उनके नायकों को नष्ट कर देने का भय उत्पन्न करते रहे हैं। इस आन्तरिक भाव के साथ उन्होंने कवि और मसीहा के रूप में कार्य करने का निमन्त्रण स्वीकार किया था तथा वे अपने प्रेम की सीमा निर्धारित करने की ओर अग्रसर हुए। उन्होंने पाया कि सत्ता के उन्माद की सीमा अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम द्वारा बँधी हुई है। आरम्भ में जिसने उन्हें प्रवर्तित किया वह सत्ताप्राप्ति का, दूसरों पर हावी होने का सुस्पष्ट प्रयत्न था और समस्त जीवन को एक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र में समाविष्ट कर लेने के प्रयत्न में भी महत्ता की ओर प्रेरित करने वाली यह अन्तःप्रेरणा विपुल परिमाण में अभिव्यक्त है।" अर्थात् सत्ताकांक्षा की प्रेरणा से दस्तोएवस्की भी परिचालित थे और उससे प्रेरित होकर उन्होंने समस्त सीमाओं का उल्लंघन किया। किन्तु स्वयं में यह महत्त्व की बात नहीं। इसके द्वारा उन्होंने प्रदर्शित किया कि अपने श्रेष्ठतम रूप मनुष्य सीमाओं के अतिक्रमण द्वारा नहीं पा सकता, उस प्रकार तो वह पीड़ित, परित्यक्त और पराजित ही हो सकता है; चरम मनुष्यत्व का उद्घाटन मानव बन्धुत्व की भावना एवं जातीय सहयोग में होता है—

"दस्तोएवस्की ने अपने नायकों के साथ भी वही किया; उन्होंने सामाजिक सहयोग की तर्क-संगत मांगों के वास्तवीकरण द्वारा जो सीमाएँ खोजी थीं, उनका अतिक्रमण अपने समस्त पात्रों को उन्मत्त होकर करने दिया। उनकी महत्त्वाकांक्षा, आत्मश्लाघा और आत्म-प्रेम को उत्तेजित कर उन्होंने समस्त को जीवन की चरम सीमाओं तक दौड़ाया, और फिर उनके पथ पर प्रतिशोध की देवियों का समवेत संगीत छोड़कर उन्हें पुनः मानवीय प्रकृति द्वारा आरोपित सीमाओं पर खदेड़ दिया, जहाँ समस्वरता में भजन-गान के लिए वे मुक्त थे। कोई अन्य मानस-प्रतिमा उनकी कृतियों में उतनी बार उपस्थित नहीं, जितनी एक 'सीमा' की'''। उनका अभिनव आर्ष-मन्त्र हम सुनें—शौर्यमय जीवन के प्रतिवेशी-प्रेम से संयुक्त करने का महान् समन्वय सफल हो गया है। इस सीमा-रेखा पर पहुँचकर ही उनके नायकों की नियति, उनके भाग्य, को चरम परिणति मिलती प्रतीत होती है। उनकी सृजन-शक्ति तथा उनकी नैतिक अवस्थिति के लिए यह लक्ष्य विशेष अर्थपूर्ण बन गया।"

दस्तोएवस्की की समस्त कृतियाँ मानो उपर्युक्त सत्य की जीवन्त प्रतिमा हों। तब महान् कलाकार भी वैयक्तिक सत्ताकांक्षा से आरम्भ करते हैं, किन्तु उनकी साधना उन्हें मानव-बन्धुत्व पर पहुँचा देती है। जीवन विफल और विकृत होता है, यदि मनुष्य अपने अहं को सीमाबद्ध नहीं करता; और मानव-बन्धुत्व वह शक्ति है जो उसे सीमा में बाँधती है। यह सीमा मानो उत्कृष्ट मनुष्यत्व की स्वर्णप्रभा क्षितिज है।

एक दस्तोएवस्की और उसके दो मनोवैज्ञानिक व्याख्याता—फ्रायड और एडलर! दोनों ने उन्हें दो पूर्णतया विपरीत सीमान्तों पर प्रतिष्ठित किया है। प्रथम के अनुसार यदि वे न्यूरॉटिक और प्रतिगामी हैं, मानव-जाति का मसीहा बनने का अवसर पाकर भी शोषकों और उत्पीड़कों के दल में जा मिले हैं, तो द्वितीय के अनुसार वे एक महान् सत्यान्वेषी और प्रगतिशील सिद्ध-साधु हैं और मानव-मंगल के अभिनव मन्त्रोपदेशक, युगपुरुष और मसीहा हैं। ये पूर्णतया विरोधी निर्णय सामान्य विद्यार्थी को प्रकाश नहीं देते, उसे केवल आस्थाहीन, जर्जर और विकल बनाते हैं। इस भ्रमान्धकार का निवारण सत्यान्वेषी के लिए प्रथम आवश्यकता बन जाता है, क्योंकि उसके अभाव में उसका भटकना बन्द नहीं हो सकता। दस्तोएवस्की के उल्लिखित दो अध्ययनों में हमें दस्तोएवस्की नहीं मिलते, मिलते हैं फ्रायड और एडलर के दो भिन्न मनोविज्ञान।

दस्तोएवस्की की विशेष व्याधि 'एपीलेप्सी' की व्याख्या भी फ्रायड और एडलर ने पूर्णतया भिन्न रूपों में की है। इस व्याधि के मुख्य लक्षण थे—आक्रमण के समय मृतवत् स्थिति तथा उसके ठीक पूर्व असीम उल्लास का क्षण। 'एपीलेप्सी' की पृष्ठभूमि में 'न्यूरॉसिस' और 'न्यूरॉसिस' की पृष्ठभूमि में 'ईडिपस ग्रन्थि' की स्थिति मानकर फ्रायड ने यह व्याख्या दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—असीम उल्लास का क्षण विजय-सूचक है, वह पितृघात की अचेतन आकांक्षा की सहसा पूर्ति से उत्पन्न हर्षोन्माद है। तत्काल दूसरी प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, पितृघात का नैतिक दायित्व पापानुभूति बनकर दंशित करने लगता है और प्रायश्चित रूप में दस्तोएवस्की मृतवत् होकर स्वयं को दण्डित करते हैं। एडलर इस 'भीषण व्याधि' के कारण दस्तोएवस्की के प्रति संवेदना दिखाते हुए कहते हैं कि वे अधिक महान् थे क्योंकि उससे त्रस्त होने के बावजूद वे मनुष्यत्व का चरम मन्त्र सिद्ध करने में सफल हो सके। 'उल्लास के क्षण' की उनकी व्याख्या यह है—**"अपने आक्रमणों का वर्णन करते हुए दस्तोएवस्की कहते हैं कि वे उनमें एक ऐसी अनुभूति जगाते थे मानो उन्हें लुभाकर एक हर्षोन्माद जीवन के संवेदन की चरमान्तिक सीमाओं तक ले गया हो, जहाँ वे ईश्वर को स्वयं के समीप अनुभव करते थे, सचमुच इतने समीप कि केवल एक कदम उन्हें जीवन से विच्छिन्न कर देने के लिए पर्याप्त था।"** अर्थात् एडलर के लिए 'वह उल्लास का क्षण' किसी अचेतन आकांक्षा की पूर्ति का सूचक नहीं, प्रत्युत उस 'सीमा-रेखा' का संकेतक है जो वैयक्तिक सत्ताकांक्षा के लिए मानव-बन्धुत्व द्वारा बनती है—वह 'सीमा-रेखा' जिसका अतिक्रान्ता निश्चित विनाश को प्राप्त करता है।

एपीलेप्सी के साथ सीमारेखा का अनन्य सम्बन्ध एडलर के इस वक्तव्य में स्पष्ट है—**"इस भावना के लिए....जो उन्हें रुकने के लिए विवश कर देती थी, जो एक रक्षात्मक पापानुभूति में रूपान्तरित हो गई थी,....दस्तोएवस्की कोई कारण न जानते थे। विचित्र तो यह है कि अपनी व्याधि को आक्रमणों के साथ उन्होंने उसका सम्बन्ध स्थापित किया जब भी मनुष्य गर्वोन्माद में अपनी सामाजिक भावना की सीमाओं के अतिक्रमण की इच्छा करता था उसी समय ईश्वर का हस्तक्षेप दृष्टिगोचर होता था और अन्तःदर्शन का अनुरोध करते हुए चेतावनी के स्वर सुनाई पड़ते थे।"** विशेष द्रष्टव्य यह है कि जो भावना दस्तोएवस्की को सीमा पर रोक देती थी, उसीने एक रक्षात्मक पापानुभूति का रूप ग्रहण कर लिया था। फ्रायड के अनुसार यह पापानुभूति सीमा के अनिवार्य अतिक्रमण का अवश्यम्भावी दण्ड है।

दो बातें और रह जाती हैं जो लक्षणीय हैं—दस्तोएवस्की की कृतियों का निर्माण-हेतु एवं उनकी नैतिकता। मसीहा दस्तोएवस्की ने अपनी कृतियों में जो मन्त्र जीवन्त किया है, उसके बावजूद उनकी कृतियाँ मूलभूत महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा से वंचित नहीं—**"दस्तोएवस्की के जीवन का प्रबलतम बिन्दु यह है कि उनकी समस्त भव्य सृष्टियों का उदय इस रूप में होता, अर्थात् कार्य को निष्फल, दुर्वृत्तिक तथा अपराधमूलक माना जाय, और...मुक्ति-समर्पण में सन्निहित रहे—उस समय तक कि जब तक समर्पण दूसरों पर महत्त्व के गुप्त आनन्द को अन्तर्भुक्त किए हो।"** दूसरे शब्दों में समर्पण भी 'विजय के लिए झुकना' है।

फ्रायड की दृष्टि में दस्तोएवस्की एक विफल नीतिवादी थे, किन्तु एडलर के अनुसार वे नैतिकता के चूड़ामणि तो हैं ही, उन्होंने उसके एक महामन्त्र की सृष्टि भी की है—**"...वे उस सूत्र तक पहुँचे जिसे काण्ट के 'केटागोरिकल इम्परेटिव' के बहुत ऊपर रखा जा सकता है—यह कि, अपने मानव-बन्धु के पाप में प्रत्येक व्यक्ति भागी होता है।"** इसमें प्रत्येक मनुष्य का एक मूलभूत दायित्व सन्निहित है—**"यदि मैं अपने पड़ोसी के पाप में और प्रत्येक व्यक्ति के पाप में भागी हूँ तो इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता हुआ एवं उसका मूल्य चुकाने का आदेश देता हुआ, मुझ पर एक चिरन्तन दायित्व है।"**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त आधारों पर एडलर का निर्णय यह है कि कलाकार और नीतिवादी दोनों रूपों में दस्तोएवस्की एक महान् और अनन्य व्यक्ति बने रहते हैं।

व्लादिमीर येर्मिलोफ़ मार्क्सवादी एवं सोवियत रूस के एक प्रमुख समीक्षक हैं। दस्तोएवस्की पर उनके विचार यहाँ बंगला में अनूदित उनके 'सोवियत जनगनेर चोखे दस्तोएभास्किर साहित्य' नामक लेख से आकलित किये गए हैं। उद्देश्य यह प्रस्तुत करना है कि सोवियत भूमि में दस्तोएवस्की का विरोध किसी पूर्वग्रह अथवा दुर्वृत्ति पर आश्रित नहीं, किन्तु उसके कुछ महत्त्वपूर्ण कारण हैं। दस्तोएवस्की ने जहाँ तक जन-जीवन का साथ दिया है, जनता की प्रगतिशील प्रवृत्तियों और वास्तविक अनुभूतियों का यथार्थमूलक चित्रण किया है, वहाँ तक वे एक महान् कलाकार के रूप में पूज्य और मान्य हैं। 'पुअर फोक' और 'मेमायर्स फ्रॉम ए डेड हाउस' जैसे ग्रन्थों की गणना रूस के कालजयी साहित्य में की जाती है और उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। किन्तु जहाँ उनमें प्रतिगामिता और विकृति का पुरस्कार है, वहाँ वे प्रशंसा के अधिकारी नहीं रह जाते और उनका केवल विरोध ही किया जा सकता है, अर्थात् दस्तोएवस्की एक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार थे, किन्तु मुख्यांश में उन्होंने जन-जीवन के लिए घातक और प्रगति-विरोधी पथ ग्रहण किया। प्रतिभा की इस विपरीत परिणति का, समर्थ की इस प्रतिगामिता का, कारण क्या है? फ्रायड ने यदि उसे दस्तोएवस्की की मानसिक व्याधि और चारित्रिक विकृति में खोजा तो मार्क्सवादी येर्मिलोफ़ उसे रूस की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और उसकी अर्थ-व्यवस्था में पाने का प्रयत्न करते हैं।

तत्कालीन रूस कैसा था? गत शताब्दी के छठे और सातवें दशक में वहाँ पूँजीवाद का विजयाभियान हुआ। इस अभियान तथा पूँजीवाद के जंगली कानूनों के समक्ष रूस के प्रतिगामी, प्रगति-विरोधी, धर्मप्रधान, निम्न-मध्य-वर्ग के लोग शंकित हो उठे। दस्तोएवस्की के साहित्य में वही शंका प्रतिफलित हुई है। धर्मप्रधान रूस ढह रहा था। जिस मनुष्य की कहानी दस्तोएवस्की ने लिखी है वह इसी अबोध्य, भीषण, नये प्रकार की जीवन-गति में पड़कर स्वयं को नितान्त एकाकी और परित्यक्त अनुभव करने वाला मनुष्य है।

दस्तोएवस्की के समक्ष सम्भावनाएँ ही कुल दो हैं—जल्लाद बनो या जल्लाद का शिकार। इसे छोड़ बचे रहने के लिए कोई तृतीय पथ नहीं। या तो वे दूसरों के ऊपर स्वेच्छाचार करेंगे, नेपोलियन अथवा रॉथ्सचाइल्ड बनेंगे,···या वे नेपोलियन अथवा रॉथ्सचाइल्ड के समक्ष माथा झुकाकर सलाम करेंगे, जो उनका अपमान करते हैं, भक्ति के साथ उनका ही हाथ चूमेंगे।··· खून करो या खून हो जाओ, मनुष्य के सामने पूँजीवाद ने यही दो अभिशप्त सम्भावनाएँ रखीं। इस उभय-संकट से मुक्ति पाने का जो एकमात्र पथ है, वह है उत्पीड़न के विरुद्ध संग्राम का पथ, मनुष्य के लिए मंगलमय नव-समाज की रचना के लिए आन्दोलन का पथ, जिस पर सचमुच मनुष्य दस्तोएवस्की के पात्रों के समान निरसंग नहीं है, असहाय नहीं है। दस्तोएवस्की निम्न-मध्य-वर्ग की उलझन में फँस गए, किन्तु सर्वहारा की क्रान्ति में मुक्ति का गान न गा सके। इतिहास जिन्हें निगल रहा था उनकी अनुभूति उन्हें थीं, किन्तु जो इतिहास रच रहे थे उनका साथ वे न दे सके।

फ्रायड और येर्मिलोफ़ की व्याख्या क्रमशः मनोवैज्ञानिक और सामाजिक है, किन्तु दोनों ही नियतिवादी हैं। मनोविज्ञान और ऐतिहासिक समाजवाद के आधार पर दोनों जीवन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गति को सुनिश्चित नियमों द्वारा अनुशासित और परिचालित मानते हैं। फ्रायड के अनुसार यदि दस्तोएवस्की के व्यक्तित्व की अनिवार्यता उनकी कृतियों में प्रतिफलित हुई है तो येर्मिलोफ वहाँ उनकी वर्ग-चेतना की अनिवार्यता को उद्भासित पाते हैं। किन्तु दोनों के निर्णयों में आश्चर्यजनक साम्य प्राप्त होता है। दोनों की दृष्टि में दस्तोएवस्की प्रतिगामी हैं; श्रुतिप्रचारक और मसीहा बनने का अवसर पाकर उन्होंने उसे खो दिया, उत्पीड़न के विरुद्ध संग्राम के पथ का वे अनुसरण न कर सके। फ्रायड के अनुसार दस्तोएवस्की में आत्मपीड़न और परपीड़न दोनों की उपस्थिति थी; छोटी बातों में उनका पीड़न-प्रेम दूसरों की ओर उन्मुख था, और बड़ी बातों में स्वयं की ओर। अपराधियों के प्रति उनमें अपार सहानुभूति थी तथा दूसरी ओर ज़ार और ईश्वर के आगे घुटने टेककर वे मनुष्य के उत्पीड़कों के आराधक बन गए। येर्मिलोफ के अनुसार दस्तोएवस्की के समक्ष सम्भावनाएँ ही कुल दो थीं—जल्लाद बनो या जल्लाद का शिकार, खून करो या खून हो जाओ! किन्तु कारण यदि फ्रायड दस्तोएवस्की की मानसिक रचना में पाते हैं तो येर्मिलोफ पूँजीवाद के अभियान में। निर्णय में न्यूरॉसिस और पूँजीवाद का मानो समीकरण हो जाता है, क्योंकि एक में यदि व्यक्तित्व की विफलता है तो द्वितीय में समाज-व्यवस्था की। ऐसे व्यक्तित्व और ऐसे समाज में क्या कोई घनिष्ठ और अन्तरंग सम्बन्ध है?

रैंडल स्विंगलर की समीक्षा भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर आश्रित है, किन्तु सिद्धान्त के साथ उन्होंने येर्मिलोफ की अपेक्षा तथ्य के उद्घाटन पर अधिक ध्यान दिया है। दस्तोएवस्की के समाज के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व, उनकी परम्परा तथा उनमें उसकी चेतना के आधार पर उनके कृतित्व का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उनकी कृतियों की मूल वस्तु को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न भी किया है।

हमारे युग की समस्या दस्तोएवस्की के समक्ष भी उपस्थित थी—"**क्या हम आगे बढ़ सकते हैं? क्या मनुष्य केवल अपनी चेतना और संकल्प द्वारा वातावरण और स्वयं अपने द्वारा विकसित शक्तियों का नियन्त्रण कर सकता है? अथवा रहस्यवाद और धार्मिक एकान्त में हमारा प्रत्यावर्तन अनिवार्य है? क्या हम अपनी सीमा को लाँघ गए हैं और आध्यात्मिक अहंकार में पड़कर हमने पाप किया है? इस देश के अधिकांश बुद्धिजीवियों ने प्रत्यावर्तन का, अनीति और पाप का, उसके निवारण के उपाय की खोज का, पथ चुना है, जो दस्तोएवस्की का भी पथ था।**" अर्थात् अधिकांश बुद्धिजीवी आधुनिक चेतना से यूरोप की मध्ययुगीन चेतना में प्रत्यावर्तन कर रहे हैं।

बुद्धिजीवी घोर व्यक्तिवादी होता है। वह वैयक्तिक संकल्प और बौद्धिक चिन्तन से प्राप्त 'सत्ता' की एकान्त प्रतिष्ठा द्वारा विच्छिन्न एकाकी व्यक्ति को सर्वशक्तिमान बनाने का प्रयत्न करता है। अपनी बुद्धि से जिस व्यापक सत्ता का साक्षात् मैं कर रहा हूँ, उसका अन्वेषण और अनुसरण ही पीड़ित जन-समाज का एकमात्र मंगलपथ है, ऐसा उसमें विश्वास होता है। इसीलिए उसकी मूल आकांक्षा मसीहा बनने की आकांक्षा होती है—वह देवदूत, जो दिव्य प्रेरणा से जनता को मंगलदान करने के लिए अवतरित हुआ है। वह स्वयं को समाज से विच्छिन्न कर लेता है और इस प्रकार समस्त सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। 'मुक्ति' उसके होठों में स्पन्दित होने वाला चिरन्तन अभिचार-मन्त्र है। वह रईसों की क्रिया-शून्य विश्रामशीलता की म्रियमाण प्रतिध्वनि होता है। इसीलिए बूर्ज़ुआ के प्रति उसमें अपार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घृणा होती है, किन्तु सर्वहारा के प्रति वह समर्पित नहीं हो पाता। बूर्जुआ-समाज की संकीर्णता से मुक्त होने के लिए वह छटपटाता है, किन्तु उसकी सिद्धि में स्वयं को असमर्थ पाता है। पूँजीवाद की स्थिरता के काल में उसकी ये प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। समाज-व्यवस्था का आसन्न ध्वंस, चाहे वह वास्तविक या भासमान हो, उसके उन्नयन का क्षण होता है; किन्तु कोई व्यवस्था केवल अपने बोझ से नहीं ढह जाती, इसे वह नहीं जानता। अपनी विफलता का अन्तिम निश्चय हो जाने पर वह एक दुःखान्त अभिनय अपनाता है, यह प्रदर्शित करता है कि युग-प्रवर्तक की सम्भावनाएँ अपनी आत्मा में समेटे वह एक कृतघ्न युग के लिए शहीद हो रहा है।

अपनी सामाजिक हीनता की भावना उसे आत्म-प्रेम के अतिशय पर ले जाती है। उसकी मुक्ति का एकमात्र पथ होता है दलित, किन्तु प्रगतिशील मानवता के साथ तादात्म्य; किन्तु उसकी वह उपेक्षा करता है। उसकी क्रान्ति का क्षण बहुत पहले व्यतीत हो चुका। वह उन्हें आज भी एकाकी, बहिष्कृत, सार्थक अन्तःप्रेरणा से शून्य, बहिष्कृत की कुण्ठित प्रवृत्तियों और भावनाओं तथा मनोव्याधि और पापानुभूति का शिकार छोड़ गई है। अपने समस्त उपकरणों के साथ यही पापानुभूति उनकी कला में अभिव्यक्त होती है। कोइजलर, ऑरवेल, कोनोली, आल्डक्स हक्सले, ग्राहम ग्रीन, हैरी मिलर, जाँ पाल सार्त्र, मार्सल प्राउस्ट और टी० एस० इलियट इत्यादि का कृतित्व ऐसा ही है।

दस्तोएवस्की ने रूस के बुद्धिजीवी-वर्ग की पाप की समस्या को अंकित किया है। उनकी समाज-कृतियों में एक दृष्टान्त सन्निहित है। 'दि पजेस्ड' क्रान्ति की प्रतिक्रिया में परिणति का दृष्टान्त है। उस समय तक उसकी अन्य परिणति हो भी नहीं सकती, जब तक वह 'व्यक्तिगत विद्रोही' के आदर्श का समीपता से अनुगमन करती है और जो आदर्श सदा दस्तोएवस्की के समक्ष उपस्थित रहा। ऐसे विद्रोहियों के लिए यह आवश्यक है कि अपने आदर्श जगत् की सिद्धि के लिए वे एक सत्ता की प्रतिष्ठा करें और यह सत्ता अन्ततः उनसे ऐसी अधीनता की माँग करेगी जो उनके लिए सम्भवतः उस अधीनता से भी अधिक अपमानजनक होगी जिसके विरुद्ध उन्होंने पहले विद्रोह किया था।

"कौन अपने पिता की मृत्यु नहीं चाहता," कारामाजोव की इस पुकार में फ्रायड की ईडिपस ग्रन्थि की पूर्वध्वनि सुनाई पड़ती है। किन्तु इस पौराणिक कथा का उपयोग दस्तोएवस्की 'निहिलिज़्म' के एक राजनीतिक दृष्टान्त के रूप में करते हैं। सामाजिक उत्तरदायित्व से विच्छिन्नता व्यक्ति को सामाजिक न्याय से भी विच्छिन्न कर देती है। सत्ता का इसीलिए नाश कि वह सत्ता है, पितृघात को जाति की विद्यमानता के विरुद्ध अपराध बना देता है।

फ्रायड और स्विंगलर दोनों ही पापानुभूति की व्याख्या को प्रधान बनाकर चलते हैं, किन्तु फ्रायड का आधार मनोवैज्ञानिक है और स्विंगलर का सामाजिक। मनोवैज्ञानिक राजनीतिक संघर्ष को व्यक्तिगत पापानुभूति का प्रक्षेप मानते हैं। स्विंगलर को यह स्वीकार नहीं। दस्तोएवस्की की कृतियों में ईडिपस ग्रन्थि और पापानुभूति की उपस्थिति उनके व्यक्तित्व की विकृति के कारण नहीं, किन्तु ये तत्त्व मूल सामाजिक समस्या के दृष्टान्त-रूप में आए हैं। इसीलिए दस्तोएवस्की की कृतियों का विशुद्ध मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अपर्याप्त और अनुपयुक्त है। इस निर्णय का एक और भी गम्भीर कारण है, वह यह कि दस्तोएवस्की का साहित्य परम्परा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक व्यापक चेतना के माध्यम से प्रतिभासित हुआ है।

दस्तोएवस्की का युग रूस में पूँजीवाद के विकास का युग है। उस युग के विद्यार्थी, जो शीघ्र ही एक व्यवसायी-वर्ग में परिणत हो गए, रूसी बुद्धिजीवियों की विचित्र द्विविधा को मूर्तिमान करते हैं। उन्हें ही दस्तोएवस्की ने अपने विश्लेषण की प्रमुख सामग्री बनाया। दस्तोएवस्की की दीक्षा दस वर्ष तक साइबीरिया में कारावास की अवधि में हुई। उनमें आरम्भ से सामाजिक हीनता की भावना तो थी ही, अब उसके साथ उनमें पीड़ित होने की प्रत्याशा और आकांक्षा भी जाग गई। असाधारण संवेदनशीलता ने उनकी कल्पना का पोषण किया। इन दस वर्षों के अनुभव पर आश्रित 'हाउस ऑफ दि डेड' में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि "बुद्धिजीवियों द्वारा जनता की रक्षा नहीं होगी, प्रत्युत् जनता ही बुद्धिजीवियों की रक्षा करेगी।" 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' के अन्त में यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। साइबीरिया में निर्वासित रास्कलनिकोव उस सोनिया की प्रेरणा से नव-जीवन की सम्भावना का अनुभव करता है जो समाज से अपमानित, दलित और च्युत है। जो दस्तोएवस्की निश्चित रूप से जानते थे वह यह है कि एकाकी रहकर बुद्धिजीवी कुण्ठा और भ्रष्टता के अतिरिक्त और कुछ नहीं पा सकते। जिसका उन्हें धुँधला आभास था वह यह है कि समाज के निम्न वर्ग के मनुष्यों में ही प्राप्त होने वाली अनिर्वचनीय और अज्ञात गुणशीलता के बीज को विकसित करना आवश्यक है। इसके आगे वे नहीं देख सकते थे और उन्हें औद्योगिक श्रमजीवियों में एक वर्ग के रूप में विकसित होते हुए नये गुणों का कोई ज्ञान न था।

दस्तोएवस्की ने बचपन से पुश्किन की प्रत्येक पंक्ति याद की थी। पुश्किन के 'ओनेगिन' में जो द्वन्द्व उपस्थित है वही दस्तोएवस्की के समक्ष भी था। वह द्वन्द्व है—'बौद्धिकता, शंकावाद और नास्तिकता का सामन्तवादी रूस की आदिम धार्मिक दास्यवृत्ति के विरुद्ध संग्राम। अन्त में जो वस्तु रक्षा करती है, वह है चरित्र-बल अथवा रूसी व्यक्तित्व। समस्या का समाधान भी पुश्किन के विचार के अनुकूल है। सामाजिक परिवर्तन में विफलता की अनुभूति तथा धार्मिक समझौते में प्रत्यावर्तन की अनुभूति के साथ यह भावना भी विद्यमान थी कि सामाजिक कर्तृत्व का प्रथम भाग, एक रूसी संस्कृति और सामाजिक चेतना के निर्माण का कार्य सम्पन्न हो चुका है और अब यह आवश्यक है कि यह वरदान जगत् को प्रदान किया जाय। रूस के राष्ट्रीय व्यक्तित्व को श्रुतिप्रचारक बनना था। केवल रूसी आत्मा में यूरोप को अपने द्वन्द्वों का समन्वय प्राप्त होगा। दस्तोएवस्की का महत्त्व यह है कि उनकी असाधारण अन्तर्मुख चेतना परम्परा की एक गम्भीर अनुभूति तथा सामाजिक दायित्व की प्रबल भावना के माध्यम से विकसित हुई। इसीलिए वे उन समस्त विकृतियों और रोग-लक्षणों को उनकी उपयुक्त सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध कर सके जिन्हें आज हम पराजित बुद्धिजीवी के प्रदर्शनमूलक उपकरण के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं देखते।

सन् १८८० में दस्तोएवस्की 'पैन-स्लाविज़्म' के मसीहा बनकर उपस्थित हुए। अन्त में उन्होंने ईसा और रूस में, रूसी ईसा और रूसी ईश्वर में समस्या का हल पा लिया। उनका उद्देश्य रूसी बुद्धिजीवियों की जीवन-गति को 'ईसा और रूस' की खोज में सामाजिक और धार्मिक, प्रत्येक प्रकार के चेष्टित हल की स्थिति में अंकित करना था। सामाजिक चेतना को उसकी अभावमयी परिणति तक पहुँचाने का कार्य उन्होंने किया, किन्तु वास्तविक हल को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रबद्ध न कर सके। दस्तोएवस्की की कृतियों की शक्ति और उनका ऐतिहासिक महत्त्व स्वयं पाप की अभिव्यञ्जना में, समाज की क्रूरताओं और 'स्वतन्त्र' बुद्धिजीवी के ऐतिहासिक अभावों के प्रहरणशील विश्लेषण में सन्निहित है।

दस्तोएवस्की की उपर्युक्त चार समीक्षाएँ स्पष्ट ही एकमत नहीं हैं। फ्रायड और एडलर का विराट् अन्तर तो स्वयं प्रकट है, किन्तु दो मार्क्सवादी समीक्षक भी परस्पर पर्याप्त भिन्नता प्रदर्शित करते हैं। येर्मिलोफ दस्तोएवस्की के कृतित्व को प्रगतिशील और प्रतिगामी, इन दो पूर्णतया पृथक् कठघरों में बाँधकर देखते हैं, किन्तु स्विगलर उनके सम्पूर्ण अविभाज्य कृतित्व के मूल सत्त्व की व्याख्या में अग्रसर होते हैं। येर्मिलोफ़ उनमें निम्न-मध्य-वर्ग की चेतना प्रतिफलित देखते हैं, किन्तु स्विगलर बुद्धिजीवी की समस्या को। येर्मिलोफ पूँजीवाद के अभियान की चर्चा करके तत्काल निर्णय पर पहुँच जाते हैं, किन्तु स्विगलर दस्तोएवस्की की पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्परा को भी महत्त्व देते हैं। यही नहीं, स्विगलर पापानुभूति को केवल विकृति कहकर कृतकार्य नहीं हो जाते, किन्तु उसकी उपयुक्त सामाजिक व्याख्या पर विशेष ध्यान देते हैं। फ्रायड के समान ही स्विगलर दस्तोएवस्की में अन्तिम विफलता पाते हैं, किन्तु इसके लिए वे उनकी भर्त्सना नहीं करते। दस्तोएवस्की क्या नहीं कर पाए, इसे वे महत्त्व नहीं देते; किन्तु उनकी उपलब्धियों पर ध्यान देते हैं। स्विगलर एडलर के समान दस्तोएवस्की में मसीहा-वृत्ति तो लक्षित करते हैं, किन्तु उसका स्तवन नहीं करते और न मानवता के चरम कल्याण के मंत्र का सिद्ध अन्वेषक ही उन्हें मानते हैं।

इस लेख का उद्देश्य उपर्युक्त चारों समीक्षाओं के पक्ष अथवा विपक्ष में कोई अपना मत प्रस्तुत करना नहीं, उन्हें यहाँ वर्तमान युग की दो प्रमुख समीक्षा-पद्धतियों के क्रियाशील रूप को स्पष्ट करने के लिए उपस्थित किया गया है। किन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जो उन्हें देखते ही मन में उपस्थित होती हैं और जो चिन्तन तथा अग्रिम विश्लेषण के योग्य प्रतीत होती हैं। संक्षेप में उन्हें प्रस्तुत करके हम यह लेख समाप्त करेंगे।

बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया नीत्शे और वर्गसाँ के दार्शनिक चिन्तन तथा फ्रांस के प्रतीकवादियों की धारणा में स्पष्ट लक्षित होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान विज्ञान होने के अतिरिक्त एक सीमा तक अपने युग-जीवन का प्रवाहसूचक लक्षण भी है। दस्तोएवस्की केवल रूसी साहित्य के उत्थान-काल में एक अपवाद नहीं, किन्तु वे आधुनिक युग के ऐसे बहुत से लेखकों के शीर्ष स्थान पर अवस्थित हैं जिनकी कला-साधना पापानुभूति पर आश्रित है। इस पापानुभूति की विशुद्धतः मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा विशुद्धतः सामाजिक व्याख्या सम्भव है। इससे यह संकेत मिलता है कि दोनों दृष्टिकोणों में परस्पर अनुकूलता स्थापित करने की सम्भावना और आवश्यकता है, यद्यपि दो नितान्त विपरीत जाति के नियतिवादों में मूलभूत विरोध देखकर यह अभी सम्भव प्रतीत नहीं होता। एकमात्र सारगर्भ संकेत जो हमें मिलता है वह यह है कि उन व्यक्तियों की मानसिक प्रक्रिया, जो इतिहास के साथ चल रहे हैं तथा व्यापक जीवन से सम्बन्ध बनाये हुए हैं, उन मनुष्यों से भिन्न होती है जो ऐसा करने में विफल रहे। एक जीवन के प्रति तथाकथित साधारण प्रतिवेदन करता है और द्वितीय तथाकथित प्रवृत्तिमूलक, भावात्मक और विकृत प्रतिवेदन। अतएव विशुद्धतः मनोवैज्ञानिक और विशुद्धतः सामाजिक दृष्टिकोण अपनी कट्टरता में अपूर्ण प्रतीत होते हैं। इन समीक्षा-पद्धतियों का सर्वश्रेष्ठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण यह प्रतीत होता है कि जहाँ सामान्य विधियों से व्याख्या सम्भव नहीं दिखाई देती वहाँ वे छिपे हुए अर्थों का उद्घाटन करती प्रतीत होती हैं।

कलात्मक सर्जना का अर्थ फ्रायड की दृष्टि में केवल एक विशेष प्रकार की अभिव्यञ्जना अथवा रूपसृष्टि की क्षमता है। इसे वे अविश्लेष्य बताते हैं। रूप जिस वस्तु को छिपाये हुए है उसका उद्घाटन उनकी दृष्टि में समीक्षा का प्रधान कार्य है। मार्क्सवादी समीक्षा में भी वस्तु को प्रमुखता दी जाती है। व्यक्ति और समाज तथा उनके सम्बन्ध की धारणा कृति की वस्तु के निरूपण में महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यद्यपि दोनों ही दृष्टिकोण व्यापक रूप से समस्त साहित्य को लक्ष्य बनाकर चलते हैं तथापि दोनों में ही अपने अनुकूल विशेष जाति के साहित्य के प्रवर्तन की प्रवृत्ति है। ऐसी समीक्षाओं में अन्ततः हम लेखक की अपेक्षा समीक्षक अथवा उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को अधिक पाते हैं।

वर्तमान युग में 'मूल्य' चाहे अनुपस्थित न हों किन्तु वे अनिश्चित और परिवर्तनशील अवश्य हैं। वे जीवन में एक मूलभूत संघर्ष की सांकेतिक अभिव्यञ्जना करते हैं। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द अनेकार्थी है, जैसे 'मुक्ति' का अर्थ फ्रायड और मार्क्स के शब्दकोष में भिन्न होगा। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उपस्थित होता है वह लेखक की स्वतन्त्रता और उसके उत्तरदायित्व से सम्बद्ध है। यह निश्चित है कि कोई लेखक हमें प्रिय अथवा अप्रिय लगे, इसके पूर्व उसकी व्याख्या आवश्यक है। दस्तोएवस्की का कृतित्व यह प्रश्न उपस्थित करता है कि क्या विशेष प्रतिभाशाली कलाकार के लिए ऐसे महान् साहित्य की सृष्टि सम्भव है जिसमें समस्त माने हुए मूल्य उच्छिन्न हो गए हैं? क्या विकृतियों से ग्रस्त होकर भी महान् कला की साधना सम्भव है? क्या एक सन्तुलित मन अनिवार्य रूप से महान् साहित्य की सृष्टि में समर्थ है? ऐसी समस्याओं को सुलझाने के प्रयासों में ही समीक्षा का अग्रिम विकास सम्भव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

प्रकाशचन्द्र गुप्त

जहाज़ का पंछी

श्री इलाचन्द्र जोशी की उपन्यास-कला दो धाराओं में बही है। पहली धारा के उपन्यास मानवीय मनोविकारों की उलझनों से प्रभावित थे। इन उपन्यासों के माध्यम से जोशीजी की इच्छा मनुष्य की अन्तश्चेतना को निखारने की थी, किन्तु 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' के समान उपन्यासों में मनुष्य-स्वभाव के बड़े अरुचिकर रूपों का अङ्कन था। दूसरी धारा के उपन्यासों का आरम्भ 'निर्वासित' से होता है, जब जोशीजी ने बाह्य सामाजिक परिस्थितियों की ओर अपना ध्यान मोड़ा। अब तक अनेक उपन्यासों द्वारा जोशीजी अपनी कला की इस धारा को समृद्ध कर चुके हैं और अब यही धारा उनकी कला की मुख्य धारा बन चुकी है। 'मुक्ति-पथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' जोशीजी की उपन्यास-कला में एक तीव्र, सजग, सामाजिक भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन उपन्यासों में 'जहाज का पंछी' विद्रोही भावना से पूर्णतः ओत-प्रोत है; साथ ही वह जोशीजी की कला की आकर्षक रोचकता और मोहकता का भी निर्वाह करता है। 'जहाज का पंछी' कला-पक्ष और स्वस्थ, सामाजिक पक्ष, दोनों ही दृष्टियों से एक प्रौढ़ और परिपक्व कृति है। व्यक्ति-मानस की विकृतियों से सामाजिक विकृतियों की दिशा में जोशीजी की प्रगति हिन्दी-साहित्य की वर्तमान जागरूकता का एक सबल संकेत है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेमचन्द और पन्तजी का प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन में प्रवेश जितने महत्त्व का था, लगभग उतने ही महत्त्व का 'जहाज का पंछी' का प्रकाशन भी है। किस प्रकार पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं में पले वयस्क साहित्यकार नई, स्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपनाते हैं, उसका यह सन्देश है।

'जहाज का पंछी' कलकत्ता के विशाल जीवन में भटकते हुए एक शिक्षित नवयुवक की कहानी है, जो संगीत, कला, चिन्तन आदि हर दिशा में प्रतिभावान होते हुए भी जीविकोपार्जन का कोई सहारा नहीं पाता। क्रूर सामाजिक परिस्थितियों का वह असहाय शिकार है। समाज के ऊपरी स्तर में भयंकर खोखलापन है; नीचे के वर्ग में ही करुणा और मानवीयता के लक्षण कथा-नायक को मिलते हैं। बड़े ही आग्नेय और धधकते शब्दों में जोशीजी ने यह लम्बी कथा कही है। कथा का नायक शासकों की दृष्टि से आवारा है। अपने जीवन की कहानी वह इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार समझाता है—

"....मैं कोई विशेष गुणी न होने पर भी पढ़ना-लिखना जानता हूँ और पढ़ने-लिखने से सम्बन्धित कोई भी काम कर सकता हूँ। पर पहले तो इस तरह के कामों का ही आज बहुत बड़ा अभाव है और जहाँ कहीं ऐसे कामों की गुन्जाइश है भी, वहाँ आज के भ्रष्टाचारी युग में अयोग्य व्यक्ति तिकड़मबाजी से अपने को पूर्णतः योग्य सिद्ध करके घुस जाते हैं। योग्य व्यक्ति उस ठेलमठेल में पीछे को ढकेल दिए जाते हैं और दुनिया वालों की नज़र में चोर, गुण्डे, बेईमान और बदमाश सिद्ध होकर दर-दर ठोकरें खाते फिरते हैं, गली-दर-गली भटकते रह जाते हैं और एक जेल से दूसरे जेल में आश्रय खोजते रहने के सिवा उनके लिए कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता। उन्हीं युग-प्रताड़ित आवारों में से मैं भी एक हूँ, बस केवल इतनी ही मेरी रहस्यमयता है।"[1]

कथा का नायक यह गुमनाम आवारा अनेक बार जीवन आरम्भ करने का प्रयास करता है। वह जहाज के उस पक्षी के समान है, जो फिर-फिर जहाज पर उड़कर आ बैठता है—

"जैसे उड़ि जहाज़ को पंछी,
फिरि जहाज़ पै आवै।" (सूरदास)

भूखा और त्रस्त होने के कारण वह पाकेट-मार लगता है और हवालात में बन्द कर दिया जाता है। नई रोशनी का न्यायाधीश उसके विरुद्ध झूठी गवाही को पहचानकर उसे मुक्त कर देता है। वह कुछ दिन पहलवानों के एक अड्डे पर रहता है, जहाँ उसे सच्ची संवेदना और सहानुभूति मिलती है। यहाँ करीम चाचा से वह खाना पकाना सीखता है और आगे चलकर सभी मुसीबतों में खाना पकाने की नौकरी पा सकता है। वह एक बड़े पूँजीपति और कांग्रेसी नेता के घर नौकरी करता है, किन्तु उसे शिक्षित जानकर वे उसे कम्यूनिस्ट समझते हैं और निकाल देते हैं। फिर वह एक धोबी की लाण्ड्री में नौकरी करता है, फिर एक चकले में प्रधान रसोइए का पद प्राप्त करता है। यहाँ भी पुलिस उसे सताती है और अन्त में वह एक अमीर किन्तु स्नेहशील महिला के यहाँ आश्रय पाता है और सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनाओं में वे दोनों लगते हैं।

इस कथानक के इर्द-गिर्द कलकत्ता के मानवी महासागर की उत्ताल तरंगें सदा हिलोरें मारती रहती हैं। एक भयानक कोलाहल और कोहराम मानो पाठक का निरन्तर दम घोंटता रहता है। साँस लेने तक को मानो अवकाश नहीं मिलता। जोशीजी का मानव-जीवन का अपूर्व और विराट् अनुभव पाठक को चकित करता रहता है। पार्क और फुटपाथ का जीवन, कॉलेज-स्क्वायर की किताबों की दुकानें, हवालात और कचहरी, अस्पताल, अभिजातकुल की रहन सहन, पहलवानों के अड्डे, गिरहकट और पॉकेटमार, धोबियों की सीलन और बदबू-भरी कोठरियाँ, वेश्यालय का नारकीय जीवन, असहाय लड़कियों की दयनीय जीवन-कथा और अन्त में एक सम्भ्रान्त कुल-नारी का स्नेह-पाश, ये सभी विचित्र जीवन-परिस्थितियाँ साकार होकर उपन्यास में बोल उठी हैं।

अनेक पात्र सजीव होकर कथा में मुखारित हुए हैं। दर्जनों की संख्या में वे कथाकार के चतुर्दिक् जीवित होकर डराते हैं—करीम चाचा, भादुड़ी परिवार के व्यक्ति, प्यारे धोबी, उसकी

१. पृ० ३७२-३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़की बेला, फिर वेश्यालय के क्रूर, पाशविक जीवन से भयातुर नारियाँ, अमला, सुजाना, जुलेखा, और अन्त में लीला का स्वस्थ निर्मल स्नेह।

स्पष्ट ही 'जहाज का पंछी' का कथानक व्यापक है और इसमें प्रसार अधिक है। लेखक की निर्मम दृष्टि जीवन के अनेक घृणित और कुत्सित व्यापारों पर घूमी है और उनका यथार्थमय अङ्कन उसने किया है। यह उपन्यास आज के भ्रष्ट, पूँजीवादी समाज की नैतिकता पर कठोर मर्म-प्रहार करता है और जीवन की स्वस्थ, संघर्षरत प्रवृत्तियों को बल देता है। उन्नत और सचेत कला का ध्येय वह अपने उपन्यास में प्रतिष्ठित करता है। आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' का वर्णन वह इस प्रकार करता है—

"बीसवीं शती के इस उत्तरार्द्ध काल में भी, इसी कलकत्ता शहर के लाखों आदमी इन अस्वाभाविक और अमानुषिक परिस्थितियों में जीवन बिताने को बाध्य हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' में मनुष्य ने मनुष्य को मनुष्य न रह देने की कसम खा रखी है। स्वयं अपने सम्बन्ध में मुझे सन्देह होने लगता कि मैं मनुष्य नहीं हूँ, बल्कि उन खटमलों, मच्छरों, गोजरों, बिच्छुओं, मकड़ियों, तिलचट्टों और दीमकों की तरह ही मैं भी एक कीट हूँ (बड़ा कीट) जो चारों ओर से मुझे घेरे हुए हैं। पर दुर्भाग्य से उनके 'फ्री वर्ल्ड' में भी मैं 'अनफ़िट' बैठता हूँ और वे सब मुझे अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर मुझ पर अलग-अलग और सम्मिलित रूप से आक्रमण करते रहते हैं। रात-रात-भर उन कीटों द्वारा काटा जाता हुआ और यन्त्रणा से छटपटाता हुआ मैं सोचता कि आज की मनुष्यता कीटों द्वारा पराजित और परास्त है। कमरे के भीतर वास्तविक कीट और कमरे के बाहर मानव-रूपी कीट आज मनुष्यता का रक्त-शोषण करके उसे दीमकों की तरह चाटकर खोखला बनाने पर तुले हैं।"[1]

इन अन्धकार-भरी परिस्थितियों के बीच लेखक की दृष्टि प्रकाश की किरणें भी फूटती हुई देखती है और आशा का स्वर उपन्यास में ऊँचा उठा है—

"फिर भी, उस घुप अँधेरे के बीच में भी कभी-कभी प्रकाश और आशा की किरणें दिखाई देने लगती हैं। ऐसे क्षणों में मुझे यह विश्वास होने लगता है कि सिर्फ मेरे मन के ऊपर से ही नहीं, सारी मानवीय चेतना के ऊपर से एक दिन कुहासा हटेगा और अन्धकार के बादल फटकर रहेंगे। जीवन की सामूहिक व्यवस्था निश्चय ही बदलेगी और मानव-मानव के बीच का व्यवधान हटकर ही रहेगा और तब मेरी जिस रहस्यात्मक चेतना का विकास-पथ रुद्ध हो गया है, वह जहाँ रुकी थी वहाँ से आगे बढ़ेगी। वह मरी नहीं, केवल दब गई है और फिर एक दिन वह भी आएगा, जब सिर्फ मेरी ही नहीं सभी की वैयक्तिक चेतना विकसित होकर सामूहिक चेतना के विकास में सहायक होती हुई उसके साथ मिलकर एक पूर्णतया नई चेतना को जन्म देगी।"[2]

इस उपन्यास में जोशीजी की शैली में प्रसाद, ओज और कवित्व भर गए हैं। उनका गद्य प्रवहमान और सशक्त है। उसकी उपमाएँ आधुनिक वैज्ञानिक जीवन पर आधारित हैं और उसमें कल्पना का गुण भी पर्याप्त है। उनकी गद्य-शैली का एक उदाहरण देखिए—

१. पृ० २२६।
२. पृ० ४४६-७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सूरज पच्छिम में डूबने की तैयारियाँ कर रहा था। पच्छिम में कुछ देर से घिरे हुए गाढ़े काले बादल जलकर एकदम लाल हो गए थे, जैसे कोयलों के आकाशव्यापी गोदाम में आग लग गई हो और सब कोयले सहसा एक-साथ दहक उठे हों। उनकी रक्तिम आभा नदी पर पड़कर तेज़ हवा के कारण सौ-सौ उछलती हुई तरंगों में प्रतिबिम्बित होकर पिघलती हुई आग की तरह दिखाई दे रही थी।"[१]

जोशीजी कला को 'जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ' सम्बद्ध करना चाहते हैं। "आकाशी संस्कृति की हवाई उड़ान और फैशन की अस्थायी रंगीनी से" उसे मुक्त करके "जीवन के समुचित सामूहिक विकास में" वे उसे सहायक बनाना चाहते हैं।[२]

लोक-जीवन से कला का सम्बन्ध जोड़ना जोशीजी अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। वह कहते हैं—"लोकोत्तर आनन्द का सच्चा अधिकारी केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो लोक-जीवन में डूबकर लोक कल्याण-सम्बन्धी अपने कर्तव्यों का पालन पूर्णतया कर चुका हो। आत्मिक अमृत का सच्चा अधिकारी वही हो सकता है जो सामूहिक भौतिक जीवन पर छाये हुए महामरण, रोग-शोक और दुःख-दारिद्र्य के निवारण में युग-चेताओं के हाथ बटा चुका हो। यदि कला को लोक-जीवन से छिन्न करके केवल लोकातीत आनन्द की प्राप्ति का ही साधन माना जाय तो नीरो को सबसे बड़ा कलाकार मानना होगा। जब रोम में आग लगी हुई थी तब वह अपनी ऊँची अटारी से सामूहिक अग्नि-कला का आनन्दप्रद दृश्य देखता हुआ वीणा बजाने में तन्मय था और 'लोकोत्तर आनन्द' की प्राप्ति कर रहा था।"[३]

'जहाज़ का पंछी' उन्नत, विद्रोही कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें भारतीय जीवन की कटु वास्तविकताओं का अंकन है, साथ ही जीवन को दिशा देने का भी उत्कट आग्रह है। यह उचित ही है कि सचेत, सामाजिक भावना से परिपूर्ण यह उपन्यास लेखक ने 'विद्रोही कवि निराला को' भेंट किया है।[४]

रामचन्द्र तिवारी

हिन्दी-साहित्य में राम-कथा का अध्ययन

राम-काव्य की समीक्षा के इतिहास में आलोचना-ग्रन्थों के प्रकाशन से नवीन अध्याय की सृष्टि हुई है। 'राम-कथा' वस्तुतः राम-कथा की उत्पत्ति, विकास और विस्तार-सम्बन्धी सभी सम्भव स्रोतों को संगठित करने का स्तुत्य प्रयत्न है। लेखक ने राम से सम्बन्धित सभी इतिवृत्तों को सन्तुलित एवं क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। विभिन्न राम-कथाओं की परीक्षा के पश्चात् राम-कथा के मूल रूप पर विचार किया है। देशी-विदेशी, प्राचीन-अर्वाचीन साहित्यों में बिखरे

१. पृष्ठ १६४।
२. " ३८३।
३. " ३८४।
४. ले० श्री इलाचन्द्र जोशी; प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई, इलाहाबाद, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए राम-कथा सूत्रों के स्वरूप का उद्घाटन किया है। इन सूत्रों की एकरूपता तथा अनेक-रूपता पर विचार करते हुए परिवर्तन के कारणों को लक्ष्य किया है। इस प्रकार इस वैज्ञानिक अध्ययन में विद्वान् लेखक का दृष्टिकोण राम-कथा-सम्बन्धी समस्त सूत्रों के उद्गम, विस्तार और विकास तक सीमित है। इसीलिए लेखक ने पन्द्रहवीं शती के बाद के संस्कृत साहित्य तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के रामकथा-साहित्य के अध्ययन पर अधिक बल नहीं दिया है। लेखक की दृष्टि में यह साहित्य राम-कथा-साहित्य न होकर राम-भक्ति-साहित्य है।

'मानस में राम-कथा' का दृष्टिकोण तुलसीकृत रामचरित-मानस की आध्यात्मिक, व्यावहारिक तथा साहित्यिक महत्ताओं का संक्षिप्त प्रकाशन है। प्रसंगवश प्रारम्भ में राम-कथा के उद्गम और विकास पर भी विचार किया है। कृति से कृतिकार का अभिन्न सम्बन्ध मान-कर लेखक ने कवि की उस मानसिक पृष्ठभूमि का भी गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है जिसने राम-भक्ति को वैयक्तिक साधना की संकीर्ण सीमाओं से निकालकर पूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए लेखक रामचरित-मानस की कथा के विकास एवं संगठन पर विहंगम दृष्टि डालता है। विहंगम होते हुए भी यह दृष्टि पर्याप्त सूक्ष्म है। मानस की प्रारम्भिक भूमिका का अपूर्व उठान, कथा-विकास की महत्ता, चरित्र-चित्रण की कला, तथा कथा-सूत्रों की गतिमयता, स्थिरता और विस्तारादि का रहस्य-उद्घाटन लेखक की विहंगम दृष्टि से ही हुआ है। अनेक विधि-निषेधों को लेकर चलने वाली तुलसी-कृत राम-कथा की मानसी-स्थिति पर विचार करते हुए लेखक ने उसके उद्भव, उद्देश्य तथा स्वरूप सभी को मानसिक सिद्ध किया है। यह राम-कथा महेश के मानस में समुद्भूत हुई और जन-मानस को शान्ति देने के लिए मानस के मानसरोवर के समान ही शीतल तथा सुखद सिद्ध हुई। अतएव इसकी संज्ञा 'रामचरितमानस' होनी ही चाहिए। लेखक को मानस के काव्य-सौष्ठव ने कम आकर्षित नहीं किया है। इसीलिए उसने अन्तिम परिच्छेद में काव्य-सौन्दर्य एवं अर्थ-गौरव पर भी महत्त्वपूर्ण विचार प्रगट किए हैं।

'मानस की रामकथा' का लक्ष्य रामकथा के स्वरूप का गम्भीर, व्यापक एवं विशद अध्ययन प्रस्तुत करना है। इसलिए लेखक ने मानस की रामकथा को लक्ष्य में रखकर राम-कथा के समग्र स्वरूपों को पृष्ठभूमि में उपस्थित किया है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में ग्रन्थकार का संक्षिप्त किन्तु पूर्ण जीवन-वृत तथा कृतियों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में रामचरितमानस की कथा का विविध दृष्टियों से अध्ययन किया गया है। लेखक ने मानस के रूपक की व्याख्या की है, उसके प्रबन्ध-सौष्ठव पर विचार किया है, उसे केवल महाकाव्य के रूप में ही नहीं, भक्ति-काव्य के रूप में भी देखने का सतर्क आग्रह किया है तथा उसमें समन्वित सांस्कृतिक आदर्शों का विस्तृत उल्लेख किया है। मानस की शैली पर विचार करते समय संवाद-शैली के स्वरूप निर्वाह, कौशल, महत्ता तथा गाम्भीर्य की ओर भी संकेत किया गया है। राम कथा के अतिरिक्त मानस की कथा में तीन अन्य कथारूपों का समावेश है। लेखक ने इन्हें चरित-कथा, हेतु-कथा और अन्तरकथा के रूप में उपस्थित किया है। अध्याय समाप्त करते हुए लेखक हमारा ध्यान 'मानस' के दार्शनिक महत्त्व की ओर भी आकर्षित करना नहीं भूलता।

तीसरे अध्याय में रामकथा के विविध रूपों, रामकथा की उत्पत्ति और विकास तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामकथा की व्यापकता पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। मानस की रामकथा के स्वरूप को पूर्णतया समझने के लिए यह अध्ययन आवश्यक था। इस अध्याय को पूर्ण बनाने में फादर बुल्के की रामकथा से पर्याप्त सहायता ली गई है। इस प्रसंग में लेखक ने फ़ारसी और अरबी रामकथाओं की चर्चा भी की है। बुल्के महोदय ने इस सूत्र की ओर ध्यान नहीं दिया है। कथा-सूत्र के विकास की दृष्टि से इनकी महत्ता न होने के कारण ही उनका ध्यान इस ओर नहीं गया, क्योंकि फारसी और अरबी की रामकथाएँ प्रायः संस्कृत-ग्रन्थों से अनूदित हैं।

चौथे अध्याय में लेखक ने 'वाल्मीकि-रामायण', 'अध्यात्म-रामायण', 'प्रसन्नराघव', 'महावीर-चरित' और 'हनुमन्नाटक', 'श्रीमद्भागवत', 'पउम चरिउ' आदि अनेक प्रमुख राम-काव्यों के साथ मानस के कथा-स्वरूप की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। साथ ही मानस के समसामयिक अन्य राम-काव्यों—'रामचन्द्रिका' तथा 'राम लिंगामृत'—के कथा-रूपों की तुलना भी मानस के साथ की है। अन्त में तुलसी की अन्य रचनाओं को भी मानस के साथ रखकर देखा है। वस्तुतः यह तुलनात्मक अध्ययन चतुर्वेदी जी के विस्तृत एवं गम्भीर अनुशीलन का प्रतिफल है।

उपसंहार में पूर्व-विवेचित समस्त सामग्री की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

द्वितीय खण्ड में रामचरितमानस का मूलपाठ, जिसका सीधा सम्बन्ध राम-कथा से है, जोड़ दिया गया है। इस मूलपाठ के सम्पादन में लेखक ने 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' (संवत् २००५) तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'रामचरितमानस' (सं०२००६) का आधार लिया है। अन्त में शब्दकोश तथा संक्षिप्त कथा-प्रसंग देकर ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ा दी गई है।

इस प्रकार पिछले तीन वर्षों के भीतर प्रकाशित होने वाले ये ग्रन्थ निश्चय ही राम-साहित्य के अध्ययन को बहुत आगे खींच लाते हैं। राम-कथा से सम्बन्धित सूत्रों का विश्लेषण बुल्के महोदय की कृति 'राम-कथा' है। निश्चय ही समस्त हिन्दी वाङ्मय में यह अपने ढंग का अकेला अध्ययन है। राम-कथा की मानसी-स्थिति की संगतिपूर्ण व्याख्या करते हुए 'मानस में रामकथा' के विद्वान लेखक ने भी रामचरितमानस के आध्यात्मिक अध्ययन को एक नई दिशा दी है। प्रत्येक सोपान में निरूपित कथा के आधार पर समानान्तर आध्यात्मिक संकेतों का निर्देश है। चतुर्वेदी जी के अध्ययन में गति, गहनता, गम्भीरता और विस्तार है। 'कृति' को उसकी विस्तृत ऐतिहासिक पीठिका में रखकर देखने का आपका प्रयत्न स्तुत्य है। वस्तुतः यदि चतुर्वेदी जी को हिन्दी-साहित्य में विशुद्ध ऐतिहासिक समीक्षा का जन्मदाता मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'कृति' को कृतिकार की दृष्टि से परखने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित है। उसके स्वरूप को समझने के लिए उसी कोटि की अन्य कृतियों से तुलना अनिवार्य है तथा उसकी गहराई को हृदयंगम करने के लिए उससे सम्बन्धित विषय-तत्त्वों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। 'मानस की रामकथा' में ये तीनों विशेषताएँ समन्वित हैं। द्वितीय अध्याय में 'मानस' के विषय-तत्त्व का गम्भीर विश्लेषण है। तृतीय अध्याय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा परम्परा उपस्थित करता है और चतुर्थ अध्याय तुलनात्मक समीक्षा। अतएव मानस की रामकथा के स्वरूप का यह प्रथम पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन है।

रामभक्ति का विकास, उसकी मध्ययुगीन स्थिति, अन्य भक्तिस्रोतों से उसकी समता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषमता तथा युगानुकूल उसके स्वरूप-परिवर्तन की ऐतिहासिक व्याख्या अभी प्रस्तुत नहीं हो सकी है। देखना है, राम-साहित्य के उपर्युक्त सुकृतियों में अपनी साधना का श्रम-परिहार करने के लिए कौन राम-भक्ति-सरिता में स्नान करने के लिए आगे बढ़ता है।[1]

रामलालसिंह

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा

भारतीय काव्य-शास्त्र की मुख्यतः छः परम्पराएँ हैं—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य की। विभिन्न आचार्यों के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रायः इन्हीं के अनुसार निर्मित हुए। सामग्री के औचित्यपूर्ण विधान तथा योजना की दृष्टि से यही उचित था कि हिन्दी के विभिन्न आचार्यों की समीक्षा-सामग्री भी उपर्युक्त काव्य-परम्पराओं की दृष्टि से नियोजित की जाती। उदाहरणार्थ यदि शुक्लजी की सामग्री रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य मतों के क्रम से नियोजित करके अन्त में काव्य-स्वरूप-सम्बन्धी सामग्री दी जाती तो सामग्री के नियोजन तथा सम्पादन में अधिक औचित्य आ जाता।

सम्पादक का कहना है कि भारत से लेकर वर्तमान हिन्दी-आलोचकों तक के सैद्धान्तिक वक्तव्यों का संचयन इस पुस्तक में है। संस्कृत ही नहीं, वरन् हिन्दी के भी कई प्रसिद्ध समीक्षक उपेक्षित हो गए हैं। जयदेव के 'चन्द्रालोक', अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' तथा भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' एवं 'रस मंजरी', मुकुलभट्ट के 'अभिधावाद' का हिन्दी-समीक्षकों पर बहुत प्रभाव पड़ा। अतः इन आलोचकों की उपेक्षा उचित नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार रीतिकाल में पदमाकर, रामसिंह तथा सूरति मिश्र की भी उपेक्षा हो गई है। इन आचार्यों ने रीतिकाल में होते हुए भी अपने-अपने ग्रन्थों में स्वगृहीत परम्पराओं के विषय में कुछ मौलिक बातें कही हैं, जैसे रामसिंह के 'रस निवास' में मनोविकार तथा भाव का अन्तर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में हास्य-रस के विभिन्न भेद, माया रस की कल्पना, रससिद्धान्त के आधार पर काव्य का वर्गीकरण नवीन रंग का मिलता है। इसी प्रकार आधुनिक युग में लाला भगवान-दीन अलंकार-परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य माने जाते हैं। इस संकलन में उनका अभाव खटकता है।

सम्पादक के निवेदन के अनुसार इस पुस्तक का उद्देश्य है भारतीय काव्य-शास्त्र की समृद्ध परम्परा का क्रमबद्ध निरूपण। किन्तु पुस्तक में यह कहीं नहीं बताया गया है कि भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा क्यों समृद्ध मानी जाती है? इसकी समृद्धि के कौन-कौनसे कारण हैं?

---

१. राम-कथा : उद्गम और विकास; ले० डॉ० कामिल बुल्के; प्र० हिन्दी-परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय। मानस में राम-कथा; ले० डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र; प्र० वंगीय परिषद्, कलकत्ता। मानस की राम-कथा; ले० परशुराम चतुर्वेदी; प्र० किताब महल, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी-काव्य-जिज्ञासुओं के लिए किया गया है, अतः संस्कृत आचार्यों के वक्तव्यों का हिन्दी-अनुवाद पहले और मूल बाद में दिया गया है। इस ग्रन्थ में जो संस्कृत आचार्य संकलित किये गए हैं उनमें से कई आचार्यों की कुछ प्रमुख बातें छूट गई हैं, जैसे वामन में गुण-विवेचन का अंश छूट गया है। वामन रीति-परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य हैं। गुण उनकी दृष्टि में रीति के आत्म-तत्त्व हैं। अतः वामन का गुण-सम्बन्धी वक्तव्य उपेक्षित नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार आनन्दवर्धन का काव्य-पुरुष का रूपक उपेक्षित होने योग्य नहीं है। कुनाक का गुण तथा रीति-सम्बन्धी वक्तव्य मौलिक ढंग का है। संकलन में इसका अभाव भी खटकता है।

इस पुस्तक से हिन्दी-काव्य-जिज्ञासु संस्कृत समीक्षा की विभिन्न परम्पराओं, रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य के अनुसार काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों की क्रमागत परिभाषाओं, उनके विविध भेदों, काव्यहेतुओं, प्रयोजनों, काव्य-लक्षणों आदि की सामग्री का परिचय एक स्थान पर सर्वाधिक मात्रा में पा सकता है; किन्तु आधुनिक हिन्दी-काव्य में उनकी क्या आवश्यकता है, उनसे हमारे रचनात्मक साहित्य को कितनी स्फूर्ति तथा व्यापकता मिल सकती है, उनसे हिन्दी-समीक्षा का नवनिर्माण कार्य कितनी दूर तक हो सकता है, साम्प्रत जीवन के मूल्यों के प्रत्यभिज्ञान में उनसे कितना योगदान मिल सकता है, आदि बातों का ज्ञान नहीं होता।

परम्परा के परिचय का अर्थ अतीत का अन्धानुकरण नहीं, वर्तमान को अतीत के मानदण्ड से नापना नहीं, और न अतीत को वर्तमान द्वारा आँकना है, वरन् अतीत के विकसित रूप को जानना है, वर्तमान में उसके स्थान एवं मूल्य को निरूपित करना है जिससे नूतन रचनाओं एवं नवीन जीवन-मूल्यों का अतीत की प्रवहमान परम्परा के साथ एक तारतम्य स्थापित हो सके, एकसूत्रता निरूपित हो सके। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक हमारी परम्पराएँ प्राणवान बन नहीं सकतीं। आज भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्पराओं को प्राणवान बनाने की आवश्यकता है। यह आवश्यकता गतानुगतिकता से सम्पादित नहीं हो सकती। उसमें से नये युग की सार्थकता के स्पन्दन को ढूँढ़ निकालने में जब हम समर्थ होंगे तब हम उन्हें प्राणवान सिद्ध कर सकेंगे। आशा है डॉ० नगेन्द्र जैसे सुयोग्य आलोचकों का दूसरा चरण भारतीय समीक्षा की परम्पराओं को प्राणवान सिद्ध करने की ओर उठेगा।

इस ग्रन्थ में कतिपय छापे की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं, जैसे क्रमणिका में सम्बन्ध-निर्वाह, चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति, काव्य में कल्पना आदि पदावलियाँ दो बार आ गई हैं जिनकी एक ही बार आवश्यकता थी। शुक्लजी की निधन तिथि पृष्ठ ६३४ पर सन् १९४० दी हुई है जो अशुद्ध है, क्योंकि उनकी निधन तिथि १९४१ है। भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में निश्चय ही भारतवर्ष की अनेक सहस्र शताब्दियों की संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन का इतिहास निहित है; अतएव इसकी सामग्री-संचयन का कार्य बहुत ही अध्यवसाय, धैर्य एवं क्षमता की आवश्यकता रखता है। इस गुरुतर कार्य के सम्पादन का जो प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है इसके लिए इस ग्रन्थ के सम्पादक तथा इसके विभिन्न अंशों के अनुवादक एवं नियोजक हमारे साधुवाद के पात्र हैं।[1]

१. ले० डॉ० नगेन्द्र, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामरतन भटनागर

आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान

बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोविश्लेषण-शास्त्र का विकास है। इस नये शास्त्र की उपपत्तियों ने मानव-जीवन-सम्बन्धी हमारी उस उदात्त धारणा को चुनौती दी है जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्राणी-शास्त्र और भौतिक विज्ञान की शोधों में जन्म लेती है और जो मनुष्य को जीवन-विकास के मूर्धन्य पर स्थापित करती है। उसने अवचेतन के गुहागर्त में छिपे हुए मानव के उस पशुत्व पर प्रकाश डाला है, जो समाज-संस्कृति द्वारा दुर्दमनीय वासनाओं के दमन में हुंबारव भरता हुआ जीता है और जरा-सी भी असावधानी पाकर हमारे नैतिक निरोधों को चकनाचूर कर डालता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नये शास्त्र ने मानव-जीवन की सीमाओं को विस्तृति दी है और मनोविज्ञान को अन्तःस्थ जीवन का पर्याय बना दिया है। आधुनिक साहित्य में मनोविश्लेषण-शास्त्र का सबसे अधिक प्रसाद कथा-साहित्य को मिला है। एक तरह से मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप में उपन्यास की एक नई ही कोटि बीसवीं शताब्दी में जन्म लेती है और उपन्यास में गृहीत जीवन का रूप ही नहीं, औपन्यासिक कथा-शिल्प भी बदल जाता है।

कथा-साहित्य का उपजीव्य मानव-जीवन है। जहाँ मानवेतर जीवन को कथा का रूप दिया गया है, वहाँ उस पर मानव-जीवन की द्विधाओं, असंगतियों, भावनाओं और प्रक्रियाओं का ही आरोप है। मानव-सभ्यता के विकास के आरम्भिक युगों में नाटक और महाकाव्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए चुने गए और उनमें पात्रों के बहिर्द्वन्द्वों, कार्य-कलापों एवं नैतिक असंगतियों को अभिव्यक्ति का विषय बनाया गया। यह नहीं कि मनुष्य का आन्तरिक जीवन उनमें है ही नहीं, परन्तु वह अपनी सीमाओं के साथ है। ग्रीक-नाटकों की अनेक मनो-ग्रन्थियों का उद्घाटन फ्रायड ने किया है और उसके आधार पर अपने मनोविश्लेषण-शास्त्र को पुष्टि दी है। परन्तु आभ्यन्तर जीवन का सच्चा स्वरूप हमें कथा-साहित्य में ही मिलता है। सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अथवा फील्डिंग से लेकर दस्तोएवस्की तक कथा-साहित्य की प्रगति उपन्यास के आभ्यन्तर प्रयाण की कथा है, परन्तु प्रारम्भ से ही उपन्यास में मनोमयता की प्रधानता रही है। महान् कथाकारों ने अपनी विचक्षण अन्तर्दृष्टि के सहारे जीवन के सूक्ष्म और दुर्ग्राह्य उतार-चढ़ाव रखे हैं और चेतना-प्रवाह की अतल गहराइयों का स्पर्श किया है। उन्होंने सम्पूर्ण अविभक्त और अखण्ड जीवन को वाणी दी है। अन्तरंग जीवन को उन्होंने बहिरंगी क्रियाकलापों की भूमिका पर से देखा है। वास्तव में तुर्गनेव (१८१८-१८८३), दस्तोएवस्की (१८२१-१८८१), टालस्टॉय (१८२८-१९१०), प्रॉउस्त (रचनाकाल १९१३-१९२६), जॉर्ज शैण्ड, स्टेण्ड्हल (रचनाकाल, १८३०-१८३९) और हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) के उपन्यासों में अज्ञात रूप में मनोवैज्ञानिक स्थितियों एवं तथ्यों की जैसी अन्तर्दृष्टिपूर्ण योजना है, वैसी नवीनतम कथाकारों की कृतियों में नहीं मिलती, यद्यपि उनके पीछे कई दशकों की मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों और वृत्तेतिहासों की शृङ्खला है। गत्यात्मक जीवन के चेतनामूलक प्रवाह को इन कथाकारों ने अत्यन्त निकट से और बारीकी से देखा है। इसीसे हम उन्हें अलौकिक दृष्टि-सम्पन्न कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु १८६५ में फ्राइड द्वारा जिस नवीन प्रयोगात्मक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की नींव पड़ी, वह शीघ्र ही मनोविदों की गोष्ठी से बाहर निकलकर कथाकारों की प्रेरणा बन गया और १९२० के बाद के कथा-साहित्य को इन नई उपपत्तियों ने सज्ञान रूप से प्रभावित किया। पहले जहाँ मनोविज्ञान उपन्यासकार का साधन था, वहाँ अब वह साध्य बनता जा रहा है। उपन्यास आन्तरिक जीवन में सिमट गया है और वह आज अन्तर्जगत् के पूर्वापर-विच्छिन्न, अवचेतनमूलक, अहंजन्य विस्फोट का लीला-भवन बन गया है। प्रस्तुत आलोच्य-ग्रन्थ डॉ० देवराज उपाध्याय के 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' में पिछले २५ वर्षों के हिन्दी कथा-साहित्य को मनोविश्लेषण के चार-पाँच प्रमुख 'स्कूलों' की उपपत्तियों द्वारा परखा गया है। ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत पी-एच० डी० प्रबन्ध के रूप में प्रकाशित है। आरम्भिक अध्यायों में शोधकर्त्ता ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के विभिन्न पुरस्कर्ताओं, विशेषतः फ्राइड-एडलर-युंग की मान्यताओं पर प्रकाश डाला है और गेल्टाल्टवाद जैसी उपशाखाओं की भी चर्चा की है। इसी भूमिका पर अगले अध्यायों में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल और कतिपय अन्य कथाकारों के कला-यत्नों की परीक्षा की गई है। प्रेमचन्द के साहित्य पर मनोविज्ञान की प्रत्यक्ष छाप नहीं है, परन्तु कला-विकास के साथ उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतर होती गई है और उन्होंने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की प्रक्रियाओं को विचारक की सूक्ष्मता और कलाकार की सहृदयता से पकड़ा है। वास्तव में प्रेमचन्द उन्नीसवीं शती के महान् कलाकारों के साथ हैं और उनके साहित्य में मनोविज्ञान साधन है, साध्य नहीं। मनुष्य के आन्तरिक जीवन में उन्होंने सैर की है, उसमें कुत्सा और निरोध देखे हैं, परन्तु उनकी कला में खण्ड मानव नहीं, सम्पूर्ण अन्तर्योजित मानव ही उभरा है। मनोविश्लेषण का आग्रह (या दुराग्रह ?) जैनेन्द्र के पदार्पण से शुरू होता है और 'परख' में उसकी पहली मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना है। स्वयं प्रेमचन्द ने 'परख' की शैली की प्रशंसा की थी, यद्यपि वे उसके अति-आदर्शवादी अन्त से सहमत नहीं थे। जो हो, यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की उपपत्तियों का सोद्देश्य उपयोग जैनेन्द्र से आरम्भ होता है और अज्ञेय तथा इलाचन्द्र में उसका संभार इतना बढ़ जाता है कि कथा-प्रवाह एवं चरित्र-विकास में बाधा पहुँचती है।

डॉ० देवराज उपाध्याय की यह शोध हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का नवीनतम अध्याय लेकर चलती है और यद्यपि कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक आरोपों एवं मनोविश्लेषणीय तथ्यों में पूर्वग्रह दिखलाई पड़ता है, तथापि यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी सीमाओं को स्वीकार करते हुए ही लेखनी चलाई है और उपन्यास की नई प्रगति को परखने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि देकर उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। ज्ञात रूप से मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण का जहाँ संकेत मिला है, वहाँ वृत्तेतिहासों से तादात्म्य दिखाकर अथवा जाने-माने सिद्धान्तों की ओर इंगित कर उन्होंने नई औपन्यासिक कला की मनोमयता और विज्ञान-बद्धता की सूचना दी है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे खोज की नई दिशाएँ उद्घटित हुई हैं और साथ ही आधुनिक उपन्यासकारों की सीमाएँ भी सामने आई हैं। वे सम्पूर्ण मानव को न लेकर खण्ड मानसिक जीवन को लेकर चलते हैं और उनके हाथ में उपन्यास अपनी 'महाकाव्यता' खोकर गीतात्मक, रहस्यमय और भावाकुल बन गया है। स्पष्ट ही इससे हानि हुई है क्योंकि जीवन की अखण्डता, विशदता और ऊर्ध्वमूलकता की ओर से हमारी दृष्टि हट गई है और हम खण्डित, क्षुद्र और निम्नगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षणों के रहस्यमय आन्दोलनों के इतिहासकार बनकर रह गए हैं। कहा जाता है कि इससे उपन्यास की रसमूलकता और चरित्रनिष्ठा नष्ट हुई है तो उसे नई संवेद्यता, नई आन्तरिकता और नई सांकेतिकता भी प्राप्त हुई है। परन्तु उस संवेद्यता का क्या मूल्य होगा जो हमें जीवन के प्रति संशयालु, विद्रोही और अनास्थापूर्ण बनाएगी और उस आन्तरिकता से हम क्या सिद्ध कर सकेंगे जो अतर्क्य एवं असंगति पर आधारित होगी? जो हो, स्पष्ट ही परिस्थिति विषम है और इसी विषमता को दृष्टि में रखकर कदाचित् पश्चिम में उपन्यास की मृत्यु की बात चली है।

यूरोप में अनास्था का युग पहले महायुद्ध के बाद आरम्भ हुआ जिसमें पुरातन सभी मूल्य असिद्ध हो उठे थे। नई पीढ़ी की नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में अराजकता का अनुभव हुआ परन्तु न तो उसमें नये मूल्यों के निर्माण की शक्ति थी, न तत्सम्बन्धी धारणा के विकास की। फलस्वरूप सर्जनात्मक चिन्तन और सक्रियता का लोप हो गया। ऐसे समय में फ्राइड-एडलर-युङ्ग के आविष्कार तन्त्र बन गए और मानव-जीवन को 'केस-हिस्टरी' कोष में ढूँढ़ा जाने लगा। रुग्ण और विकृत मनस् मानदण्ड बन गया, क्योंकि मनोविश्लेषण की नई खोजों का वही आधार था। प्रतीक, स्वप्न, हिस्टीरिया, अन्तर्स्वगत, चेतना-प्रवाह, 'फ्लैश-बैक' आदि अभि-व्यञ्जना-शैलियों को प्रधानता मिली और दुर्बल व्यक्तित्व, क्षयग्रस्त, स्वयं-पीड़ित, परास्त मानव के रूप में एक नया नायक उपन्यास को मिला। कथा-साहित्य हेमलेटों से भर गया और एक प्रकार से अस्पताल ही मानव-जीवन का प्रतिनिधि हो गया। फलस्वरूप जीवन के प्रति हमारी आस्था डिगी और हम स्वयं अपने कला के शीश-महल में बन्दी हो गए। यौन-विकृतियों, रुग्ण मनःस्थितियों और अतिभावुक क्षणों पर किसी स्वस्थ जीवन-दर्शन का निर्माण असम्भव है। रोगी-मानस में पुनर्स्मरण-प्रक्रिया द्वारा अवचेतन के उभारने का तन्त्र अस्थायी और असाधारण है और रोगी के स्वस्थ होते ही वह समाप्त हो जाता है। परन्तु उपन्यासकारों ने रोग को ही उपचार मान लिया और नैतिक निरोधों एवं चेतन मन की सुबद्ध धारणाओं और मूल्यगत भावनाओं को एकदम अस्वीकार कर दिया। चेतना-प्रवाह पद्धति में चेतन मन की क्रियाओं और हृदय की सुबद्ध संवेदनाओं का उपयोग नहीं किया जाता और इसका फल यह हुआ है कि रूढ़ प्रतीकों और जड़ जीवनादर्शों के स्थान पर हम एक दूसरे प्रकार की और भी जटिल रूढ़िबद्धता के शिकार हुए हैं। चेतन-अचेतन, अन्तर्बहिः, चिन्तन-कर्म के द्वन्द्वों का समाहार आधुनिक कथा-साहित्य नहीं कर सका तो उपन्यास की बोधगम्यता और प्रतीकात्मकता शीघ्र ही नष्ट हो जायगी और वह प्रलाप-मात्र रह जायगा। इस संदर्भ में डॉक्टर उपाध्याय का यह शोध-ग्रन्थ प्रयोक्ता कथाकारों और सुधी पाठकों के लिए चेतावनी भी है।

यह स्मरण रखना होगा कि जीवन का महदंश मनोविश्लेषण-शास्त्रों और मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों से बाहर है और उसे किसी भी प्रकार 'वादों' में नहीं बाँटा जा सकेगा। साहित्य में जीवन की आन्तरिकता और विशृङ्खलता भी है, परन्तु न तो आन्तरिकता कार्य-व्यापार की विरोधिनी है, न विशृङ्खलता अराजकता का दूसरा नाम है। कलागत सौष्ठव और बोधमयी सुचारुता के अभाव में आज का उपन्यास ऐसा तिलिस्म बना जा रहा है जिसकी कुञ्जी मनोवैज्ञानिकों के हाथ में है, साहित्यिकों के हाथ में नहीं और जो महान् को क्षुद्र बनाकर ही अपनी सार्थकता प्रकट कर सकता है। निश्चय ही यह परिणति चिन्त्य है। मनोविश्लेषण जहाँ उपन्यासकारों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्दृष्टि को पैनी और सूक्ष्म बनाता है, अन्तर्जगत् की भूलभुलैयों में उतरने के लिए धारणा-सूत्र देता है, अथवा जीवन की असंगतियों को संस्कारजन्य बनाकर मनःस्वास्थ्य के लौटाने में सहायक होता है, वहाँ तक उसकी उपादेयता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। वह उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि का स्थान नहीं ले सकता। मनोविश्लेषण मनुष्य के मन को खण्ड-खण्ड कर उसकी परीक्षा करता है, परन्तु इन असम्बन्धित, अनगढ़ मानस्-खण्डों को अन्तर्योजित कर चेतना-प्रवाह की चरित्रमूलक अभिव्यञ्जना उपन्यासकार का काम है। एफ़० एल० लुकास ने अपने ग्रन्थ 'लिटरेचर एण्ड साइकालोजी' में शेक्सपिअर के प्रमुख नाटकों का विश्लेषण करते हुए जो 'केस' (वृत्त) दिए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ महान् कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा त्रासकीय वैभव की सृष्टि करता है, वहाँ मनोविद् के पल्ले वास्तविक जीवन की अनगढ़ ट्रैजी-कॉमेडी ही पड़ती है। यह अवश्य है कि मनोशास्त्र के अध्ययन से जीवन के प्रति हमारे अभिजात निरोध नष्ट हो जाते हैं और अन्तर्मन के क्षुद्रतम, कुत्सापूर्ण, असन्तुलित स्पन्दन सत्य के अविभाज्य पहलू बन जाते हैं। परन्तु इस नये मनोज्ञान को हमें प्रत्यक्ष जीवनानुभूति से पुष्ट करना होगा और उसकी अभिव्यक्ति-कला औपन्यासिक परम्परा से सीखनी होगी। आज के अतिवादीय दृष्टिकोण से आगे बढ़कर जब हम मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण को चेतन मन की समष्टि से सम्बन्धित कर सकेंगे, तभी नई, स्वस्थ और प्रगतिशील औपन्यासिक कला की सृष्टि होगी। उस समय हम पीछे मुड़कर अपने ३०-५० के कथा-साहित्य में वे अनुकरण, आरोप और असंगतियाँ भी देख सकेंगे जिनका आलोच्य ग्रन्थ में संकेत-मात्र है।

अन्त में एक बात ग्रन्थकार की शैली के सम्बन्ध में भी कहनी है। वैज्ञानिक शोध में तर्क-संगति और विषय-निर्वाह का तरतम विकास वांछित है, परन्तु स्थान-स्थान पर ग्रन्थकार विषय से हटकर काव्य-शास्त्र, दर्शन, नीति आदि प्रसंगेतर विषयों को उठा लेता है। इससे जहाँ रोचकता बढ़ी है, वहाँ विवेच्य में हलकापन भी आ गया है। कथाकारों के मनोविज्ञान को विषयान्तर मानकर लेखक ने उसे ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया है। इससे इस बात का पता नहीं लगता कि नई प्रवृत्तियों के ग्रहण के मूल में कथाकार की सूझ-बूझ ही है अथवा कोई अन्तःप्रवृत्ति। परन्तु सम्भवतः यह विषय ही गहन और विवादग्रस्त था। यह निश्चय है कि प्रतिपाद्य विषय और विवेचन की सीमाओं में बँधकर भी यह ग्रन्थ नवीन दृष्टि की सूचना देता है और आधुनिक हिन्दी-साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन करता है। शोधकर्ता इस ग्रन्थ के लिए बधाई का पात्र है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नये उपन्यास में उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि का स्थान मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र ने ले लिया है और कहीं प्रक्षेप से, जैसे जैनेन्द्र में, कहीं बलपूर्वक, जैसे अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी में, मनोविश्लेषणीय सिद्धान्तों एवं परिस्थितियों का आरोप है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र में जो अस्पष्ट, रहस्यप्राण और बुद्बुद् के रूप में है, जो धर्म-चिन्तन और गांधीवाद के मिश्रण से जटिल हो गया है, वह अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की रचनाओं में दिन की भाँति स्पष्ट है। परन्तु इलाचन्द्र जोशी का साहित्य नये ज्ञान को औपन्यासिक कला से मण्डित नहीं कर सका है। वह उनके शास्त्रीय अध्ययन से बोझिल है। मनोविज्ञान का सबसे सुन्दर उपयोग अज्ञेय के 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' उपन्यासों में मिलता है। यद्यपि अन्य कलाकारों में भी सुन्दर प्रकीर्णक मिल सकें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु इन दो रचनाओं में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण जीवन की विराट् भूमि और अन्तर्मन की सूक्ष्मतम संवेदनाओं को लेकर सार्थक हो उठा है। इन दो रचनाओं को हम पश्चिमी साहित्य के समकक्ष उपस्थित कर सकते हैं। ग्रन्थ में अनेक अन्य रचनाओं के साथ इन दोनों ग्रन्थों का भी सुविस्तृत विवरण है। ग्रन्थकार बराबर पीछे मुड़-मुड़कर प्रेमचन्द और प्रसाद के साहित्य की ओर देखता है और इससे नई गतिविधियों को ऐतिहासिक परिपार्श्व मिल जाता है। कहीं-कहीं आरोप स्पष्ट है, जैसे 'दादा कामरेड', 'दिव्या' और 'चढ़ती धूप' में 'वार मदर्स' के मनोविज्ञान का आरोप। परन्तु इन उपन्यासों पर शोलोखव आदि जिन रूसी उपन्यासकारों की छाप है उनमें इस प्रकार की जीवन-स्थितियाँ उभरी हैं और इन ग्रन्थों पर रूसी साहित्य के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा। इनके लिए हमारे उपन्यासकार मनोविदों के उतने आभारी नहीं हैं जितने महान् साहित्यकारों के। परन्तु कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रपत्तियों की स्थापना के उत्साह में इस प्रकार के आरोपों से बचना कुछ कठिन भी था, फिर भी ऐसी असंगतियाँ कम हैं और विचारणीय स्थलों के रहते हुए भी डॉ० देवराज उपाध्याय का यह खोज-ग्रन्थ आधुनिक समीक्षा में एक नया अध्याय जोड़ता है।[1]

कमलाकान्त पाठक

पर आँखें नहीं भरीं

नई कविता के सुधी और सधे कवियों में डॉक्टर शिवमंगल सिंह 'सुमन' का स्थान निश्चित-प्राय है। वे यौवन की ऊष्मा के कवि बनकर हिन्दी में आए। उन्होंने प्रेम-गीतों का ही स्वर-सन्धान नहीं किया, वरन् जागृति और प्रगति का ताना-बाना भी रचा। कुछ समय के लिए वे अञ्चलजी की भाँति प्रगतिवादी कवि भी रहे। उन पर कदाचित् भारतीय परम्परा का ऐसा आधिपत्य था कि वे पूर्णतः सामाजिक यथार्थवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकवादी कवि न हो सके। निश्चय ही वे समाजवादी प्रभावों के कारण अपने कवि के युग-द्रष्टारूप को परिष्कृति दे सके हैं, पर उन्हें उद्बोधक भी बनना पड़ा है। उन्होंने जीवन के सम्बन्ध में अपना विचार, मन्तव्य अथवा दर्शन प्रकट किया है और मैं कहूँगा कि वह राष्ट्रीय चेतना तथा सांस्कृतिक परम्परा का उत्तराधिकार है, विदेशी अथवा विजातीय वस्तु नहीं। सुमनजी को वर्तमान युग, उसकी परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ उद्बुद्ध करती रही हैं और इसी कारण उनका काव्य कभी असामाजिक नहीं हुआ। उनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी है।

सुमनजी अकुण्ठित व्यक्तिवादी कवि हैं, अतएव वे अपने सामाजिक परिवेश के प्रति अनुत्तरदायी नहीं हैं। उन्होंने 'पर आँखें नहीं भरीं' में अहम् अथवा वैयक्तिक सुख-दुःख का प्रकटीकरण ही नहीं किया। वे व्यक्ति के प्यार को जीवन का विस्तार देते हैं, जीवन की आशा को आदर्शों

१. ले०, डॉ० देवराज उपाध्याय; प्रकाशक, साहित्य-भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विश्वास से साधते हैं तथा गति के उत्साह का स्नेह-सम्बल से शृंगार करते हैं। उनका प्रेम प्रौढ़ हो चला है और जीवन-लालसा उसी अनुपात में बढ़ गई है। वे विशुद्ध रूप से प्रगति अथवा प्रयोग की भूमिका में नहीं हैं। सार्थकता अथवा मूल्य की अड़चनें भी उन्हें नहीं व्यापीं। यथार्थवादियों की उपदेशात्मकता, अन्तश्चेतनावादियों की प्रतीक-पद्धति तथा जनवादियों की आञ्चलिक या ग्राम्यशैली उन्हें छू-भर गई है। कहीं-कहीं तालियों की चिन्ता भी कविताओं के गठन और वचन-भंगिमाओं के चयन में झलक उठती है, क्योंकि 'युग की कसौटी पर चढ़ी है आज मेरी साधना'। अकुण्ठित व्यक्तिवादी का आत्म-परिचय यह है—

मैं अमर-पथिक, परिवर्तन का विश्वासी,
जीवन मेरा अधिकार, अमरता दासी।

'पर आँखें नहीं भरीं' मुख्यतः गीति-संग्रह है। सभी रचनाएँ आत्माभिव्यंजक नहीं हैं, पर सर्वत्र कवि का जीवन-दर्शन सुस्पष्ट है। आग्रह, निवेदन और उपदेश के साथ-साथ विषय-वस्तु और विवरण भी गीति-काव्य के उपादान बनाये गए हैं। गीतिकार ने प्रेम और जीवन के रहस्य तथा सौन्दर्य को कला-सौन्दर्य का मूल तत्त्व समझा है। उसकी काव्यानुभूति जीवन के सत्य का उद्घाटन करने में सचेष्ट रही है। उसने प्रवृत्ति के सौन्दर्य-चित्र अंकित किए हैं तथा राष्ट्रपिता को भी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की हैं। उसकी वाणी में असंयम और अस्पष्टता, संस्कारहीन रसज्ञता और सामाजिक कुत्सा तथा सौन्दर्यापकर्ष और विशेषज्ञता नहीं आने पाई है। पाण्डित्य का अनावश्यक बोझ उनके काव्य पर नहीं है। मेरा मन्तव्य यह नहीं है कि सुमनजी का गीति-सौष्ठव अप्रतिम हैं। उनमें सौन्दर्य-संवेदन, शब्द-संगीत, अर्थ-ध्वनि, चित्रात्मकता, उदात्त कल्पना अथवा प्रगल्भ भावुकता-सम्बन्धी अनेक अभाव भी हैं। मेरा अभिप्राय यह है कि नई गीति-रचना के क्षेत्र में उनका कार्य अ-गौरवपूर्ण नहीं है।

प्रस्तुत गीति-संग्रह में चवालीस रचनाएँ हैं। छः रचनाएँ ऐसी हैं, जिन्हें कवि ने नाम दिया है—'पर आँखें भरीं-भरीं'। आँखें भर आना मुहावरा आँखों के अश्रुपूर्ण होने का अर्थ-द्योतक है। गांधीजी के सम्बन्ध में कवि की रचनाएँ शोक-व्यञ्जक होने के कारण आँसू-भरी आँखों के अनुभाव को सार्थकता प्रदान करती हैं। 'पर आँखें नहीं भरीं' शीर्षक के अन्तर्गत अड़तीस रचनाएँ हैं और यह वाक्यांश नितान्त भिन्न भाव का बोध कराता है। यहाँ 'आँखें नहीं भरीं' से आँख-भर न देख पाने का अर्थ ग्रहण किया गया है। इस प्रकार कवि ने प्रचलित मुहावरे को नई अर्थ-दीप्ति दी है। आँखें आँसू-भरी नहीं हैं, यह कहना गलत है। यहाँ कवि अतृप्ति को लक्षित कर रहा है। यह अतृप्ति क्या है? यह अञ्चलजी की आकुल तृष्णा और गरजती अतृप्ति नहीं है। यह बच्चनजी की कुण्ठित लालसा और निराशा-भरी प्यास भी नहीं है। सुमन की आसक्ति स्थूल शरीरी अथवा मांसल नहीं है, वह सूक्ष्म, अशरीरी अथवा वायवी भी नहीं है। वह लौकिक है, किन्तु मानसिक भी, यथा—'एक बूँद भी किन्तु कि जिसकी तृष्णा नहीं मरी'। कवि का प्रेम-रहस्य इन पंक्तियों में सुस्पष्ट है—

जलन की साधना संसार में सस्ती नहीं होती,
मधुर मुस्कान की कीमत चुकाते आँख के मोती।
न जिसके आदि में है योग अथवा अन्त में बाकी,
तुम्हारे स्नेह की दो बूँद जीने को बहुत काफ़ी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका प्रेमी शालीन है, वह समझता है कि

दूर हूँ जितना, तुम्हारे पास उतना ही।

वह जीवन की सतत गतिशीलता को जागरूक मनुष्य का मुख्य लक्षण समझता है। यह गतिशीलता वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक तथ्य की व्याख्या या विवेचना नहीं करती, वरन जीवनोत्थान का महान् लक्ष्य स्थिर करती है। उदाहरणार्थ कवि की गर्वोक्ति द्रष्टव्य है—

मैं स्वयं प्रकाश बना चलता आगे-आगे,
भूले-भटको, तुम अपना पथ पाओ,
पीछे-पीछे आने वाले ओ अनुरागी,
मेरे चरणों के चिह्न मिटाते आओ,
जिससे न अमरता की छलना मुझको बाँधे,
मिट्टी की जयजयकार मनाते जाओ,
मेरी ज्वाला से परिचित हो पाए हो तो,
तुम भी अपना आकुल अन्तर सुलगाओ।
जब-जब जीवन की ज्योति, मन्द पड़ती दीखे—
संघर्षों के उद्वेलन से उकसाओ!

और गांधीजी की हत्या के सम्बन्ध में उसका मत है कि यह मानवता को पशुता की सबसे बड़ी चुनौती है। गांधीजी को उसने मानवादर्श का प्रतीक माना है। उसकी एतद्विषयक उक्ति है कि—

यह वध है पुण्य-प्रसू धरती की परम पुनीता, सीता का,
यह वध युग-युग के काल-पुरुष का, वासुदेव का, गीता का।
अब भटको तम में सदियों तक दीपक की ज्वाला रूठ गई,
ओ धर्म-धुरीणो, होश करो, अब धुरी धर्म की टूट गई।

अनेक स्थलों पर सुमनजी सूक्ति-रचना करने में प्रवृत्त हैं। यह भी उतना ही बड़ा खतरा है, जितना कि उपदेशात्मकता। उन्होंने 'साँसों का हिसाब', 'कलाकार के प्रति' आदि रचनाओं में सूझ-भरे उपदेश दिए हैं। उन्होंने प्रकृति के कतिपय सौन्दर्य-चित्र अङ्कित किए हैं, जिनमें अनेक प्रकार की काव्य-पद्धतियों का सत्कार हुआ है, यथा 'चेरापूँजी', 'फागुन में सावन', 'आज रात-भर बरसे बादल' आदि। 'आज की साँझ सलौनी बड़ी मन-भावनी री' में सवैया की पुरानी गीति-छटा प्रदर्शित की गई है। उन्होंने 'कितनी बार अपनपौ छूटा' जैसे दैनिक व्यवहार के प्रान्तिक प्रयोग किए हैं तथा 'मृत्तिका का दीप' आदि रूढ़ काव्य-प्रतीकों का व्यवहार भी। कहीं 'चाँदनी छाई, किसीकी याद आई' जैसा भावोद्दीपन है, तो कहीं प्राकृतिक उपमानों का नया विधान, यथा—

काँस-सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक,
बाढ़-सा उमड़ा हृदयगत प्यार।

इस संग्रह की रचनाएँ दीर्घकाल-व्यापी जान पड़ती है, पर गीति-रचना सर्वत्र सुघरता लिये हुए है। गीति-शिल्प अनेक-रूपात्मक है और छन्द-योजना वैविध्यपूर्ण, पर अभिव्यक्ति में अस्पष्टता और शिथिलता प्रायः नहीं आने पाई। 'टूटी डोर' में मुक्त छन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की यथार्थवादी चित्रण-शैली का आग्रह प्रत्यक्ष है। संक्षेप में, 'पर आँखें नहीं भरीं' पढ़कर आँखें भर आना कठिन है और अतृप्ति बनी रहना कष्ट-साध्य, पर इसे सुन्दर काव्य की संज्ञा दी जानी चाहिए। अनास्था और पस्ती के वातावरण में आस्था, उत्साह और उल्लास-भरी यह कृति निःसन्देह आकर्षक ज्ञात होगी।[1]

कमलाकान्त पाठक

पद्मावत—मूल और संजीवनी व्याख्या

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल की नई पुस्तक 'पद्मावत और मूल-संजीवनी व्याख्या' पाण्डित्यपूर्ण और परिश्रमसाध्य रचना है। इसमें लेखक ने जायसीकृत पद्मावत की कोरी टीका ही नहीं लिखी, उसने मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के व्यापक अध्ययन के आधार पर मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्दों के अभिप्रेत अर्थों की छानबीन करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसका कथन है कि **"पद्मावत की इस टीका में हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य जायसी के शब्दों और अर्थों का स्पष्टीकरण ही रहा है।"** इस दृष्टि से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अग्रवालजी ने जायसी की उपलब्ध सभी व्याख्याओं और टीकाओं से कहीं अधिक सफलता प्राप्त की है। उन्होंने शब्द के यथार्थ अनुवाद की वैज्ञानिक परिपाटी का आयास-साध्य अनुसरण किया है। व्याख्याकार ने भारतीय साहित्य को दृष्टिपथ में रखा है, किन्तु वह विदेशी काव्य-परम्परा, सूफ़ी मत और सिद्धान्त, मध्येशिया के सौन्दर्य-संस्कार और काव्यात्मक प्रतीक आदि स्पष्ट न कर सका। यह उसका क्षेत्र ही नहीं था। उदाहरणार्थ ४१-१७ का यह दोहांश लीजिए—

चारि बसेरें सौं चढ़ै, सत सौं चढ़ै जो पार।

इसका यह अर्थ किया गया है—'उस पर चार पड़ाव देकर चढ़ना चाहिए। जो सत्य से चढ़ेगा, वह पार पहुँच जायगा।' ये चार विश्राम-स्थल क्या हैं? ये सूफ़ी साधक की चार अवस्थाएँ हैं—शरीअत, तरीकत, हक़ीक़त और मारिफ़त, जो स्पष्ट नहीं की गईं।

माँग-वर्णन की यह अर्द्धाली लीजिए—

खांडे धार रुहिर जनु भरा। करवत लै बेनी पर धरा। १००-५

अर्थ हुआ—'या खांडे की धार रक्त से भरी है, या किसी ने करवत लेकर वेणी पर रख दिया है।' इस वस्तूत्प्रेक्षा में फारसी काव्य के सौन्दर्य-संस्कार सर्वथा स्पष्ट हैं। यह सौन्दर्य-दृष्टि अभारतीय है। पर अग्रवालजी का समस्त प्रयास जायसी को भारतीय संस्कृति और काव्य-परम्परा का कवि सिद्ध करने में प्रयुक्त हुआ है। मेरा निवेदन यह है कि प्रेम की पीर के यशस्वी कवि जायसी को उनके पूरे परिवेश में न देखने के कारण व्याख्याकार की गृहीत प्रणाली और काव्य-दृष्टि एकांगी हो गई है। यदि वह शुक्लजी की इस स्थापना को विस्मृत न करता कि इन उदार-हृदय मुसलमान कवियों ने भारतीय जीवन में इस्लामी तत्त्वज्ञान की प्राण-प्रतिष्ठा की है, तो वह जायसी के काव्य में केवल भारतीय तत्त्व-चिन्तन, काव्य-परम्परा, सामाजिक जीवन आदि का ही विश्लेषण न करता। वस्तुतः सामाजिक भूमिका पर जायसी समन्वयशील कवि सिद्ध होंगे। वे

१. ले० डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन'; प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम, उसके तत्त्व-ज्ञान और फारसी काव्य से पृथक् नहीं किये जा सकते। अग्रवालजी की विद्वत्ता-संजीवनी व्याख्या में पद-पद पर प्रत्यक्ष होती है, किन्तु मैं साग्रह कहूँगा कि जायसी को केवल अवधी भाषा और स्थानिक जीवन का ही कवि प्रमाणित नहीं किया जा सकता। शुक्लजी से लेकर अग्रवालजी तक सभी 'कौनु पानि जेहि पौनु न मिला' का अर्थ 'कौनसा पानी है, जिसमें हवा नहीं मिली' करते हैं, पर इसका प्रतीकार्थ क्या है और कोकिला को सम्बोधित करने से उसकी क्या संगति है, यह अस्पष्ट ही है। क्या कोकिला प्राण, जल, रक्त और पवन श्वास के प्रतीक नहीं हैं ? यह केवल शंका है, मान्यता नहीं।

जायसी की साहित्यिक प्रतिष्ठा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-मर्मज्ञता और अध्यवसाय का सुफल है। उन्होंने न केवल पाठ-शोधन किया, वरन् जायसी की अप्रतिम काव्य-समीक्षा भी उपस्थित की। उनके पश्चात् अनेक छोटे-बड़े कार्य हुए। डॉक्टर माताप्रसाद ने जायसी की रचनाओं का वैज्ञानिक पद्धति से सुसंपादित पाठ उपस्थित किया। जायसी के पाठ की स्थिरीकरण-समस्या एक सीमा तक हल हो गई। उधर डॉक्टर वासुदेवशरण ने कुछ नई हस्तलिखित पोथियों का पता लगाया। उन्होंने डॉक्टर माताप्रसाद द्वारा स्थिर किये गए पाठ का प्रायः उपयोग किया, पर अनेक स्थलों पर उन्हें नई प्रतियों का पाठ युक्तियुक्त प्रतीत हुआ अथवा प्रामाणिक ज्ञात हुआ। वे नये पाठ का सर्वांशतः उपयोग न कर सके, क्योंकि माताप्रसादजी से भिन्न पाठ की आवश्यकता तभी प्रकट हुई, जब अर्थ की गुत्थियाँ सुलझ न सकीं। व्याख्याकार का लक्ष्य भी पाठ-शोधन नहीं था। पाठानुसन्धान का कार्य और आगे बढ़ाया जा सकता है। मनेर शरीफ, बिहार शरीफ, और रामपुर राज्य के पुस्तकालयों में पद्मावत की हस्तलिखित पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें प्रथम दो फ़ारसी लिपि में और अन्तिम अरबी लिपि में है। इन प्रतियों का समुचित उपयोग न माताप्रसादजी कर सके हैं और न अग्रवालजी। ज्यों-ज्यों ऐसी पुरानी प्रतियाँ प्रकाश में आती जायँगी, त्यों-त्यों पाठ के स्थिरीकरण का कार्य और विकसित हो सकेगा। स्पष्टतः अग्रवालजी ने डॉक्टर माताप्रसाद के जायसी-विषयक कार्य की उपादेयता बढ़ा दी है। उन्होंने शुक्लजी से खण्डशीर्षक लिये हैं और माताप्रसादजी से पाठ-संख्या। माताप्रसादजी की नई शोध 'महरी बाईसी' का पोथी-शीर्ष (Title) उनके मत से 'काहिरी नामा' हो सकता है।

अग्रवालजी ने पद्मावत के पाठ के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया है कि कवि की मृत्यु के पश्चात् क्लिष्ट भाषा और गूढ़ अर्थों के कारण लोगों को परेशानी होने लगी और पाठ के सरलीकरण की प्रवृत्ति क्रियाशील हो उठी। प्रस्तुत काव्य की सरल और क्लिष्ट ऐसी दो प्रकार की पाठ-परम्पराएँ मिलती हैं। क्लिष्ट पाठ मूल पाठ के समीप है और वह माताप्रसादजी के द्वारा स्वीकृत है। सरल पाठ की परम्परा शुक्लजी के संस्करण में चरितार्थ होती है। अतएव व्याख्याकार ने क्लिष्ट पाठ को प्रामाणिक माना है और कतिपय स्थलों पर माताप्रसादजी से भिन्न पाठ भी स्वीकार किया है, यथा 'चित्रसम' के स्थान पर 'चतुरसम', 'श्रंगवै' के स्थान पर 'दंगवै', 'खड़ंगी' के स्थान पर 'खदंगी' इत्यादि। इस प्रकार अग्रवालजी ने जायसी के मूल पाठ तक पहुँचने का सुचिन्तित उद्योग किया है। जायसी के सम्बन्ध में जितना भी कार्य हुआ है, वह उनके सम्मुख रहा है और उसे आगे बढ़ाने में वे कृतकार्य हुए हैं। शुक्लजी प्रवर्तक-कार्य (Pioneering work) कर गए हैं और उसे विकसित करना विद्वानों का उत्तराधिकार है। पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज भी उनकी समीक्षा पश्चात्पद नहीं हुई और उनकी टिप्पणियाँ अग्राह्य अथवा भ्रामक सिद्ध न की जा सकीं।

पाठान्तरों का मुख्य कारण अर्थ की उलझन के कारण क्लिष्ट पाठ को सरल बनाना तो है ही, कुछ अन्य कारण भी हैं। अवधेतर प्रान्तों में प्रचार, लिपिकारों का प्रमाद, फ़ारसी लिपि का दोष, अन्य मतावलम्बियों द्वारा संस्कार, कतिपय साहित्यिक और आध्यात्मिक प्रसिद्धियों और मान्यताओं का लोप, इत्यादि ऐसे ही कारण हैं। अग्रवालजी ने इनमें से एक इस कारण का भी निर्देश किया है कि दोहा छन्द के पहले और तीसरे चरण में अथवा कहीं केवल तीसरे चरण में सोलह मात्राएँ रखने की अवधी काव्य में निर्दिष्ट परम्परा थी। सरल पाठ में सर्वत्र तेरह मात्राएँ कर दी गईं, जैसे **'सेवा करहिं नखत औ तरईं'** (१००-६) को **'सेवा करहिं नखत सब'** बना दिया गया।

पाठ की समस्या सुलझने पर अर्थ की गुत्थियाँ भी खुलने लगती हैं। शिरेफ, लक्ष्मीधर, मुन्शीराम प्रभृति विद्वानों के अनुवादों में अर्थ की अनेक भ्रान्तियाँ रह गई थीं। जायसी के मूल पाठ का पर्याप्त निश्चय हो जाने पर अर्थ-सम्बन्धी भ्रान्तियों की सम्भावनाएँ यों भी कम हो जाती हैं और अग्रवालजी जायसी के मर्मज्ञ ही नहीं, मध्ययुगीन साहित्य की अन्तर्वर्ती सांस्कृतिक धारा के विशेषज्ञ हैं, अतएव उन्हें जायसी के अभीष्ट अर्थ तक पहुँच जाने में, विविध सन्दर्भ में प्रयुक्त अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने में, विशिष्ट कृतकार्यता सुलभ हुई है, यथा—कौसीसा—सं० कपिशीर्षक, हँथौड़ा—सं० हस्तपाटक : हाथ का कड़ा, मसवासी—एक मास उपवास करने वाला, सलौनी—सोने को साफ करने की प्रक्रिया का मसाला, रावन—सं० रमणीय, बनवारी—सं० वर्णमालिका : स्वर्ण-परीक्षा की शलाकाएँ, तबल देइ डगा-डुग्गी बजाकर डग आगे बढ़ा रहा हूँ, नाइत—सं० नाइत्त : सामुद्रिक व्यापारी, इत्यादि। कदाचित् ग्रामीण अवधी का पूर्वी रूप अग्रवालजी की मातृभाषा भी है। स्वयम् उन्हें अर्थ-परिशिष्ट में अपनी कतिपय व्याख्याओं को अथवा शब्दानुवादों को संशोधित करने की आवश्यकता अनुभव हुई है। अतः यह सम्भावित है कि कई व्याख्याओं के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो तथा कतिपय नये संशोधनों की अनिवार्यता प्रमाणित हो जाय, पर इतना निश्चय है कि यह पद्मावत का अपने ढंग का अपूर्व व्याख्यात्मक अध्ययन है। **'भई पुछार लीन्ह बनबासू'** आदि का अर्थ उन्हें पूर्ण स्पष्ट नहीं है। उन्होंने प्रस्तुत अर्थ और मुद्रालंकार की सहायता से अप्रस्तुत अर्थ तो स्पष्ट किया ही है, पर नागमती-पक्ष में अर्थ के दो विकल्प रखे हैं। मैं समझता हूँ कि नागमती-पक्ष का प्रथम विकल्पार्थ ही यथार्थ अनुवाद है, शेष सम्भावनाएँ हैं।

अग्रवालजी की व्याख्या-परक मौलिक सूझ का एक उदाहरण उपस्थित करना अप्रासंगिक न होगा। शुक्लजी के इस पाठ का **'मुहम्मद खेल प्रेम कर गहिर कठिन चौगान'** का अर्थ शिरेफ के अनुसार इस प्रकार है—**'मुहम्मद-प्रेम का खेल चौगान की भाँति गहरा और कठिन है।'** माताप्रसादजी का पाठ है—**'मुहम्मद खेल प्रेम कर खरी कठिन चौगान।'** व्याख्याकार ने न शुक्लजी का 'गहिर' पाठ, न माताप्रसाद जी का 'खरी' पाठ स्वीकार किया, क्योंकि फारसी लिपि में 'घरी' और 'खरी' एक समान लिखे जाते हैं, बल्कि 'घरी' पाठ स्थिर किया। 'आईनेअकबरी' के अनुसार चौगान के खेल में एक-एक घड़ी खेलने के बाद खिलाड़ी बदल जाते हैं। अतएव नया अर्थ हुआ—**'मुहम्मद-खेल प्रेम से**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, वैर से तो युद्ध किया जाता है, चौगान के खेल की एक घड़ी भी कठिन है।' इस प्रसंग का चौगान-परक, शृंगार-परक और युद्ध-परक, तीन प्रकार का अर्थ किया गया है। मैं कहूँगा कि बिहारी की रत्नाकरी टीका की भाँति पद्मावत के अध्येताओं को प्रस्तुत व्याख्या भी क्लासिक-परिपक्व प्रतीत होगी। रत्नाकरजी साहित्यिक सन्दर्भ में व्याख्या करते हैं और अग्रवालजी तत्कालीन साहित्य और समाज के सन्दर्भ में। रत्नाकरजी की तलस्पर्शिता भावक की गहनता लिये हुए है और अग्रवालजी की तलस्पर्शिता पाण्डित्य का विस्तार। रत्नाकरजी काव्य-रीतियों के कोविद हैं और अग्रवालजी भारतीय संस्कृति-शास्त्र (Indology) के आचार्य। इन दो महत्त्वपूर्ण व्याख्याओं का यह अन्तर भी द्रष्टव्य है।

प्रस्तुत व्याख्या में साहित्यिक अध्ययन की प्रणाली नहीं अपनाई गई। जायसी की काव्य-प्रवृत्तियों अथवा विशेषताओं का उद्घाटन भी नहीं किया गया। अग्रवालजी ने मध्य-युगीन भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक पद्धति से और प्रचुर शास्त्र-ज्ञान की सहायता से पद्मावत का शब्दानुवाद किया है। 'अष्टाध्यायी' और 'हर्षचरित' के उनके सांस्कृतिक अध्ययनों से अनुसन्धान की नई दिशाएँ प्रत्यक्ष हुई हैं। उन्होंने 'पद्मावत' का सांस्कृतिक अध्ययन तो नहीं किया, पर वे इसी दृष्टिकोण से उसका अर्थ-सौष्ठव अवश्य प्रकट कर सके हैं। साथ-साथ पाठ-शोधन का पुण्यार्जन भी हो गया। उन्होंने जायसी को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से प्रभावित प्रबुद्ध कवि समझा है और टिप्पणियों में अपने विशाल ज्ञान का परिचय दिया है। उन्होंने पद्मावत-विषयक समस्त साहित्य का आलोडन किया है और यह निश्चित है कि वे एतद्विषयक संदिग्धता का बहुत-कुछ निवारण कर सके हैं।

कतिपय स्थलों पर अर्थ की खींचतान भी की गई है, जिनमें कुछ स्थानों पर पाठ-दोष सम्भव हैं, पर सर्वत्र यही बात शक्य नहीं है। उदाहरणार्थ अग्रवालजी को गोपालचन्द्रजी आदि की प्रतियों में ४७१-८:६ दोहे का नया पाठ मिल गया और उसमें अर्थ-संगति भी है—

बेनी कारी पुहुप लै निकसा जमुना आइ।
पूजा नन्द अनन्द सौं सेंदुर सीस चढ़ाइ॥

इसमें यमुना और कृष्णा के विवाह की लोक-कथा का संकेत और कालिय-दमन की प्रसंग-कल्पना तो है ही, पद्मावती का वह सौभाग्य और सौन्दर्य भी वर्णित है, जो शकुन-विचार से राज्य-सम्पत्ति का प्रदाता है। "जेहि की रिसि मरिए रस जीजै। सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै।"—अर्द्धाली का अर्थ मैथिलीशरणजी के सुझाव पर परिशिष्ट में शुद्ध किया गया है। "घालि कसौटी दीजिए, कनक कचोरी भीख।" का अर्थ मेरी दृष्टि में खींचतान के बाद भी अस्पष्ट रह गया है। 'घालि' का अर्थ फेंककर नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध 'कनक-कचोरी' से है, 'रतन' से नहीं। इसका अर्थ कसकर या चढ़ाकर है। स्वर्ण कसौटी पर कस लिया जाय और तब उसमें रत्न जड़ा जाय। स्वर्ण-रूप पद्मावती को प्रेम-कसौटी पर कसकर रत्न-रूप रत्नसेन को सौंप दो। अर्थ द्वारा भाव स्पष्ट न होने का एक उदाहरण देखिए—"**भौंहें धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह साधि बान जनु मारे।**" (२६८-३) इसका अर्थ किया गया है—"**भौंहें धनुष-सी थीं, पर काम का धनुष भी उनसे हार गया। वे मानो नेत्ररूपी बाणों का संधान करके चला रही थीं।**" यथार्थ भावार्थ यह है कि पद्मावती की भौंहें धनुषाकार या धनुष-रूप थीं, अर्थात् बंकिम थीं। पर उनका वक्रत्व काम के धनुष के टेढ़ेपन को परास्त कर रहा था। वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्प-शायक से अधिक मर्मान्तक थीं। नेत्रों को साधकर, डोरी खींचकर, वे मानो अपांगों या चितवन के बाणों का आघात करती थीं। आशय यह है कि भौंहों और नेत्रों का सम्मिलित सौन्दर्य धनुष को चढ़ाना है, जो कटाक्ष-रूप बाणों की वर्षा करता है। दृष्टि-प्रहार निश्चय ही काम-प्रहार की अपेक्षा अधिक आघातकारी था। रूपक, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा और यमक की इस संसृष्टि का मूल सौन्दर्य अनुद्घाटित रह गया। ऐसे कई उदाहरण और दिये जा सकते हैं।

डॉक्टर वासुदेवशरण ने अपने संजीवनी भाष्य का एक सुविस्तृत प्राक्कथन उपस्थित किया है। इसमें उनकी गवेषक-शक्ति का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है। वे जायसी की चित्रण-कला पर विशेष रूप से मुग्ध हैं, साथ ही वे अपने प्रिय कवि को पूर्ण रूप से भारतीय जीवन का कवि समझते हैं। जायसी भारतीय जीवन में इस्लाम की चेतना लेकर प्रविष्ट हुए थे, अतएव उन्हें विशुद्ध राष्ट्रीय कवि, जैसे तुलसीदास, नहीं कहा जा सकता। कबीर की भाँति वे क्रान्तिकारी नहीं थे, पर उन्होंने वही कार्य प्रेमभाव और मेलजोल के व्यवहार से सम्पादित किया था। जायसी की अन्य विशेषताएँ, जैसे प्रेम की विदग्ध व्यञ्जना, मार्मिक स्थलों की योजना, उदात्त ऐतिहासिक कथावस्तु, भाषा की विलक्षण शक्ति, जीवन के गम्भीर सर्वांगीण अनुभव, सशक्त दार्शनिक चिन्तन इत्यादि, उन्हें आकर्षित करती हैं। पर व्याख्याकार ने इनका संकेत-भर दिया, विवेचन नहीं किया, क्योंकि उसका कार्य भाष्य लिखना था, आलोचना करना नहीं।

अग्रवालजी ने पद्मावत की उपलब्ध प्राचीन प्रतियों का विवरण देते हुए अपने पाठान्तरों तथा नये अर्थों का प्राचीन पाठों और अर्थों के समकक्ष तुलनात्मक निरूपण किया है। उन्होंने अवधी भाषा के साहित्य की एक सुदीर्घ सूची दी है, जिसमें १३७० ई० से १६१७ ई० तक के अवधी साहित्य का उल्लेख हुआ है। जायसी के ग्रन्थों तथा जीवनी का निर्देश करते हुए उनकी गुरु-परम्परा का परिचय दिया गया है। 'पद्मावत का अध्यात्म पक्ष' प्राक्कथन का विशिष्ट अंश है। इसमें जायसी के प्रतीकों का प्राचीन साधना-मार्ग की पृष्ठभूमि में विशद विवेचन किया गया है। यह अंश हमारे ज्ञान को नया प्रकाश देता है, पर यह मान लेना कि सर्वत्र जायसी का वही अभिप्रेत था, जो अग्रवालजी ने स्थिर किया है, युक्तिसंगत न होगा।

वे यह सिद्ध करते हैं कि पद्मावत काव्य में प्रेम के जो आध्यात्मिक प्रतीक हैं, उनमें 'भारतीय सौन्दर्य और माधुर्य था', पर किंजल्क विदेशी थे, यह विस्मृत हो गया है। साधक पर नायिका-भाव का आरोप भारतीय रहस्यवाद की वस्तु है और नायकत्व का आरोप फ़ारसी काव्य की वस्तु। योग-मार्ग के सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों को क्या गंगा-यमुना अथवा इड़ा-पिंगला का नामान्तर ही समझा जायगा? यदि यही माना जाय और नायक-नायिका के प्रतीक रूप में उनका अर्थ-विकास स्वीकृत किया जाय तो कोई हानि न होगी, पर उस स्थिति में सुषुम्ना द्वारा प्राण-तत्त्व का सिद्धि-लाभ करना क्या संगति न खो बैठेगा?

शशिभूषणदास गुप्त ने सहजयानियों के 'सोन' का सम्बन्ध 'सुवर्ण' और 'शून्य' दोनों से सिद्ध करने की चेष्टा की है। रूप के हट जाने से सुवर्ण बारहबानी होता है; दूसरी ओर अरूप के कारण शून्य की उपलब्धि होती है। यह श्लेष-पुष्ट रूपक काव्यात्मक तो है, पर क्या यही जायसी का अभिप्रेतार्थ है? सहजयानियों और हठयोगियों के काव्य-प्रतीकों में अन्तर भी है। यह हठयोग का आग्रह न होकर सहजयान का प्रभाव है, मान लेना कदाचित् विश्वसनीय न हो। दासगुप्त का मत भी कितना निर्भ्रान्त है, नहीं कहा जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौसर का खेल और पान का मुँह में रच जाना, ये दो और युगनद्ध भाव के प्रतीक स्पष्ट किये गए हैं। इनके द्वारा यह प्रमाणित करने का उद्योग हुआ है कि सहजयानी सिद्धों और नाथपन्थी योगियों की परम्परा के सम्पर्क में आकर जायसी ने अपने काव्य-प्रतीकों का जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया था। यह सम्भावना तो है ही कि जायसी ने अपने रहस्य-प्रतीक तत्कालीन लोक-प्रसिद्धि और काव्य-परम्परा से गृहीत किये होंगे। पर अपने ज्ञान के सहारे वे कतिपय प्राचीन प्रतीकों को भी चुन सके होंगे तथा विदेशी प्रतीकों के प्रति उन्होंने सर्वांशतः निषेध-वृत्ति न रखी होगी। यह कहा गया है कि वेदान्त के अनुसार सूर्य हृदय का और चन्द्र मन का प्रतीक है। इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि जायसी ने एक ही प्रतीक का अनेक अर्थों में प्रयोग किया है। यह स्थिति किसी लोकप्रिय और श्रेष्ठ कवि के गौरव के अनुकूल नहीं है।

"सहजयान के साधक भी विषय-प्रधान प्रेम की कल्पनाओं को स्वीकार करके केवल उसकी तीव्र अनुभूति और साक्षात् मिलन की उत्कट इच्छा को स्वीकार करते थे, कुछ विषय-भोग को नहीं। ...यही स्थिति प्रेम-मार्ग की थी।" यह तुलना निश्चय ही ग्राह्य है, पर आगे चलकर इसीको जायसी के प्रेम-काव्य का उपकरण भी मान लेना उचित नहीं है। यह मत प्रकट किया गया है कि जायसी ने सहजयान और नाथपन्थ **"दोनों की विशेषताओं को स्वीकार करके अपने काव्य में स्थान दिया।"** मैं प्रभाव को अस्वीकार नहीं करता, पर प्रेम-काव्य के विदेशी स्वरूप को समझे बिना यह निर्णय कैसे किया जा सकेगा कि उसमें किस मत, सम्प्रदाय या पन्थ का कितना मेल हुआ और कितना प्रभाव पड़ा? यह दृष्टि एकांगी है और व्यापक दृष्टि के अभाव में निर्णय सदैव अधूरा होता है। अग्रवालजी इसे महाकाव्य कहते हैं, शुक्लजी की भाँति मसनवी शैली का प्रेमाख्यानक प्रबन्ध नहीं। यह अग्रवालजी की कार्य-सीमा का प्रत्यक्ष संकेत भी है।

परिशिष्ट में व्याख्याकार ने कतिपय नये अर्थ रखे हैं और राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी की जनश्रुति पर आधारित सुन्दर आख्यायिका 'जगद्देव की कहानी' जोड़ दी है। इसी प्रकार पद्मावत की कतिपय अन्य प्रासंगिक वार्ताएँ भी संकलित हो सकती हैं। ग्रन्थ में वर्णित शस्त्रास्त्रों वाद्यों, अवधूत और सैनिक के वेष की वस्तुओं, हाथी-घोड़ों के साज-सामानों तथा शतरंज के नक्शे के चित्र दिये गए हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ खोजपूर्ण है और ऐतिहासिक पद्धति के अध्ययन का परिणाम।

अग्रवालजी ने पद्मावत की व्याख्या द्वारा वे सम्भावनाएँ अनावृत की हैं, जो जायसी के अध्ययन को काव्य, भाषा, परम्परा, संस्कृति और अध्यात्म-तत्त्व कई क्षेत्रों में संवर्द्धित कर सकती हैं। पद्मावत के पाठ का पुनर्सम्पादन और स्थिरीकरण, जायसी की भाषा के व्याकरण का वैज्ञानिक अध्ययन, जायसी के पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रेममार्गी अवधी-साहित्य का सम्पादन-प्रकाशन, जायसी की शब्दावली के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन, इत्यादि द्वारा मूल शब्दों के रूप और अर्थ का निश्चित परिज्ञान होगा और उस स्थिति में जायसी की व्याख्या के सम्बन्ध में इदमित्थं कहा जा सकेगा। स्वयं व्याख्याकार अवधी-साहित्य का सम्पादन, जायसी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन तथा अवधी के शब्द-रूपों की तुलनात्मक समीक्षा के कार्य को अग्रसर किये जाने का प्रस्ताव करता है। मुझे विश्वास है कि वह 'हर्षचरित' की भाँति 'पद्मावत' का सांस्कृतिक अध्ययन भी उपस्थित करेगा। उसका प्रस्तुत कार्य व्याख्या-साहित्य की सीमा-रेखा को विकसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सका है और मैं समझता हूँ कि उसने जायसी के काव्यानुशीलन-विषयक अनेक रुद्ध कपाट उन्मुक्त कर दिए हैं।[१]

डॉ० भगीरथ मिश्र

हिन्दी-अलङ्कार-साहित्य

'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' डॉक्टर ओम्प्रकाश की पी-एच० डी० थीसिस का विकसित और परिष्कृत रूप है। प्रस्तुत पुस्तक में अलंकार-साहित्य के स्वरूप-विकास का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन किया गया है। समस्त ग्रन्थ चार प्रसंगों, एक परिशिष्ट और सहायक ग्रन्थ-सूची के विवरणों में विभाजित है। प्रथम प्रसंग में संस्कृत के अलंकार-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का विश्लेषण और विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थों के परिचयात्मक विश्लेषण के साथ इनके रचयिता आचार्यों की अलंकार-सम्बन्धी धारणाओं का स्पष्टीकरण भी किया गया है। यह कहा जा सकता है कि लेखक ने संस्कृत अलंकार-शास्त्र की समस्या और स्वरूप का यथार्थ और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अलंकार-सम्बन्धी धारणा में किस प्रकार विकास हुआ और प्रारम्भ में समस्त काव्य-शोभा और रमणीयता, जो अलंकार में समाविष्ट थी, किस प्रकार आगे चलकर काव्य के अन्य अर्थों में देखी गई और अलंकार केवल शोभा की अतिशयिता के उपकरण-मात्र रह गए, आदि विवेचन महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रसंग में केवल दो बातों की ओर ध्यान और जाता है जो इस शीर्षक के ग्रन्थ में दी जानी आवश्यक थीं—प्रथम संस्कृत अलंकार-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ और द्वितीय अलंकार-सम्बन्धी समस्त उपलब्ध ग्रन्थों का परिचय अथवा नामों की सूची। लेखक के कुछ विवेचनों में मतभेद की गुञ्जाइश भी है, जैसे भोज के ग्रन्थों के सम्बन्ध में।

द्वितीय प्रसंग 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' पर प्रकाश डालता है। इसमें परिचय के भीतर समस्त 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' का महत्त्वपूर्ण पर्यवेक्षण किया गया है। इसके साथ इसकी विशेषताओं और प्रवृत्तियों का उल्लेख एवं वर्गीकरण का भी प्रयत्न है। यह समस्त अध्ययन बड़े काम का है और लेखक की अधिकारपूर्वक बात कहने की प्रौढ़ता का परिचायक है। परन्तु वर्गीकरण का प्रयत्न अपूर्ण है। अलंकार-साहित्य के परिचय के साथ यदि संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों द्वारा किये गए वर्गीकरण-सम्बन्धी प्रयत्न का परिचय और नवीन ढंग से वर्गीकरण देने का प्रयास किया जाता तो लेखक का कार्य बड़ा ही अभिनन्दनीय होता।

हिन्दी-आलंकारिकों का अध्ययन भी अपनी निजी विशेषता रखता है और लेखक ने इस अध्ययन में आलंकारिक आचार्य के गौरव के अनुसार विवेचन विस्तार से या संक्षेप में किया है। सन्तोष की बात है कि पुस्तक में अलंकार-क्षेत्र के कुछ आचार्यों की देन का महत्त्वपूर्ण मूल्याङ्कन और विवेचन है, जैसे केशवदास और भिखारीदास का। परन्तु समस्त आचार्यों के साथ न्याय नहीं किया गया, जैसे देव, सोमनाथ, दूलह आदि। देव के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर लेखक के पदार्थ और व्याख्या में भी मतभेद है, जैसी उनकी पँक्ति 'जब लगि

१. ले० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल; प्रकाशक साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द' के 'जस=समान, सहोदर' कहा गया है। यह अर्थ सभी को मान्य नहीं हो सकता। देव के 'भावविलास' ग्रन्थ के विवेचन के प्रसंग में एक स्थान पर लेखक ने लिखा है—

"किशोर देवदत्त ने इस कथन पर विश्वास कर लिया और हर्ष की तरंग में 'भाव-विलास' की रचना कर डाली, मानो कोई तेज़ विद्यार्थी अपने क्लास नोट्स को फिर से लिख-कर अपने नाम से आलोचनात्मक पुस्तक छपवा रहा हो।" यहाँ पर लेखक का संकेत देव का 'भाव-विलास' में 'कविप्रिया' से भावापहरण की ओर है; परन्तु इस तरह के लक्षण-साम्य बहुतों में मिलेंगे। देव की प्रौढ़ता और मौलिकता इतनी हलकी नहीं कि फूँक से उड़ाई जा सके। उसके विचारों के सम्बन्ध में भी लेखक का उसी प्रकार का दृष्टिकोण अपेक्षित था जैसा कि केशव के सम्बन्ध में पृष्ठ ७७ पर। उसके निम्नाङ्कित शब्दों में व्यक्त हुआ है—"केशव ने नवीन अलंकारों की उद्भावना की है; कुछ के नाम बदले हैं—केवल तमाशे के लिए नहीं; उनका अध्ययन, गाम्भीर्य-सापेक्ष्य है।"

इसी प्रकार आचार्य देव के सम्बन्ध में लेखक के इस प्रकार के कथन भी विचारणीय हैं, जैसे "परन्तु देवकवि का आचार्यत्व उनके कवित्व से भी शिथिल है। जितनी उलझन उनमें है उतनी किसी दूसरे में शायद नहीं। वे एक कृति में भी अपनी विचारधारा का निर्विरोध निर्वाह नहीं कर पाए, कारण यह प्रतीत होता है कि उनकी कोई विचारधारा नहीं—जैसा कहीं कुछ देखा उसको कुछ बदलकर चलता किया।" इस कथन में न केवल देव के आचार्यत्व पर आक्षेप है, वरन् उनके कवित्व पर भी। कवित्व के सम्बन्ध में तो लेखक को 'देव और बिहारी' फिर से देखना चाहिए। आचार्यत्व के सम्बन्ध में इतना कह देना यहाँ पर्याप्त है कि देव मौलिक विचारकों में से हैं और अनेक स्थलों पर उनके कथनों की व्याख्या 'वार्तिक' के रूप में आवश्यक है। कवित्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थ के भूमिका-लेखक डॉ० नगेन्द्र का भी सम्भवतः लेखक से मतैक्य न होगा। फिर भी कहना पड़ता है कि लेखक ने साहसपूर्वक अपने विश्वास को स्पष्टतया प्रकट किया है।

'गद्ययुगीन अलंकार-साहित्य' के प्रसंग में यदि भगवानदीन और कन्हैयालाल पोद्दार को लिया गया था, तो 'रसाल' के 'अलंकार-पीयूष' और मिश्रबन्धु के 'साहित्य-पारिजात' को भी लेना आवश्यक था। इनके न लेने का कोई औचित्य लेखक ने नहीं दिया है। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि 'अलंकार-साहित्य' के अध्ययन में एक पूर्ण अलंकार-ग्रन्थों की सूची तो देनी आवश्यक थी ही, यदि उसका परिचय न दिया जाता तो न सही।

उपर्युक्त बातों के होते हुए भी यह एक तथ्य है कि लेखक ने अनेक ग्रन्थों के अध्ययन में काफी श्रम किया है। उसका अध्ययन विशेष रूप से संस्कृत अलंकार-ग्रन्थों और कतिपय हिन्दी-ग्रन्थों के प्रसंग में उनकी सूक्ष्म विवेचन-शक्ति का परिचायक है। अलंकार एवं काव्य-सम्बन्धी धारणा के अध्ययन में लेखक द्वारा दी गई परिशिष्ट की सामग्री उपादेय है, जिसमें संस्कृत और हिन्दी के लेखकों के अलंकार-सम्बन्धी विचार संकलित करके एकत्र रख दिये गए हैं। समग्र रूप से यह अध्ययन उपयोगी है। काव्य-शास्त्र के अन्य अंगों के भी इसी प्रकार के और पूर्ण अध्ययन अपेक्षित हैं।[१]

१. ले० डॉ० ओम्प्रकाश; प्रकाशक, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सत्येन्द्र

लोक-साहित्य का अध्ययन

हिन्दी में लोक-साहित्य पर अब अच्छी चर्चाएँ होने लगी हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में यह विषय बी० ए० तथा एम० ए० में स्थान पाने लगा है। इस विषय के पाठक और विद्यार्थी बार-बार यह जानना चाहते हैं कि लोक-साहित्य क्या है? उसका क्षेत्र और स्वरूप क्या है? क्यों उसे पढ़ने की आवश्यकता है, अथवा उसका महत्त्व क्या है? उसमें क्या-क्या होता है? उसे कैसे प्राप्त किया जाय? उसे कैसे समझा जाय? आदि। भारतेतर देशों में लोक साहित्य के सम्बन्ध में सरकारों द्वारा विभाग खुले हुए हैं। वहाँ बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं जो विश्व-भर के लोक-साहित्य की सामग्री के संग्रह और अध्ययन का विधिवत् कार्य कर रही हैं। विश्वविद्यालयों में इस विषय के अध्ययन-अध्यापन का विशेष प्रबन्ध है। वहाँ इस विषय पर उच्च-से-उच्च कोटि की रचनाएँ मिल जाती हैं, जिनमें पाण्डित्य और गवेषणा का परिणाम भरा होता है। लेखक ने इसी कमी को पूरा करने के लिए ही 'भारतीय लोक-साहित्य' की रचना की है।

इसमें पहला अध्याय 'लोक' की व्याख्या देता है। वेदों से लेकर बौद्ध युग तक 'लोक' के कुछ प्रयोगों की ओर संकेत करके 'लोक' के प्राचीन अर्थ को समझाने की चेष्टा की है। आर्यों के आगमन से 'लोक' शब्द के एक अन्य अर्थ की उद्भावना लेखक ने मानी है। क्या यह आवश्यक है कि ऐसे सांस्कृतिक शाब्दिक भेदों को समझाने के लिए आर्यों के भारत में आगमन की बात का उल्लेख किया ही जाय? दूसरा अर्थ 'वेदेतर' वेद से इतर, वेद से भिन्न तो ठीक प्रतीत होता है, पर वेदेतर का वेद-विरोधी होना आवश्यक नहीं। साहित्य और शास्त्र की साक्षी भी यही सिद्ध करती है कि हर अवस्था में 'लोक' शब्द 'वेद' का विरोधी नहीं, केवल 'वेदेतर' ही होता है। अपनी व्याख्या के साथ लेखक यदि 'लोक'-विषयक समस्त अर्थों और प्रसंगों का भी उल्लेख कर देते तो व्याख्या में पूर्णता आ जाती। लेखक ने 'लोक' को 'वेदेतर संस्कृति के संकुचित अर्थ से ऊपर उठाकर' 'साधारणजनसमाज' का पर्यायवाची बना दिया है। इस प्रकार लेखक ने 'लोक' को बहुत व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया है। लोक की जो व्याख्या डॉक्टर वासुदेवशरण से लेकर दी गई है, वह व्याख्या न होकर काव्य है, उससे 'लोक' के रूप को समझने में सहायता नहीं मिलती। इस पुस्तक में 'लोक-साहित्य' की परिभाषा अवश्य ही स्पष्ट होनी चाहिए थी, पर लेखक ने लिखा है—

"आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य आदि से युक्त होकर साधारण जन-समाज, जिसमें पूर्व-संचित परम्पराएँ, भावनाएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं अपितु अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।"

इसमें लेखक ने क्या कहना चाहा है ठीक-ठीक विदित नहीं होता। कुछ तो वाक्य सदोष हो गया है। दूसरे साधारण जनसमाज की व्याख्या ने उसे असाधारण बना दिया है। किन्तु आगे स्पष्ट करते हुए 'लोक' को जैसे 'किसान' से निबद्ध कर दिया है—**"भारतीय किसान भारतीय 'लोक' का महाप्राण है। उसका जीवन लोक का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। अतएव वही लोक-साहित्य की आधारशिला है……।"** वेद और वेदेतर से ऊपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठकर 'वहु व्याहितो वा अयं वहुशो लोकः' तक पहुँचकर वह किसान का अवतार धारण कर खड़ा हो गया है। यहीं लेखक ने 'फोक' और 'लोक' की समस्या खड़ी कर दी है। लोक को फोक के अनुरूप मानते हुए उसमें 'पूर्व संस्कारों के कारण' फोक से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करने की क्षमता मानी है।

इस प्रकार लेखक ने यह चेष्टा की है कि 'लोक' के अर्थ तक पहुँचा जाय। यहाँ आवश्यकता थी कि 'लोक-साहित्य' में लोक शब्द के विशिष्ट अर्थ की व्याख्या की जाय। वेदेतर-मात्र का अर्थ उसमें नहीं, क्योंकि कालिदास, भारवी आदि की रचनाएँ लोक-साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकतीं। लेखक ने 'लोक और जन' के भेद को समझने की अच्छी चेष्टा नहीं की। वस्तुतः 'जन' को यह राजनीतिक अर्थ प्रगतिवाद की परम्परा ने नहीं प्रदान किया, अपने रूढ़ प्रयोग के कारण 'जन' ने प्राचीन काल से ही राजनीतिक पृष्ठभूमि संयुक्त समाज का अर्थ ग्रहण कर लिया था। ऐसे 'जन' के लिए अथवा जन की भावना से लिखा हुआ साहित्य भी लोक-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता।

दूसरा अध्याय 'लोकवार्ता एवं लोक-साहित्य' पर विचार करने के लिए है। सबसे पहले 'लोकवार्ता' शब्द के प्रयोग की समस्या पर विचार किया गया है। 'फोकलोर' के लिए मराठी, हिन्दी तथा बंगला में जितने भी शब्दों का सुझाव अब तक हुआ है उनको लेखक ने एक स्थान पर जुटा दिया है। यहाँ डॉ० सुनीतिकुमार जी का शब्द उद्धृत करने में भूल हो गई है। डॉ० चाटुर्ज्या ने जो शब्द दिया है वह 'लोक-यान' है। यह शब्द बौद्ध धर्म की हीनयान, महायान तथा वज्रयान की परम्परा में बनाया गया है—'यान' का अर्थ इन शब्दों में कुछ विशिष्ट है। 'यान' के पाँच अर्थ तो होते ही हैं। 'वाहन' तथा 'जाना' या 'चलना' के साथ यान का अर्थ (राजनीति में) आक्रमण, जुलूस तथा यात्रा भी होता है। किन्तु जिस परम्परा से डॉ० चाटुर्ज्या ने यह यान शब्द चुना है, वह विशेषार्थक है। उसके साथ एक धार्मिक भावना भी बँधी है। वह शास्त्र-सिद्धान्त-बद्ध रूप में प्रस्तुत होता है। प्रचलन उसका धर्म नहीं। फोकलोर या तो वह सामग्री है जो फोक के पास विद्यमान है, या उस सामग्री का विज्ञान है। वज्रयान कहता है वज्रयानी बनो, पर फोकलोर यह नहीं कहता कि 'लोकयानी' बनो। इस कारण लोकयान शब्द ठीक प्रतीत नहीं होता।

श्री परमार ने ठीक ही कहा है कि 'लोकवार्ता' शब्द हिन्दी में क्रमशः अपना स्थान निर्धारित कर चुका है। नवीन शब्दों के सुझाव और आग्रह से लोकवार्ता के प्रति जमी हुई आस्था कम नहीं हो सकती[1]; किन्तु इतना ही नहीं, समस्त युक्तियों और तर्कों के बाद भी 'लोकवार्ता' शब्द 'फोकलोर' के यथार्थ अर्थ को प्रकट करता है। लोर का अर्थ वस्तुतः किसी विषय के परम्परागत (ट्रेडीशनल) सम्पूर्ण ज्ञान-समूह का है। हिन्दी में वार्ता के कई प्रयोग मिलते हैं। 'कथावारता', 'चौरासी वैष्णवों की वारता', 'घरू वारता'। इस वारता शब्द का अर्थ जनश्रुति अथवा किंवदन्ती भी है, बात भी है और विषय भी। अतः यह शब्द उस समस्त अभिव्यक्ति से पर्याय का काम दे सकता है, जो अभिव्यक्ति शब्दों में होती है, अथवा शाब्दिक अभिव्यक्ति में जिस अन्य अभिव्यक्ति का विषय या प्रसंग गर्भित रहता है। इस दृष्टि से यह 'लोक वार्ता' शब्द सर्वथैव समीचीन प्रतीत होता है।

१. पृ० १५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक ने इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है कि लोकवार्ता एक शास्त्र है, और वह गति-शील विज्ञान है। इसी अध्याय में लोकवार्ता के विस्तार और उसमें लोक-साहित्य के स्थान का भी विवेचन किया गया है। यह अत्यन्त संक्षेप में किया गया है और तद्विषयक विद्वानों के उद्धरणों द्वारा ही बहुधा किया गया है।

तीसरा अध्याय लोक-साहित्य-संकलन की परम्परा पर प्रकाश डालता है। संक्षेप में लेखक ने लोक-साहित्य-संकलन की परम्परा का इतिहास दिया है। हिन्दी जनपद सम्बन्धी तथा अहिन्दी जनपद सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों का उल्लेख अपूर्ण है। आगे पृष्ठ ३४ पर लिखा है कि नार्मन ब्राउन के अनुमान से ३००० लोक-कथाओं के प्रकाशित होने की बात लिखी गई है। उन ब्राउन महोदय ने ३००० अनुमान से नहीं, गिनकर और पढ़कर वह गिनती लिखी थी। साथ ही उन्होंने सन् १९१० के निकट तक के समस्त भारतीय लोकवार्ता-साहित्य और उसके संकलनकर्ताओं तथा विचारकों की सूची भी दी थी। इसमें ब्राउन महोदय ने १३२ व्यक्तियों को सूचीबद्ध किया और उनकी रचनाओं को भी उन रचनाओं के विषय में ज्ञातव्य विषय पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी दीं। नार्मन ब्राउन का यह परिश्रम अत्यन्त प्रशंसनीय है, इससे अधिक पूर्ण उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। किन्तु यह सूची भारतेतर भाषाओं की मुख्यतः अंग्रेजी की पुस्तकों और निबन्धों की है। भारतीय भाषाओं में किये गए प्रयत्नों का इसमें उल्लेख नहीं। 'भारतीय लोक-साहित्य' में विविध भारतीय भाषाओं के कार्यों और प्रकाशनों का भी विवरण दिया गया है।

इस अध्याय में कुछ तथ्यविषयक भूलें रह गई हैं। लेखक ने हिन्दी में 'लोक-साहित्य' के द्वितीय उत्थान का आरम्भ १९४२ से माना है, और 'ब्रज साहित्य मण्डल को इसी उत्थान का परिणाम माना है।[1] ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना सन् १९४० में हो चुकी थी। सन् १९४२ का आन्दोलन इस मण्डल के कारण हुआ था। रामनारायण उपाध्याय की पुस्तक का नाम 'नीमाड़ी लोकगीत' है, 'नीमाड़ी ग्राम गीत' नहीं। लोक-कथाओं के सम्बन्ध में यह कथन है—"**इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास पं० शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने बुन्देलखण्ड की लोक-कथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक-कथाओं की 'स्पिरिट' नष्ट न होने दी।**" इसी सम्बध में इन्हीं चतुर्वेदीजी के कहानी-संग्रह 'पाषाण-नगरी' की भूमिका में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पृ० ख' पर जो लिखा है उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा। वे लिखते हैं—

"**ब्रज की लोक-कहानियों का एक मूल्यवान संग्रह जैसी सुनी वैसी टीपी शैली से ब्रज बोली में ही प्रकाशित किया था। उसमें कहानियों का अपना चोज़ पदे-पदे देखने को मिलता है। दूसरे साँचे में पड़कर लोक-कहानी बहुत-कुछ अपना रस खो देती है।**"

अतः 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' नाम की ऐसी वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक का उल्लेख भी यहाँ होना चाहिए था। यह कहानी-संग्रह श्री शिवपूजन सहायजी के प्रथम संकलन के समकालीन है। वस्तुतः यह अध्याय काफी सूचनापूर्ण है और परिश्रम से तैयार किया गया है।

चौथे अध्याय का शीर्षक है 'अपौरुषेय वाङ्मय'। इसमें मराठी लेखिका कमला बाई देशपाण्डे के निबन्ध के आधार पर स्त्री-वाङ्मय पर विचार किया गया है। स्त्रियों के गीतों के वर्गीकरण के साथ उनके काल-निर्णय की समस्या पर भी विचार प्रकट किया गया है। भारत के

१. पृष्ठ २९-३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी जनपद के किसी भी 'लोकगीत' का काल-निर्णय केवल 'स्फुट गीत' और उसकी सामग्री तथा शैली से नहीं हो सकता। पहले तो इसके लिए आवश्यक है कि जिस क्षेत्र के गीत पर विचार किया जा रहा है, उस क्षेत्र के समस्त गीतों का संग्रह सामने हो, फिर उस विशिष्ट गीत के जितने भी रूप उस क्षेत्र में तथा समस्त भारतीय जनपदों में मिलते हैं वे भी प्रस्तुत हों, फिर वैसे विषय का कोई ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक उल्लेख कहीं मिलता हो तो वह भी खोज लिया गया हो—इतनी सामग्री हाथ में हो तभी 'काल-निर्णय' की ओर बढ़ा जा सकता है।

अपौरुषेय वाङ्मय के साथ पौरुषेय वाङ्मय की भी आवश्यकता प्रतीत होती है।

पाँचवाँ अध्याय 'लोकगीत क्या है ?' शीर्षक से है। इसमें लोकगीत की व्याख्या और उसके प्रकारों पर विचार किया गया है। संक्षेप में कितने ही विद्वानों के मतों का उल्लेख लेखक ने किया है। इन लोकगीतों के कुछ प्रमुख लक्षण भी गिनाये गए हैं। अध्याय रोचक है, यद्यपि वैज्ञानिक नहीं बन पड़ा। लोकगीतों के जन्म का मूल क्या है— वह वैयक्तिक है या सामाजिक, उसका विकासक्रम क्या रहा है, इन गीतों के निर्माण में 'व्यक्ति' का योगदान क्या होता है— इन बातों पर भी संक्षेप में प्रकाश डालने की आवश्यकता थी।

छठे अध्याय में ग्रामगीत, लोकगीत, जनगीत के प्रयोगों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनमें विद्यमान भ्रम को दूर करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा सामयिक और उपयोगी है। सातवाँ अध्याय गीत, संगीत और नृत्य तीनों को 'लोक-मानस की त्रिधाभिव्यक्ति' मानकर इनका परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट करता है। इन अभिव्यक्तियों का 'लोक-मानस' से जो सम्बन्ध है, उसे भी स्पष्ट किया जाता तो उपयोगिता और बढ़ जाती। आठवाँ अध्याय 'लोकगीतों में रंग-वैचित्र्य' पर प्रकाश डालता है। यह अध्याय लोकगीतों में रंग-वैचित्र्य की चर्चा का दिग्दर्शक है। लेखक ने हर्बर्ट रीड के चित्रकला-विषयक अभिमत का उल्लेख करके रंगों के विवेचन को वैज्ञानिक स्तर पर लाने की प्रशंसनीय चेष्टा की है। विविध जनपदीय क्षेत्रों के ग्राम-साहित्य में जो विशेष रंग के प्रति विशेष आकर्षण मिलता है उसे भी लेखक ने सोदाहरण स्पष्ट कर दिया है। निश्चय ही ऐसे विवरण प्रस्तुत साहित्य के आधार पर ही दिये जा सकते हैं, अतः जिन जनपदों का साहित्य उपलब्ध नहीं था उनका उल्लेख नहीं हो सका, जैसे ब्रज का धानी और ककरेजी रंग का उल्लेख नहीं किया जा सका। अन्य प्रदेश भी छूट गए हैं।

नवें अध्याय का शीर्षक है 'लोक-गीतों में नई चेतना'। शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें लोकगीतों के उस रूप की चर्चा होगी जो नये युग के तकाजे से प्रस्तुत हुए हैं। कुछ मार्मिक गीतों के उद्धरणों से नई चेतना के उस स्वरूप को, जो लोकगीतों में उभरा है, रोचक ढंग से इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

दसवें अध्याय में 'पवाड़ा' महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोक-काव्य चर्चा का विषय है। आरम्भ में 'पवाड़ा' की विविध व्युत्पत्तियों की चर्चा है, फिर महाराष्ट्री 'पवाड़े' पर कुछ प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें अध्याय से अठारहवें तक लोक-साहित्य, विशेषतः लोकगीतों में मिलने वाले विशेष विषयों की चर्चा है—बारहमासी, सती-प्रथा, नारी पर विचार तीन अध्यायों में; नर्मदा उपत्यका के गीत, भीलों के विवाह के गीत, कंजरों के गीत आगे के तीन अध्यायों में, तब मालवा का एक प्रसिद्ध गीत 'बाला बऊ'—इस प्रकार १७वें अध्याय तक विशिष्ट विषयों अथवा विशिष्ट प्रकार और क्षेत्र के गीतों का परिचय दिया गया है। १८वें अध्याय में क्रम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बद्ध लोक-कथा की परिभाषा और परिचय दिया गया है । १९वें में 'लोक-नाट्य' शीर्षक के अन्तर्गत नाटकों के लौकिक मूल पर प्रकाश डालते हुए आन्ध्र, महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, राजस्थान, ब्रज, मालवा आदि के लोक-नृत्य और लोक-रंगमंच के स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। बीसवाँ अध्याय लोकोक्ति-साहित्य पर है, २१वां 'प्रहेलिका-साहित्य' पर। दोनों ही अत्यन्त संक्षिप्त और परिचयात्मक हैं। २२वाँ अध्याय महत्त्वपूर्ण है। इसमें लोकवार्ता-शास्त्र सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री एक स्थान पर मिल जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने इस छोटी-सी पुस्तक द्वारा 'गागर में सागर' भरने की चेष्टा की है। इसमें 'लोक-साहित्य' के विविध अंगों का परिचय ही नहीं दिया, उसे शास्त्रीय स्तर पर पहुँचाने की भी चेष्टा की है, और भारतीय लोक-साहित्य की प्रमुख विशेषताओं को भी उभारकर दिखाने का प्रयत्न किया है। लेखक का मन गीतों की ओर विशेष आकर्षित रहा है, फलतः अधिकांश अध्याय गीतों से ही सम्बन्धित हैं। वस्तुतः इन्हें अध्याय नहीं कह सकते, लेखक ने कहा भी नहीं। ये तो निबन्ध हैं जो भिन्न-भिन्न विषयों पर सुविधानुसार लिखे गए हैं। अतः विविधता तो भरपूर है पर परिपूर्णता उतनी नहीं। कहानियों पर भी प्रथम एक परिचयात्मक निबन्ध होता तो बहुत अच्छा रहता। पुस्तक का उद्देश्य सम्भवतः भारतीय लोक-साहित्य का परिचय देना ही रहा है। उसमें लेखक सफल हुआ है, वस्तुतः उसने रोचक होने की भी पर्याप्त चेष्टा की है। इस पुस्तक का अवश्य ही स्वागत होगा। यह इस समय की आवश्यकता की पूर्ति करती है।[1]

डॉ० शम्भूनाथसिंह

'साहित्य-वार्ता' और 'आलोचना के सिद्धान्त'

हिन्दी में इस समय समीक्षात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन सबसे अधिक हो रहा है। इस आधिक्य का कारण चाहे जो भी हो, किन्तु उसका परिणाम हिन्दी-साहित्य की उन्नति की दृष्टि से बहुत शुभ नहीं दिखाई पड़ रहा है। आलोचना के नाम पर आज दिन जो ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं उनमें से अधिकतर ऐसी अधकचरी और अशुद्ध सामग्री प्रस्तुत करते हैं[2] जिससे साहित्य के विद्वानों को तो कोई लाभ हो ही नहीं सकता, उल्टे साहित्य के नये विद्यार्थियों की अत्यधिक हानि हो रही है।

मेरे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में इस समय अच्छी समीक्षात्मक पुस्तकें बिलकुल नहीं प्रकाशित हो रही हैं। वर्ष में दो-चार अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित हो जाती हैं। ऐसी कोई विचारोत्तेजक और ज्ञानवर्द्धक पुस्तक जब हाथ लग जाती है तो उसे पढ़कर जितना हर्ष होता है उतना ही दुःख किसी जाने-माने

१. लेखक, श्याम परमार; प्रकाशक, सत्येन्द्र।

२. 'साहित्य-वार्ता'—ले०, श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', प्रकाशक, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वान् की ऐसी पुस्तक[१] को पढ़कर होता है, जो केवल पैसा कमाने की दृष्टि से संकलित सामग्री और अधूरे ज्ञान के आधार पर लिखी गई होती है या जिसमें देशी-विदेशी साहित्य-शास्त्रियों के मतों को बिना पचाये उगल दिया गया रहता है। लेखक के ‘बड़े नाम’ से प्रभावित होकर किसी पुस्तक को पढ़ने पर जब उस श्रम का यथोचित लाभ नहीं प्राप्त होता तो काफ़ी झुँझलाहट होती है और समीक्षा-साहित्य के भविष्य के विषय में बहुत निराशा होने लगती है। इन दोनों प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो समीक्षात्मक ग्रन्थ सम्प्रति मेरे सम्मुख हैं—पहला श्री गिरिजादत्त शुक्ल ‘गिरीश’ का ‘साहित्य-वार्ता’ और दूसरा व्योहार राजेन्द्रसिंह का ‘आलोचना-के सिद्धान्त’। इन दोनों ही ग्रन्थों के लेखक हिन्दी के पुराने और प्रख्यात साहित्यिक हैं। किन्तु इनमें से प्रथम लेखक के ग्रन्थ को पढ़कर जितनी आशा बँधती है, द्वितीय लेखक के ग्रन्थ को पढ़कर उतनी ही निराशा भी होती है।

‘साहित्य-वार्ता’ में ‘गिरीश’ जी के समय-समय पर लिखे २६ निबन्ध संकलित हैं। इनमें से तीन व्यक्तिव्यंजक या रचनात्मक निबन्ध हैं और एक परिचयात्मक निबन्ध है, जिसमें लेखक ने अपने अप्रकाशित महाकाव्य ‘तारक-वध’ का आलोचनात्मक ढंग से विज्ञापन किया है। व्यक्तिव्यञ्जक निबन्धों में व्यंग की प्रधानता है। आज साहित्य के क्षेत्र में अवसरवादी, यश-लोलुप और सिद्धान्तहीन व्यक्तियों की ही पूजा हो रही है, सच्चे साहित्य-साधक प्रायः ऐसे नेता-साहित्यिकों के राजनीतिक दावपेंच के शिकार होते रहते हैं। ‘साहित्य-वार्ता’ और ‘आनन्द-वर्द्धिनी समिति’ में इसी प्रवृत्ति पर चोट की गई है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आज अनगिनत ‘सच्चिदानन्द शर्मा’ हैं जिनमें से यहाँ एक शर्माजी का ही शील-निरूपण किया है। अभी अन्य कई प्रकार के ‘शर्मा’ लोग भी हैं जिनकी ओर यदि गिरीशजी का ध्यान जाय तो साहित्य का परम उपकार होगा। ये दोनों निबन्ध तो साहित्य से सम्बन्धित होने के कारण इस निबन्ध-संग्रह में खप जाते हैं, किन्तु ‘किराये का मकान’ शीर्षक निबन्ध का मेल संग्रह के अन्य निबन्धों से नहीं बठ पाता। ‘तारक-वध’-सम्बन्धी निबन्ध तो इसमें व्यर्थ ही रखा गया, क्योंकि जब तक वह काव्य प्रकाशित नहीं हो जाता, तब तक कवि के तत्सम्बन्धी वक्तव्य का विज्ञापन के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं हो सकता। आलोचना तो उसे कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कवि स्वयं अपनी कृति की समीक्षा तटस्थ होकर शायद नहीं लिख सकता।

शेष २२ निबन्धों में से कुछ में साहित्यिक और सांस्कृतिक विचारों तथा सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है और कुछ व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में आते हैं। ‘मेरी साहित्यिक मान्यताएँ’ शीर्षक निबन्ध में सूत्र-रूप में लेखक के साहित्यिक सिद्धान्तों का समावेश हो गया है। इस निबन्ध में लेखक ने प्रगतिवाद में अपनी आस्था प्रकट की है। किन्तु प्रगतिवाद की उसने जो परिभाषा दी है वह उसका अपना आविष्कार है, क्योंकि प्रगतिवाद का आधार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन है जिसे अपूर्ण मानकर वह उसे अद्वैतवादी आध्यात्मिक दर्शन से संयुक्त करना चाहता है। इस आध्यात्मिक प्रगतिवाद के जोश में वह यहाँ तक कह देता है कि **"अज्ञात के रहस्य में मनुष्य का प्रवेश करना उसका सबसे बड़ा पराक्रम है। रहस्योन्मुखता जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है।"** इस तरह ‘साहित्य-वार्ता’ का लेखक एक ही साथ दो

१. ‘आलोचना के सिद्धान्त’, ले० व्योहार राजेन्द्रसिंह; प्रकाशक आत्माराम ऐंड सन्स, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोधी दर्शनों—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और अद्वैतमूलक रहस्यवाद—में विश्वास करता है। पर क्या गिरीशजी जैसे सुधी और चिन्तक लेखक को यह बताने की आवश्यकता है कि दर्शन तर्क का विषय है जिसमें असंगति और तर्कहीनता के लिए कोई स्थान नहीं होता। इस असंगतिपूर्ण और अन्तर्विरोधी मान्यता का कारण एक ओर तो लेखक का अपनी सांस्कृतिक परम्परा और हिन्दू-संस्कारों के प्रति उत्कट प्रेम है और दूसरी ओर उसका मानवतावादी हृदय तथा कुछ-कुछ प्रगतिवादी कहलाने का लोभ है।

किन्तु लेखक अपनी मान्यता के अन्तर्विरोध से सम्भवतः शीघ्र ही अवगत हो गया है, इसीलिए उसने संग्रह के दूसरे निबन्ध 'प्रगतिवाद' में प्रगतिवादी विचारधारा की सीमाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है और यह घोषणा की है कि "**प्रगतिवाद ने...व्यक्ति की सत्ता ही मिटा दी है...व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लगने वाले प्रतिबन्धों के प्रति अपना विरोधी स्वर ऊँचा करना साहित्य का धर्म है। अपने इस धर्म का पालन करके साहित्य मानव की वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में सामञ्जस्य उपस्थित करता चलता है।**" इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक व्यक्ति और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण उन्नति या विकास की प्रक्रिया को ही प्रगतिवाद मानता है और उस प्रक्रिया के पीछे काम करने वाले दार्शनिक, आर्थिक या राजनीतिक सिद्धान्तों को वह महत्त्व नहीं देता, अर्थात् यदि पूँजीवाद द्वारा आज इस प्रकार का विकास सम्भव है तो वह उसे भी प्रगतिशील शासन-पद्धति मानेगा, और यदि समाजवादी शासन-तन्त्र व्यक्ति-स्वतन्त्र्य का अपहरण करते हैं तो वह उसे अप्रगतिशील कहेगा। पूँजीवाद और समाजवाद में निहित सिद्धान्तों और सम्भावनाओं की परीक्षा करके यह सिद्ध करने की आवश्यकता वह नहीं समझता कि इनमें से वास्तविक रूप से प्रगतिशील कौन है जिसे अपनाकर व्यक्ति और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण प्रगति हो सकेगी। इससे स्पष्ट है कि लेखक का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक नहीं बल्कि फलान्वेषी है, दार्शनिक नहीं बल्कि उपयोगितावादी है। यदि ऐसी बात है तो गिरीशजी इस प्रगतिवाद के झमेले में व्यर्थ ही पड़े। उन्हें तो टालस्टाय और महात्मा गांधी के 'उपयोगितावाद' का सहारा लेना चाहिए था, क्योंकि उन्होंने अनेक निबन्धों में अपने को गांधीवादी कहा है। फिर उनके उपर्युक्त कथन से यह भी ज्ञात होता है कि वे प्रगतिवाद की स्थिति किसी राजनीतिक या दार्शनिक मतवाद में न मानकर साहित्य में मानते हैं और उसे साहित्य के धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। क्या यह एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं है? साहित्य का धर्म प्रगति है या मानव के सौन्दर्य-बोध की परितृप्ति? प्रगति और सौन्दर्य-भावना के समन्वित रूप का ही अभिधान साहित्य है, इस सत्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी है। वे मार्क्सवादी प्रगतिवाद को युगसत्य या खण्ड-सत्य मानते हैं और एक भारतीय प्रगतिवाद की कल्पना करके कहते हैं कि "**मैं भारतीय प्रगतिवाद को अधिक रचनात्मक, अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक संजीवन-प्रद और पूर्णसत्य के अधिक निकट मानता हूँ।**" उनके अनुसार भारतीय प्रगतिवाद वह है "**जिसमें समस्त पक्षों, समस्त वादों का समन्वय विद्यमान है।**" वे इसी प्रगतिवाद को साहित्य में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। प्रश्न यह उठता है कि कोई ऐसा भारतीय प्रगतिवाद है भी और यदि है तो उसका सैद्धान्तिक स्वरूप और उसकी उपलब्धियाँ क्या हैं? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस भारतीय प्रगतिवाद के आविष्कर्ता स्वयं गिरीशजी हैं। अतः उन्हें अपने इस नये 'वाद' की विस्तृत और सप्रमाण व्याख्या तथा प्रचार करना चाहिए। तभी उसके सम्बन्ध में व्यापक विचार-विमर्श सम्भव हो सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संग्रह का एक अन्य निबन्ध है 'विश्व-संस्कृति बनाम भारतीय संस्कृति', जो समस्त प्रगतिवादी विचारों के बाह्य आवरण को दूर फेंककर लेखक को उसके वास्तविक रूप में उपस्थित करता है। गिरीशजी द्विवेदी-युग या पुनरुत्थान-युग के लेखक हैं, अतः आज के क्रान्तिकारी युग में भी वे अपने पूर्व संस्कारों और पुनरुत्थानवादी विचारों को छोड़ नहीं सके हैं। इसी कारण वे संस्कृति को देश-काल के भेद के अनुरूप निरन्तर प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानते हुए भी भारतीय संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ संस्कृति घोषित करते हैं और साहसपूर्वक यह कहते हैं "**भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर हम विचार करेंगे तो वह इसी विश्व-संस्कृति के साथ मेल खाती हुई दिखाई पड़ेगी; उक्त विश्व-संस्कृति और भारतीय संस्कृति को हम एक-दूसरे से सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं।**" इस कथन में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यं' की साम्राज्यवादी अथवा संकीर्ण राष्ट्रवादी भावना निहित है जो हिन्दू पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति का द्योतक है। सम्भवतः लेखक ने संस्कृति का अर्थ भी अच्छी तरह नहीं समझा है, क्योंकि निबन्ध के प्रारम्भ में वह संस्कृति की परिभाषा बताते हुए कहता है कि "**मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक साधना के परिणाम जिन कलात्मक माध्यमों द्वारा व्यक्त होकर स्थूल पशुत्व से उसे मुक्त रूप में उपस्थित करते हैं उनकी समष्टि को संस्कृति कहते हैं।**" इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति कलात्मक माध्यमों की समष्टि है, अतः धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति आदि का उसमें कोई स्थान नहीं है। किन्तु पूरे निबन्ध में लेखक ने दर्शन, धर्म, आचार, राजनीति आदि के सम्बन्ध में ही विचार किया है और कलात्मक माध्यमों की कहीं चर्चा भी नहीं की है। वस्तुतः संस्कृति मनुष्य की सर्वोत्तम जीवन-साधनाओं की निरन्तर विकासमान परिणति है, जो धर्म, दर्शन, कला, शास्त्र, विज्ञान आदि के स्थूल रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती चलती है, अर्थात् वह स्थूल जीवन-विधियों के मूल में निहित सूक्ष्म जीवन-दृष्टि है। यदि विश्व-मानव को एक होना है तो उसे जीवन-दृष्टि के देशगत और कालगत विशेषणों तथा उपाधियों का मोह त्यागकर समान भूमि पर समान रूप में उपस्थित होना होगा। तभी विश्व-संस्कृति का उदय होगा और उस समय पाश्चात्य और पौर्वात्य, भारतीय और यूनानी, प्राचीन और नवीन के भेद तिरोहित हो चुके रहेंगे। क्या गिरीश जी की 'भारतीय संस्कृति' भी कभी इस स्थिति को प्राप्त कर सकी है या कर सकेगी?

संग्रह के अन्य निबन्धों में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों और लेखकों तथा उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया गया है। इनमें से कुछ निबन्ध तो निस्सन्देह बहुत ही सन्तुलित और विचारणीय हैं, किन्तु कुछ में लेखक के पूर्वग्रह या वैयक्तिक रुचि के कारण तटस्थ और वस्तुगत मूल्यांकन नहीं हो सका है। सन्तुलित निबन्धों में 'श्री सुमित्रानन्दन पन्त', 'श्री हरिऔध' और 'यदि मैं कामायनी लिखता' सर्वश्रेष्ठ हैं। 'श्री हरिऔध' शीर्षक निबन्ध में लेखक ने हरिऔधजी के समस्त साहित्य का बहुत निष्पक्ष और नये ढंग से आकलन किया है। लेखक का यह कथन सर्वथा उचित है कि "**भारतेन्दु के समय से लेकर द्विवेदीजी के समय तक जितने भी कवि प्रकाश में आए उनमें हरिऔधजी की प्रतिभा ही सबसे अधिक प्रगतिशील, प्रखर और रचनात्मक थी।**" इस निबन्ध में हरिऔध की प्रगतिशील, रूढ़ि-विद्रोही और प्रयोगशील प्रवृत्ति की सप्रमाण व्याख्या की गई है। लेखक ने हरिऔध की विशेषताओं का ही नहीं, उनके दोषों का भी सम्यक् विवेचन किया है, जो उसकी तटस्थ आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। इसी प्रकार 'श्री सुमित्रानन्दन पन्त' शीर्षक निबन्ध में भी पन्तजी के साहि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्यिक व्यक्तित्व और विचारधारा के विकास-क्रम का बहुत ही वैज्ञानिक तथा सन्तुलित रूप में विश्लेषण किया गया है, यद्यपि उसका पहला अनुच्छेद बहुत विवादास्पद है। उसमें लेखक की स्थापना यह है कि **"हिन्दी-साहित्य अधिकांश में प्रतिक्रियाओं के अधीन होकर अपना विकास पाता रहा है।"** प्रायः यही विचार इस संग्रह के एक अन्य निबन्ध 'हिन्दी काव्य की प्रतिक्रियाएँ और प्रवृत्तियाँ' में भी व्यक्त किये गए हैं। किन्तु श्रेष्ठ साहित्य प्रतिक्रिया-जन्य नहीं होता। यदि हिन्दी का अधिकांश साहित्य प्रतिक्रिया-जन्य है तो वह श्रेष्ठ नहीं हो सकता। पर कौन तटस्थ आलोचक इसे मानने को तैयार होगा? साहित्य की मूल प्रेरणा प्रतिक्रियात्मक नहीं, सर्जनात्मक होती है, जो युगीन परिवेश और सांस्कृतिक परम्परा की देन होती है। इस भूमिका-भाग के अतिरिक्त निबन्ध के अन्य अंशों में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ लेखक से सहमत होना कठिन है। लेखक ने पन्तजी की गद्यात्मक, नीरस और उपदेशात्मक कविताओं की ओर ध्यान देकर 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की सभी कविताओं को 'काव्यसुलभ' 'सरलता से युक्त' और 'मनोहर' घोषित किया है। साथ ही उसने पन्त के मानवतावादी स्वरूप के समर्थन के जोश में उनके विचारगत अन्तर्विरोधों का भी उल्लेख नहीं किया है।

'यदि मैं कामायनी लिखता' शीर्षक निबन्ध भी पर्याप्त विचारपूर्ण और कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने 'कामायनी' की अन्यतम विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसके महाकाव्यत्व और नायक-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ दोष भी ढूँढ़े हैं। उनकी आपत्तियाँ प्रमुखतः तीन हैं—(१) मानव-जीवन की समस्या के सम्बन्ध में कामायनी का उपचार मूलतः वैयक्तिक है। (२) उसमें जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं है। (३) नायक-तत्त्व-समन्वित श्रद्धा अपनी शक्तिहीन दया और सहानुभूति के कारण पारिवारिक सीमा के भीतर ही संकुचित रह गई है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'कामायनी' नये ढंग का प्रतीकात्मक और प्रगीतात्मक महाकाव्य है, अतः उसकी परीक्षा पुराने मानदण्डों से नहीं होनी चाहिए। 'कामायनी' का धरातल वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है, क्योंकि उसका लक्ष्य मानव-जाति को अशान्ति, दुःख और वैषम्य से मुक्ति दिलाना और चारित्रिक विकास के माध्यम से नवीन मानव-समाज की रचना करना है। श्रद्धा महाकाव्य की नायिका ही है, नायक नहीं, अतः उसका कार्य नायक की फल-प्राप्ति में अधिकाधिक योग देना है। इड़ा उपनायिका है। इन दोनों का चरित्र एक-दूसरे का पूरक है, क्योंकि श्रद्धा आत्मिक शक्ति का प्रतीक है और इड़ा भौतिक या सामाजिक शक्ति का। इन दोनों शक्तियों की अभिव्यक्ति हृदय और बुद्धि के माध्यम से होती है। अतः यदि प्रसादजी श्रद्धा से आधुनिकयुगीन क्रान्तिकारी नेत्रियों की तरह सारस्वत प्रदेश की प्रजा का नेतृत्व कराते तो उनकी रूपक-योजना ही नष्ट हो जाती। श्रद्धा की करुणा शक्तिहीन नहीं है। क्या गिरीशजी आत्मिक शक्ति को शक्ति नहीं मानते? तब तो उनकी भारतीय संस्कृति की इमारत ही ढह जायगी।

शेष निबन्धों में 'गुप्तजी का साकेत', 'आधुनिक हिन्दी-काव्य का विद्रोही स्वर', 'मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में राधाकृष्ण', 'अज्ञेयजी का नदी के द्वीप' तथा 'हिन्दी-उपन्यास में सृजनात्मक संहार' उतने महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी विचारपूर्ण तथा व्यावहारिक समीक्षा के गुणों से युक्त हैं। 'गुप्तजी का साकेत' में लेखक ने 'साकेत' की अति संक्षिप्त किन्तु निष्पक्ष आलोचना की है। 'आधुनिक हिन्दी काव्य का विद्रोही स्वर' में हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दिनकर के काव्य के रूढ़िविरोधी तत्त्वों और क्रान्तिदर्शी विचारों की संक्षिप्त विवेचना की गई है। 'मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में राधाकृष्ण' बहुत ही चिन्तनपूर्ण तथा विचारोत्तेजक निबन्ध है। उसमें राधाकृष्ण की माधुर्य-भाव से की जाने वाली उपासना के मूल में निहित आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों तथा कृष्ण, राधा, गोप, गोपी आदि के रूप में व्यक्त उनके प्रतीकों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'हिन्दी-उपन्यास में सृजनात्मक संहरण' में लेखक ने हिन्दी-उपन्यास के विकास-क्रम का संकेत करते हुए उसके यथार्थवादी स्वरूप का विश्लेषण किया है और यथार्थवाद के संहारात्मक पक्ष से अधिक उसके निर्माणात्मक पक्ष पर जोर दिया है। उसके अनुसार प्रगतिवादी या मनोविश्लेषण-शास्त्रीय यथार्थवादी उपन्यासों में मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के संहार और मानवीय गुणों के विकास की प्रवृत्ति उतनी नहीं मिलती। लेखक के इस कथन से सम्भवतः बहुत से लोग न सहमत हों।

संग्रह के अन्य निबन्ध सामान्य हैं। उनमें से कुछ—'हमारे रचनाकार और आलोचक', 'विवेचना की आवश्यकता', 'उर्दू देश भाषा की ही एक शैली' आदि—या तो भाषण हैं या भाषण वाली व्यास शैली में लिखे गए हैं। अतः उनमें आलोचनात्मक उत्कृष्टता, गम्भीरता तथा समाहार-शक्ति का अभाव है। कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनकी व्याख्यात्मकता टीका-भाष्य की पद्धति के निकट पहुँच गई है, जैसे 'निराला का तुलसीदास' और 'आचार्य शुक्ल का काव्य-सिद्धान्त'। 'इन्दुमती', और 'दिनकरजी का कुरुक्षेत्र' पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखी गई पुस्तक-समीक्षा प्रतीत होते हैं। शेष निबन्धों में भी पत्रकारिता के गुण ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। किन्तु कुल मिलाकर इस निबन्ध-संग्रह को उत्तम कोटि का समीक्षात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें लेखक का गहन चिन्तन, निर्भीक निर्णय-वृत्ति और सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति का परिचय सर्वत्र मिलता है।

दूसरी पुस्तक 'आलोचना के सिद्धान्त' को पढ़कर घोर निराशा हुई। हिन्दी में साहित्य-शास्त्र के सामान्य ज्ञान के लिए बाबू श्यामसुन्दरदास-कृत 'साहित्यालोचन', बाबू गुलाबराय-कृत 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत 'साहित्य का साथी' आदि पुस्तकें बहुत ही उपयोगी और सुन्दर हैं। यदि कोई लेखक उनके बाद साहित्य-शास्त्र पर नया ग्रन्थ लिखता है तो उसे उक्त ग्रन्थों से अधिक सामग्री और नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिए अथवा साहित्य-शास्त्र के अलग-अलग अंगों पर विशेष और गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करना चाहिए। तभी उसकी पुस्तक की कोई उपयोगिता हो सकती है। हाँ, विद्यार्थियों के उपयोग के लिए सस्ते 'नोट्स' लिखकर पैसा कमाना हो तो दूसरी बात है। यह बात भी समझ में नहीं आती कि एक ही प्रकाशक एक विषय पर एक ही सामग्री से युक्त कई-कई पुस्तकें क्यों प्रकाशित करता है। आत्माराम एण्ड सन्स के यहाँ से साहित्य-शास्त्र पर श्री गुलाबराय की तीन पुस्तकें 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'साहित्य समीक्षा' तथा चौथी सुमन और मल्लिक की पुस्तक 'साहित्य-विवेचन' पहले ही से प्रकाशित हो चुकी थीं। फिर उसी विषय की यह पाँचवीं पुस्तक, जो उक्त पुस्तकों से किसी भी अर्थ में अच्छी नहीं कही जा सकती, प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता थी? इस पुस्तक में कोई भी ऐसी विशेषता नहीं दिखाई पड़ती जो गम्भीर पाठकों का ध्यान आकर्षित करे अथवा जो लेखक को सुलझा आलोचक तो दूर, गम्भीर अध्येता भी सिद्ध कर सके। 'आलोचना के सिद्धान्त' दो भागों में विभक्त हैं—प्रथम भाग में नौ अध्यायों में भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के विविध मत-मतान्तरों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय दिया गया है, दूसरे भाग में आलोचना के विकास के सम्बन्ध में बारह अध्यायों में विचार किया गया है। प्रश्न उठता है कि यदि पुस्तक का नाम 'आलोचना के सिद्धान्त' रखा गया है तो उसमें आलोचना के विकास का इतिहास देकर उसका कलेवर बढ़ाने का क्या प्रयोजन है ? क्या इस प्रकार भ्रामक नाम देकर पाठकों को धोखा देना उचित है ? किन्तु पूरी पुस्तक पढ़ जाने पर बात स्पष्ट हो जाती है कि इस ग्रन्थ में न तो आलोचना के सिद्धान्तों का ही सम्यक् विवेचन हुआ है, न आलोचना का विकास ही पूर्ण रूप में दिखाया गया है। उदाहरणार्थ प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में, जिसका शीर्षक है 'आलोचना के दृष्टिकोण', प्रारम्भ के कई पृष्ठों में शास्त्र और साहित्य तथा गद्य और पद्य का अन्तर तथा गद्य के विकास का इतिहास दिया गया है, फिर साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन अथवा उसकी उत्पत्ति के कारणों से सम्बन्धित कुछ मतों का बहुत ही सामान्य परिचय दिया गया है और बीच-बीच में साहित्य की प्रवृत्तियों में परिवर्तन, कला और कलाकार, यथार्थवाद तथा समीक्षा की तुलनात्मक प्रणाली के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। इस तरह इस अध्याय का इसके शीर्षक से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें साहित्य के मूल उत्स, विकास, उसका उद्देश्य, साहित्य के प्रकार तथा आलोचना-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों का विचित्र घालमेल दिखाई पड़ता है। 'भारतीय आलोचना-शास्त्र' शीर्षक दूसरे अध्याय में केवल साढ़े तीन पृष्ठों में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदायों का विश्लेषण कर दिया गया है, जिससे पाठक के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ सकता। इससे भी विचित्र तीसरा अध्याय है, जिसमें काव्य के स्वरूप, कारण, उद्देश्य और आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों को दो-दो, चार-चार पंक्तियों में कह दिया गया है। फिर प्रथम अध्याय में ही क्या ये बातें नहीं समाविष्ट हो सकती थीं ? चतुर्थ अध्याय का शीर्षक तो है 'काव्य के भेद', किन्तु उसमें काव्य की कोटियों तथा शब्द-शक्तियों का अत्यन्त अधूरा परिचय दिया गया है। इसी प्रकार प्रथम भाग के सभी अध्याय नितान्त अव्यवस्थित, योजनारहित, अपूर्ण और अधकचरी सामग्री से भरे हुए हैं।

दूसरे भाग का शीर्षक है 'आलोचना का विकास', किन्तु इसे पढ़कर यही लगा कि इसका शीर्षक होना चाहिए 'पाश्चात्य कला-समीक्षा का विकास', पर पाश्चात्य कला-समीक्षा का भी इसमें क्रमिक, व्यवस्थित और पूर्ण परिचय नहीं दिया गया है। प्रारम्भ के सात अध्यायों में अफलातून, अरस्तू, एडिसन, लेसिंग और कजिन्स के साहित्य-कला-सम्बन्धी विचारों की उद्धरणी उपस्थित की गई है। इस तरह ये अध्याय मुख्यतः साहित्य से नहीं, सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित हैं। यदि समीक्षा-शास्त्र का अर्थ सौन्दर्यशास्त्र मान भी लिया जाय तो भी उस क्षेत्र के लिए उपर्युक्त लेखकों के नाम पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि आधुनिक युग के सौन्दर्यशास्त्रियों—ग्रोस, हर्न, टालस्टाय, क्लाइव बेल, मारिस, पार्किन, क्रोचे, फ्रायड, जार्ज सन्तायाना, आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ड रीड, काडवेल आदि—के मतों का इसमें कहीं उल्लेख भी नहीं किया गया है। आधुनिकयुगीन साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों तथा उसके विकास का परिचय देने की तो इसमें कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गई है। पूरी पुस्तक के प्रायः तीन-चौथाई भाग में लेखक ने दूसरों के मतों और विचारों का ही विवरण और उद्धरण दिया है, अतः समीक्षा-सम्बन्धी उसकी निजी मान्यताओं और विचारसरणि का कुछ पता नहीं चलता। हिन्दी-साहित्य-समीक्षा की उपलब्धियों की ओर भी लेखक ने दृष्टि डालने की आवश्यकता नहीं समझी है। लेखक की हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा का कितना ज्ञान है यह इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि भूमिका में हिन्दी-समीक्षकों का नाम गिनाते हुए उसने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० जगन्नाथ शर्मा, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रो० विनयमोहन शर्मा आदि सिद्ध आलोचकों का नामोल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा है। पुस्तक प्रूफ की अशुद्धियों से भरी हुई है। जहाँ नलिन विलोचन शर्मा ललित विलोचन, अभिनव गुप्त अभिनय गुप्त और रुद्रट रूपट हो गए हों, वहाँ प्राण का पुराण, गुणाः का गुणः, दुर्लभं लोके का दुर्लभे लोक, कारणम् का करणम्, असम्बद्ध का असम्भव, इलियड का इलियट, वस्तु का वस्तू हो कोई बड़ी बात नहीं है। पता नहीं वह शुभ दिन कब आयेगा जबकि हिन्दी के प्रकाशक अपने प्रकाशनों का स्तर अंग्रेजी के प्रकाशकों के समान ऊँचा उठा सकेंगे।

रामपूजन तिवारी

हिन्दी-साहित्य पर सूफ़ीमत का प्रभाव

प्रस्तुत पुस्तक में सूफ़ीमत को दृष्टि में रखकर हिन्दी-साहित्य का अध्ययन किया गया है। विद्वान् लेखक के मत से हिन्दी-साहित्य पर सूफ़ीमत का व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है। लेखक ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सूफ़ीमत से केवल निर्गुणिया सन्त कबीर आदि ही प्रभावित नहीं हुए, बल्कि सगुणोपासक और विशेष रूप से कृष्णभक्त मीरा, सूर आदि भी प्रभावित हुए हैं। लेखक के मत से कृष्णाश्रयी शाखा में रहस्य तथा मधुर भावना का प्रवेश सूफ़ीमत के कारण ही हुआ। छायावादी और रहस्यवादी आधुनिक कविता भी इसके प्रभाव से अछूती नहीं रही।

चूँकि सूफ़ीमत को दृष्टि में रखकर यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है इसलिए लेखक ने सूफ़ीमत पर प्रथम पाँच अध्यायों में विस्तार से प्रकाश डाला है। बाद के अध्यायों में हिन्दी-सूफ़ी काव्य के विश्लेषण द्वारा कई परिणाम निकाले गए हैं।

सूफ़ीमत का अध्ययन अपने-आपमें उलझा हुआ है, अतएव मतभेद की गुञ्जायश उसमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। सूफ़ीमत के अध्ययन करने वालों को पद-पद पर इन मतभेदों का परिचय मिलता है, इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में प्रकट किये गए विचारों तथा अन्य तथ्यों और परिणामों से हर समय सहमत नहीं होना कुछ अस्वाभाविक नहीं होगा।

'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'सोफिया' से बहुतों ने की है और इसी व्युत्पत्ति को लेखक ने स्वीकार किया है **"क्योंकि सूफी लोग अनुभवसिद्ध ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं। सोफ़िया, सूफी और स्वभास (संस्कृत) शब्दों में बड़ा सामञ्जस्य भी है।"**[1] वास्तव में 'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने भी मत हैं उनमें दो बातों का ध्यान रखा गया है—एक तो यह कि उस शब्द से सूफ़ियों के व्यक्तित्व, उनके आचार-विचार, उनकी मान्यता और विश्वास का आभास मिले और दूसरे भाषा की दृष्टि से 'सूफ़ी' शब्द से उसका

१. पृ० १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्य हो। इसीलिए 'अहल अल-सुफ़्फा', 'सफ्फा अव्वल्व', 'सोफिस्ता', 'सूफ़', 'सोफिया' आदि शब्दों से इसकी व्युत्पत्ति करने की कोशिश की गई है। लेकिन भाषाशास्त्री भाषा की दृष्टि से 'सूफ़' से ही 'सूफ़ी' शब्द का बनना मानते हैं। उनका कहना है कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से 'सूफ्फा', 'सफ्फा', 'सोफिस्ता' अथवा 'सोफिया' शब्द से 'सूफ़ी' शब्द नहीं बन सकता। अतएव उनकी दृष्टि में 'सूफ़' शब्द से ही इसका बनना मानना उचित है। अधिकांश लोग इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं।

'सूफ़' शब्द का अर्थ 'ऊन' है। उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए अन्य और तर्क उपस्थित किये जाते हैं। नोएल्दके (सन् १८९४ ई०) ने दिखलाया है कि इस्लाम के आविर्भाव के बाद की प्रथम दो शताब्दियों में मोटे ऊनी वस्त्रों का प्रचलन साधारण जनता में भी था, लेकिन विशेष रूप से इसका व्यवहार फकीरों-सा जीवन बिताने वाले लोगों में ही था। ऊनी चोगे का व्यवहार उस समय के साधक करते थे और एकान्त जीवन बिताया करते थे। बहुत लोगों का कहना है कि ईसाई सन्तों से सूफ़ी साधकों में इस प्रकार के चोगे का व्यवहार आया। इसका प्रमाण मिलता है कि सन् ७१९ ई० में उजले ऊन के चोगे का व्यवहार विदेशी माना गया है और हसन अल-बसरी के एक शिष्य फ़रकद सबखी को इसके लिए बुरा-भला कहा गया है।

इसी प्रकार से सूफ़ियों के 'फ़ना' के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। 'फ़ना' के सिद्धान्त को बहुतों ने बौद्धों के 'निर्वाण' के सिद्धान्त जैसा माना है और बहुतों को ऐसा मानने में संकोच है। निकोल्सन दोनों में समानता नहीं स्वीकार करते। निकोल्सन का कहना है कि सूफ़ियों की भावाविष्टावस्था का उल्लास, जबकि वह परमात्मा के सौन्दर्य के ध्यान में लगा हुआ रहता है, अर्हत की नीरस बौद्धिक स्थिरता के प्रतिकूल है। 'सूफ़ीमत और हिन्दी-साहित्य' के लेखक की दृष्टि में "**बौद्धों का निर्वाण यद्यपि फ़ना के अनुरूप-सा ही है, तथापि हम फ़ना को निर्वाण से एकरूपता नहीं दे सकते। निर्वाण केवल निषेधात्मक ही है, अर्थात् निजत्व की समाप्ति पर वासनाहीन समरूपता में निर्वाण है, जबकि दैवी सौन्दर्य के सहजानन्दी ध्यान में निजत्व का पूर्ण अवसान ही फ़ना है।**"[1] इस प्रकार से लेखक ने 'निर्वाण' को 'निषेधात्मक' माना है, जिसमें 'निजत्व' नहीं रह जाता, केवल 'वासनाहीन समरूपता' रह जाती है। यही निकोल्सन की 'नीरस बौद्धिक स्थिरता' है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि बौद्धों के 'निर्वाण' का रूप कालक्रम से परिवर्तित होता रहा है, वह केवल 'नीरस' या 'निषेधात्मक' ही नहीं रहा है। उसके क्रमिक विकास के इतिहास पर अगर दृष्टि डालें तो हम पाएँगे कि बौद्ध धर्म की ऐसी भी बहुत सी शाखाएँ थीं जिनकी भक्ति इस निष्प्राण और नीरस निर्वाण के प्रति नहीं थी। बहुतों ने बुद्ध को शाश्वत और अलौकिक माना तथा इस विचारधारा ने ईसा की पहली शताब्दी में इतना ज़ोर पकड़ा कि उपनिषदों से प्रवाहित होकर इसमें बुद्ध को पूर्ण ब्रह्म माना जाने लगा। समन्तभद्र तथा वैरोचन के रूप में बुद्ध की पूजा होने लगी। इसके अलावा यह भी देखने को मिलता है कि बहुत सी शाखाओं ने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि तर्क द्वारा परम सत्ता को समझा जा सकता है। उन्होंने नानात्व को प्रपञ्च कहा और रहस्य-वादियों के सहज ज्ञान से उसे गम्य माना। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में भी निर्वाण केवलमात्र नीरस और निषेधात्मक ही नहीं रह गया, बल्कि वह रहस्यवादी प्रवृत्ति

१. पृ० २६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भी प्रभावित हुआ और सबसे मजेदार बात यह है कि ये विश्वास महायानियों के हैं और महायान शाखा का पूरा प्रभाव फ़ारस के पूर्वी अञ्चलों पर था। अतएव अगर यह कहा जाय कि सूफ़ियों के 'फ़ना' और 'बक़ा' के सिद्धान्त बौद्धों की उस शाखा से प्रभावित हैं जिसने रहस्य-पर ज़ोर दिया, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

लेखक के इस मत से भी सहमत होना कठिन है कि **"वास्तव में ईश्वर का सिंहासनारूढ़ होना और निर्णय के दिन अन्तिम रसूल के नेतृत्व में सबको प्रतिफल मिलना सूफ़ियों को मान्य नहीं।"**[1] जामी, मौलना रूमी, अत्तार आदि सूफ़ी साधक और कवियों के ग्रन्थों में सर्वत्र 'अर्श' और निर्णय के दिन की चर्चा है। वैसे सूफ़ी 'अन्तिम रसूल के नेतृत्व' को आवश्यक नहीं मानते। अतार के 'मन्तिकुत्तैर' में 'सिमुर्ग़' की कल्पना सिंहासनारूढ़ ईश्वर की है जिसे प्राप्त करने के लिए तीस पत्ती (साधक) पहुँचते हैं। इस प्रकार से और बहुत सी इसी प्रकार की अन्य बातों में मतभेद की पूरी गुञ्जायश है।

लेखक ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के छायावाद एवं रहस्यवाद को सूफ़ी मत से प्रभावित होना बतलाया है। **"आज छायावादी एवं रहस्यवादी कवि सर्वत्र उसी व्यापक ब्रह्म की छटा को छिटकी हुई देखता है। सूफ़ी भी यही कहते हैं कि सबमें उसीका जलवा है।"**[2] भारतीय विचारधारा एवं साहित्य से परिचित कोई भी इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होगा कि रहस्यवादी प्रवृत्ति का जन्मदाता भारतवर्ष ही है। इसे प्रायः विदेशी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ अधिक कुछ कहना अभिप्रेत नहीं। जहाँ तक छायावादी और रहस्यवादी कवियों के सूफ़ीमत से प्रभावित होने का प्रश्न है, सूफ़ीमत के सीधे पड़ने वाले प्रभाव को ढूँढ़ना कठिन है। आधुनिक हिन्दी-काव्य नाना विचारधाराओं से प्रभावित है। उनमें सूफ़ीमत भी हो सकता है। लेकिन लेखक ने महादेवी वर्मा की बहुत सी पंक्तियों को उद्धृत कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वे सूफ़ी साहित्य से प्रभावित हैं। एक जगह लेखक ने कहा है, **"....महादेवीजी उस असीम को किसी एक स्थान पर सीमित हुआ नहीं पातीं और न संसार को मिथ्या ही मानती हैं, वरन् सूफ़ियों की भाँति उसे विश्व में प्रकाशरूप प्रदर्शित हुआ ही मानती हैं। उन्हें इस विश्वात्मा का निश्चय तो है, परन्तु वह क्या है, कौन है, इसका पता नहीं...।"**[3] यहाँ पर लेखक ने एक प्रकार से उपनिषदों से प्रभावित विचारधारा को एकदम भुला दिया है। दूसरी बात यह है कि सूफ़ी भी संसार को मिथ्या मानते हैं। तीसरे, सूफ़ी साधक के मन में यह कभी नहीं रहता कि 'वह क्या है', कौन है।' ऐसा सोचना वह गुनाह मानता है या अपनी साधना की असफलता मानता है और फिर दृढ़ विश्वास के साथ अपनी साधना में रत होता है। 'सूफ़ी मार्ग' की एक-दो मंजिलों तक वह निश्चय-अनिश्चय के बीच भटकता है, लेकिन अपने इस 'अनिश्चय' के लिए उसे पश्चाताप होता है। वह मुर्शीद की शरण लेता है, परमात्मा से प्रार्थना करता है कि जिसमें ऐसा न हो। महादेवी की उन पँक्तियों में सूफ़ी-साधक की दृष्टि नहीं है। अतएव लेखक के इस कथन को

---

१. पृ० ५१।
२. " २३२।
३. " २३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि "इस छायावाद और रहस्यवाद में स्पष्ट ही हम सूफ़ी भावना को देखते हैं"[1] स्वीकार कर लेना कठिन है।

न केवल आधुनिक हिन्दी-काव्य में ही ऐसा कोई प्रभाव परिलक्षित होता है बल्कि मध्ययुगीन भक्ति-काव्य में भी सूफ़ीमत के प्रभाव को स्वीकार करने में संकोच हो सकता है। अगर मधुर रस की भक्ति को सूफ़ियों से प्रभावित होना मान लें तो दक्षिण के आलवारों में इस प्रकार की भक्ति कहाँ से आई? जयदेव के 'गीतगोविन्द' में यह मधुर रस की सरस भक्ति कहाँ से आई? चैतन्य महाप्रभु ने इस प्रकार की भक्ति (मधुर रस की भक्ति) को कहाँ से पाया? तत्कालीन बंगला, आसामी, उड़िया, मराठी और गुजराती साहित्य में यह भक्ति कहाँ से आई? सूफ़ीमत के प्रभाव से ऐसा मानना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। ऐसी हालत में मीरा आदि की 'मधुर रस की भक्ति' का कारण अन्यत्र ढूँढ़ना समीचीन होगा।

इन मतभेदों के बावजूद भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि लेखक ने सूफ़ीमत की छान-बीन की है और साहसपूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन किया है। लेखक ने इस दिशा में काम करने वाले साहित्य के विद्यार्थियों को काफ़ी सोचने-विचारने के लिए सामग्री जुटा दी है।

अन्त में कुछ ऐसे वाक्यों के प्रयोग का निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है जो सुचिन्तित नहीं हैं, वैसे इस प्रकार के ग्रन्थों से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि उनमें प्रकट किये गए विचार सुचिन्तित और स्पष्ट हों। नमूने के तौर पर निम्नलिखित वाक्यों की परीक्षा की जा सकती है—

"यद्यपि शंकराचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन किया था, तथापि शिव की महत्ता को योगियों ने अंगीकृत किया।"[2]

"शिव का शिवत्व तो व्यस्त-सा दीख पड़ता है।"[3]

"वास्तव में यहाँ कुरान का अल्लाह ही ईश्वर बन गया है, जिसकी प्राप्ति में पौराणिक देवताओं का भी हाथ है।"[4]

"इस्लामी भावना से अद्वैत अब अपना रूप निखार रहा था, परन्तु इसमें प्रेम की मादक लहर ने अभिन्नता होते हुए भी ईश्वर को प्रियतम का रूप दे दिया था और साधना को मधुर बना दिया था[5]।"[6]

---

१. पृ० २२६।
२. " ८६।
३. " ८६।
४. " ६०।
५. " ३६८।
६. लेखक, डॉ० विमल कुमार जैन; प्रकाशक, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दत्तात्रेय पाण्डेय

भागवत सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास में वैष्णव दर्शन का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी में इस दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले एक-दो ग्रन्थ इधर अवश्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इन पुस्तकों में इस दर्शन का साङ्गोपाङ्ग विवेचन नहीं पाया जाता। प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ पं० बलदेव उपाध्याय की कृति है, जिनसे हिन्दी के दार्शनिक पाठक सम्भवतः अपरिचित नहीं हैं। दर्शन के क्षेत्र में उपाध्यायजी के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। 'भारतीय दर्शन' के ऊपर आपको सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है। इसी प्रकार 'बौद्धदर्शन' भी हरजीमल डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत है।

'भागवत सम्प्रदाय' नामक प्रस्तुत पुस्तक में उपाध्यायजी ने वैष्णव धर्म के उद्‌गम और विकास की गाथा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का विवेचन करके बृहत्तर भारत में इस धर्म के व्यापक प्रभाव का वर्णन किया गया है। वैष्णव साधना की मीमांसा प्रस्तुत करके विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक की महत्ता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। इस ग्रन्थ की विषयसूची से ही इसकी व्यापकता का पता चल सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में बारह अध्याय हैं, जिसमें पहला अध्याय 'वैष्णव धर्म की महत्ता' के सम्बन्ध में है। इसमें वैष्णव धर्म के उन तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया गया है, जिनके कारण इसको इतनी महानता प्राप्त हुई है। विद्वान् लेखक ने बृहत्तर भारत—जावा, चम्पा, श्याम, कम्बोज और बालिद्वीप—में वैष्णव धर्म की विजय-गाथा का बड़ा सुन्दर तथा प्रामाणिक वर्णन उपस्थित किया है। इस धर्म का प्रभाव भारतीय भाषाओं के साहित्य—विशेषकर तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी और हिन्दी—पर कितना अधिक पड़ा है इसका विवेचन गम्भीरता के साथ किया गया है।

दूसरे अध्याय में वेदों में विष्णु का क्या स्वरूप है, इसका वर्णन है। इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि भक्ति का उद्‌गम किस प्रकार हुआ, संहिता काल में भक्ति का क्या स्वरूप था और ब्राह्मण युग में किस प्रकार विष्णु के विभिन्न अवतारों की अवतारणा की गई।

तीसरे अध्याय में वैष्णव धर्म की प्राचीनता का ऐतिहासिक क्रम से वर्णन प्रस्तुत किया गया है। कुछ विद्वान् इस धर्म को बहुत प्राचीन नहीं मानते, परन्तु वर्तमान लेखक ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह धर्म बहुत प्राचीन है। बेसनगर के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि २०० ईसा पूर्व में ही इस धर्म का इतना व्यापक प्रभाव था कि हेलियोडोरस नामक विदेशी यवनदूत ने इस धर्म को स्वीकार कर 'भागवत' की उपाधि धारण की थी और अपनी उत्कट विष्णु-भक्ति के फलस्वरूप वहाँ गरुण-स्तम्भ का निर्माण किया था। इसी अध्याय में पाँचरात्र साहित्य की बड़ी गम्भीर मीमांसा की गई है।

चौथा अध्याय 'पुराणों में विष्णु' है। विभिन्न पुराणों—जैसे ब्रह्मवैवर्त्त, विष्णु पुराण तथा पद्म पुराण—में विष्णु किस रूप में पूजित हैं, इसका वर्णन है। भागवत पुराण का वैष्णवों में बड़ा समादर है। यह उनका उपजीव्य-ग्रन्थ है। भागवत का साध्यतत्त्व और साधनतत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दोनों का विशद विवेचन इसका मुख्य विषय है।

पाँचवाँ अध्याय दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखता है। दक्षिण के सम्प्रदायों के विषय में उत्तरी भारत के लोगों की जानकारी प्रायः बहुत कम है। विद्वान् लेखक ने आलवारों तथा विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्त और साधना-पद्धति का रोचक विवरण दिया है।

रामावत सम्प्रदाय का वर्णन छठे अध्याय का विषय है। पहले उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन का वर्णन करके तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् स्वामी राघवानन्द और स्वामी रामानन्द के सिद्धान्त तथा साधना को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने रामानन्द की शिष्य-परम्परा का विवेचन करते हुए हिन्दी-साहित्य में इसके प्रभाव के ऊपर प्रचुर प्रकाश डाला है।

सातवें, आठवें और नवें अध्यायों में क्रमशः निम्बार्क सम्प्रदाय, श्री वल्लभ सम्प्रदाय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों का वर्णन है। प्रत्येक सम्प्रदाय के विवेचन में उसकी ऐतिहासिक समीक्षा, सिद्धान्त-निरूपण और साधना-पद्धति के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के कवियों के कृतित्व तथा व्यक्तित्व का उल्लेख हुआ है और यह दिखलाने का लेखक ने प्रयास किया है कि इस मत का प्रभाव हिन्दी-साहित्य के ऊपर कितना गहरा पड़ा है।

पूर्वी भारत में भक्ति-आन्दोलन (दसवाँ अध्याय) का वर्णन करते हुए बंगाल, उड़ीसा और आसाम में प्रचलित तत्कालीन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का रोचक वर्णन दिया गया है। मध्ययुग में केवल महाप्रभु चैतन्य देव ने ही उत्तरी भारत में भक्तिरस की सरिता नहीं बहाई, बल्कि आसाम के शंकरदेव और माधवदेव ने भी अपनी पियूषवर्षी वाणी से जनता को आप्लावित किया था। उड़ीसा में उत्पन्न 'पंचसखा धर्म' से सम्भवतः बहुत कम लोगों का परिचय है, जो इस अध्याय में उपलब्ध है।

महाराष्ट्र का वैष्णव पन्थ (ग्यारहवाँ अध्याय) नामक परिच्छेद में इस प्रदेश में पल्लवित चार विशिष्ट सम्प्रदायों का प्रामाणिक विवेचन पाठकों के सामने प्रस्तुत है। ये सम्प्रदाय हैं—महानुभाव पन्थ, बारकरी पन्थ, रामदासी पन्थ और हरिदासी पन्थ। इनमें बारकरी पन्थ बड़ा प्रसिद्ध है, जिसके उदय और अभ्युदय में ज्ञानदेव, नामदेव और तुकाराम का हाथ रहा है।

बारहवाँ तथा अन्तिम अध्याय वैष्णव साधना से सम्बन्ध रखता है। वैष्णव धर्म की विशिष्टता, इसके विभिन्न मतों में साम्य और वैषम्य, पंचधा भक्ति, रस-साधना और उपासना तत्त्व इस अध्याय के विवेच्य विषय हैं। इस परिच्छेद को प्रस्तुत ग्रन्थ का सारभूत अंश समझना चाहिए, जिसमें वैष्णवों की रहस्यमय साधना-पद्धति का एक पहुँचे हुए साधक द्वारा अनुभूति-मय विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ को यदि वैष्णव धर्म का विश्वकोश कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। विवेच्य पुस्तक लेखक की चिरन्तन साधना और अध्ययन का फल है, जिसमें वैष्णव धर्म के उद्गम तथा विकास की गाथा सीधे-सादे शब्दों में कही गई है। गत पृष्ठ में पुस्तक के विभिन्न अध्यायों का जो वर्णन दिया गया है उसीसे इसके विषय की व्यापकता का पता चल सकता है।

यदि इस पुस्तक में वैष्णवधर्म के ऐतिहासिक विकास का इतिहास किसी एक ही स्थान में उपलब्ध होता तो पाठकों का बड़ा उपकार होता। परन्तु यह सामग्री अनेक अध्यायों में बिखरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ी है। इसी प्रकार पुस्तक के अध्यायों की व्यवस्था (Arrangement) में भी सुधार की गुञ्जाइश है। कहीं-कहीं निर्दिष्ट ग्रन्थों का नाम ठीक नहीं है, जैसे पृ० ६६३ पर भण्डारकर की पुस्तक का नाम और पृ० ६६५ पर डॉ० एस० दास गुप्त के ग्रन्थ का शीर्षक अशुद्ध है। आशा है अगले संस्करण में इसका निवारण हो जायगा। भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक नितान्त पठनीय है। ऐसा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत करने के लिए पाठक धन्यवाद का पात्र है।[1]

डॉ० राजबली पाण्डेय

भारतीय संस्कृति

लेखक की योजना सम्पूर्ण ग्रन्थ को आठ खण्डों में पूरा करने की है। उसीका प्रथम खण्ड 'वैदिक धारा' है। इस ग्रन्थ में विशद प्रस्तावना के साथ दो खण्ड और ग्यारह परिच्छेद हैं। प्रस्तावना में लेखक ने भारतीय संस्कृति के वर्तमान विवेचकों और इतिहासकारों को तीन वर्गों में बाँटा है—(१) संकीर्ण साम्प्रदायिक, (२) पूर्वाग्रही तथा राजनीतिदुष्ट दृष्टि वाला पाश्चात्य लेखक-समूह तथा (३) लोक-जीवन से उदासीन, शास्त्रीय, किन्तु एकदेशीय दृष्टि रखने वाला शुद्ध पण्डितवर्ग। उन्होंने इनसे भिन्न एक चौथे वर्ग की प्रस्तावना की है, जिसको वे वैज्ञानिक कहते हैं। यही उनकी अपनी विचार-पद्धति है और उनका लक्ष्य है, **"एक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति के आधार पर हमारे भारतीय राष्ट्र को दृढ़ता और पुष्टि प्राप्त कराना।"**

वास्तव में किसी ग्रन्थ के प्रणयन में दो बातें अत्यन्त महत्त्व की हैं—एक तो चिन्तन-पद्धति और दूसरी ग्रन्थ-प्रणयन का लक्ष्य अथवा उद्देश्य। शुद्ध बुद्धि, अनुभव और विवेक के ऊपर आधारित चिन्तन-पद्धति ही स्वस्थ हो सकती है। विवेक की आवश्यकता ग्रन्थ के उपादानों के चयन तथा निर्वाचन और उसके अंग-विशेष के बलाबल के निर्धारण में होती है। पूर्वाग्रह और रागद्वेष से रहित चिन्तन-पद्धति ही शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति है। इसी प्रकार किसी ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य केवल तथ्यों का संग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण तथा उनके द्वारा सूचना अथवा उत्तेजना प्रदान करना हो सकता है। इसके विपरीत दूसरा उद्देश्य तथ्यों को प्रवहमान और विकसनशील सन्दर्भ में रखकर मनुष्य के समवेत जीवन का संस्कार और उत्थान करना हो सकता है। स्वस्थ साहित्य के निर्माण तथा सोद्देश्य जीवन के विकास के लिए दूसरे प्रकार का लक्ष्य ही वांछनीय है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विद्वान् लेखक ने दूसरे प्रकार का लक्ष्य अपने सामने रखा है।

भूमिका खण्ड के प्रथम परिच्छेद में भारतीय संस्कृति के आधारों का विवेचन करते हुए उसकी समन्वयमूलक दृष्टि पर बल दिया गया है और इसके प्रमाण में वर्तमान पौराणिक निगमागम धर्म का उल्लेख किया गया है।[2] यह नितान्त समीचीन है, परन्तु जिन

१. **ले०, पं० बलदेव उपाध्याय; प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।**
२. पृ० ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतिहासिक तथ्यों पर भारतीय समन्वय आंका गया है वे मान्य नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, 'निगम' का मौलिक अभिप्राय लेखक ने वैदिक परम्परा से लिया है और 'आगम' का अर्थ प्राग्वैदिक वैदिकेतर सांस्कृतिक परम्परा से। वेदों से पूर्व कोई आगमिक परम्परा थी, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया है, सम्भवतः इसके लिए कोई प्रमाण है भी नहीं। भारतीय साहित्य में 'निगम' का अर्थ 'अनुभव पर आधारित अपरोक्ष ज्ञान' और 'आगम' का अर्थ 'तर्क पर आधारित बुद्धिगम्य ज्ञान' किया गया है। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध किसी काल-विशेष या जाति-विशेष से नहीं है। इतिहास में यह सम्भव नहीं कि कोई जाति शुद्ध निगमवादी और कोई शुद्ध आगमवादी हो। हाँ एक ही जाति की दो चिन्तन-पद्धतियाँ या दो सम्प्रदाय हो सकते हैं, जिनमें मतभेद और समन्वय दोनों सम्भव हैं। इसी प्रकार असुरों को देवों (आर्यों) से बिलकुल भिन्न समझना भारतीय इतिहास के साथ अन्याय करना है, जबकि वैदिक ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि असुर और देव दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे, यद्यपि आपस में उनका संघर्ष भी था। यही बात रुद्र-शिव की कल्पना के बारे में भी कही जा सकती है। रुद्रपूर्व शिव की कल्पना एक कल्पनामात्र है, इसका कोई साहित्यिक अथवा ठोस प्रमाण नहीं। किसी देवता के स्वरूप-निरूपण और पूजा-पद्धति में परिवर्तन केवल विभिन्न जातियों के सम्पर्क से ही होता है, आन्तरिक, स्वगत अथवा सजातीय भेद और विकास से नहीं, यह एक पूर्वाग्रह-मात्र है। 'ऋषि' और 'मुनि' को मूलतः दो विरोधी जातियों और संस्कृतियों का प्रतिनिधि मानना भी अनैतिहासिक तथा तर्कशून्य है। वास्तव में ये साधना के मार्ग थे, जातीय प्रभेद नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि आर्यों ने दूसरी जातियों से कुछ सीखा ही नहीं और आर्य संस्कृति ने दूसरी संस्कृतियों से समन्वय नहीं किया। किन्तु यह प्रक्रिया आर्यावर्त में आर्यपूर्व नहीं, बल्कि परवर्ती-काल में आर्यों के प्रसार, सम्पर्क, संघर्ष और समझौते के कारण आर्येतर-जातीय भूमियों में और वहाँ से प्रत्यावर्तन और सम्पर्क के कारण आर्यावर्त में भी घटित हुई।

इसी खण्ड के दूसरे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण के तत्त्वों में उसकी प्रगतिशीलता, असाम्प्रदायिकता, अपने सम्पूर्ण इतिहास में ममत्वभावना और अखिल भारतीय भावना का बहुत ही विशद विवेचन किया गया है। वास्तव में भारतीय संस्कृति की जीवन-शक्ति के ये ही स्रोत हैं। तीसरे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति का निरूपण किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि यत्र-तत्र साम्प्रदायिक आग्रह और संकीर्णता होते हुए भी भारतीय चिन्तन की मुख्य दिशा वैज्ञानिक और उदार रही है। चौथे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति की विचारधारा का लक्ष्य प्रस्तुत किया गया है। साम्प्रदायिक और संकीर्ण भावना को छोड़कर किस प्रकार एक समन्वित और सन्तुलित जीवन तथा संस्कृति का विकास इस देश में हो सकता है, इस पर लेखक के सुन्दर और महत्त्वपूर्ण सुझाव हैं; यथा विभिन्न सम्प्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन, विभिन्न सम्प्रदायों के महापुरुषों का आदर, साम्प्रदायिक पारिभाषिकता का त्याग आदि। इन परिच्छेदों में लेखक के लम्बे अध्ययन और अनुभव का सारांश परिस्फुटित है।

दूसरे खण्ड में भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा का वर्णन और विवेचन है। इसके पंचम परिच्छेद में वैदिक साहित्य की रूपरेखा दी गई है। छठे में वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका है। यह परिच्छेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैदिक देवतावाद, देवताओं का स्वरूप,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता का स्वरूप, वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य तथा वैदिक दार्शनिक दृष्टि का महत्त्व आदि विषयों का स्पष्टीकरण है। इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार आशावादी तथा आनन्दपरक वैदिक दर्शन परवर्ती दुःखवाद और मोक्षाकांक्षी दर्शन से भिन्न है। वैदिक धारा में ऐतिहासिक कारणों से कैसे परिवर्तन हुए, इसका विवेचन सातवें परिच्छेद में है। इसमें वैदिक जीवन के उल्लासमय प्रादुर्भाव, संघटन और विजगडन (जकड़न) के क्रम का सप्रमाण उल्लेख है। आठवें परिच्छेद में वैदिक उदात्त भावनाओं का निर्देशन है। यहाँ पर लेखक ने वैदिक अध्ययन की पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि के भेद को स्पष्ट किया है। पाश्चात्य ढंग का वैज्ञानिक अध्ययन कोरा यान्त्रिक और हृदयहीन है। भारतीय के लिए वेद का महत्त्व उसके जीवन और दर्शन को समझने के लिए है, केवल उत्सुकता की शान्ति के लिए नहीं। वेदों ने ऋत, सत्य, धर्म, शौच, आशा, आनन्द, भद्रता, आत्मविश्वास आदि महान् तत्त्वों का उद्घाटन और विकास किया। अगले परिच्छेदों में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि, वैदिक धारा की देन तथा वैदिक धारा के ह्रास का पाण्डित्यपूर्ण पर्यवेक्षण है। परिशिष्टों में (१) वैदिक धारा का अमृत स्रोत, (२) वैदिक सूक्ति मञ्जरी, (३) ब्राह्मणीय सूक्ति मञ्जरी, (४) व्रत से आत्मशुद्धि तथा (५) ब्रह्मचर्य आदि विषयों का संकलन है।

जीवन अथवा संस्कृति के विकास में दो तत्त्व काम करते हैं—(१) स्थिति और (२) प्रगति। स्थिति के अन्तर्गत व्यवस्था, स्थिरता तथा संरक्षण सम्मिलित हैं, प्रगति में नई परिस्थितियों और प्रभावों के सम्पर्क में व्यावहारिकता का समावेश है। जब तक दोनों समानान्तर चलते हैं तब तक विकास सुचारु रूप से होता है। यदि स्थिति रूढ़ हो गई और प्रगति इससे असम्बद्ध, तो संस्कृति या तो जड़ अथवा विश्रृङ्खलित हो जाती है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह प्रक्रिया कैसे चलती रही है, इसका पर्यवेक्षण सफलता के साथ इस ग्रन्थ में हुआ है।

अध्ययन की दृष्टि और उद्देश्य तथा साहित्य, धर्म एवं दर्शन के विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ विचारोत्तेजक तथा उच्च स्तर का है और पाठकों को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। इसके लिए लेखक साधुवाद के पात्र हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में कतिपय अभाव खटकते हैं। संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं और राजनीतिक विचारों का भी क्रमबद्ध तथा समुचित समावेश होना चाहिए, साथ ही साहित्यिक और कलात्मक मूल्यों का भी पर्याप्त विवेचन। शैली और विषय-ग्रथन की दृष्टि से पुनरावृत्तियाँ बहुत अधिक हैं और तथ्यों का संग्रह अपेक्षाकृत कम। परन्तु यह होते हुए भी प्रस्तुत रचना महत्त्वपूर्ण है और आशा है कि पाठकों तथा चिन्तकों द्वारा इसका समुचित आदर होगा।[1]

---

१. ले०, डॉ० मंगलदेव शास्त्री; प्र०, समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजबली पाण्डेय

भगवान् बुद्ध

हिन्दी-भाषा में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्धचर्या' के पश्चात् यह दूसरी पुस्तक है, जो मूल स्रोतों के आधार पर प्रामाणिक रूप से आई हो। यह पुस्तक मूलतः मराठी में लिखी गई थी, उसीका श्री श्रीपाद जोशी द्वारा हिन्दी में यह सफल अनुवाद है। प्रारम्भ में श्री काका साहेब कालेलकर द्वारा लिखित 'भक्त पण्डित धर्मानन्द कोसम्बी' का संक्षिप्त जीवन-वृत्त भी है। इस ग्रन्थ का प्रणयन ऐसे विद्वान् की लेखनी से हुआ है जिन्होंने न केवल आजीवन बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया, अपितु बौद्ध धर्म और दर्शन को अपने जीवन में उतारने का भी प्रयास किया।

सम्पूर्ण ग्रन्थ भूमिका के अतिरिक्त बारह अध्यायों और चार परिशिष्टों में विभाजित है। भूमिका और प्रथम तीन अध्याय प्रायः प्रास्ताविक हैं। भूमिका में प्रारम्भिक पालि साहित्य का परिचय और भगवान् बुद्ध के इतिवृत्त के स्रोतों का विवरण है। प्रथम अध्याय आर्यों की जय है। इसमें लेखक ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ब्राह्मण पुरोहितों की अध्यक्षता में दास संस्कृति थी, जिसका आर्यों ने इन्द्र की अध्यक्षता में विध्वंस किया। 'दास' का अर्थ उन्होंने 'दाता'[1] स्वीकार किया है। उनके विचार में दास संस्कृति के मुख्य अंग अहिंसा और योग थे, जो पराजय के बाद भी बचे रहे और जो अपनी ऋषि-मुनि परम्परा द्वारा जैन, बौद्ध आदि यतिमार्गी धर्मों के उदय के कारण बने। दूसरे अध्याय में 'समकालीन राजनीतिक परिस्थिति' का वर्णन है। इसमें सोलह महाजनपदों, आठ प्रसिद्ध राजकुलों, शाक्य-कुल के स्वतन्त्र अस्तित्व की अपेक्षाकृत अवगणना तथा गणराज्यों के विनाश के कारणों का वर्णन तथा विवेचन है और गणराज्यों के बीच बौद्ध धर्म का कैसे विकास हुआ, इसका संकेत है। समकालीन धार्मिक परिस्थिति का विश्लेषण तीसरे अध्याय में किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि इस प्रकार का विचार भ्रामक है कि वेदों से उपनिषद् और उपनिषद् से सुधारणा के साथ बौद्ध धर्म का उदय हुआ, वास्तव में बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पहले कई ऋषि-मुनि और श्रमणों के वेदेतर संघ स्थापित थे, जिनमें बौद्ध धर्म के कतिपय सिद्धान्तों और परम्पराओं के मूल विद्यमान थे, इन्हीं से बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई। चौथे अध्याय में गौतम बोधिसत्व के जन्म, बाल्यावस्था, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, वैराग्य और गृहत्याग का उल्लेख है। पाँचवें अध्याय में श्रमण, तपश्चर्या और तत्त्वबोधि (सम्बोधि)-प्राप्ति की कथा दी हुई है। छठे में श्रावक संघ अथवा बौद्ध संघ की स्थापना के उद्देश्य, विकास, कार्यक्रम और विनय का निरूपण किया गया है। सातवें अध्याय में बुद्ध के समकालीन आत्मवाद, अक्रियवाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद, विक्षेपवाद, चातुर्याम संवरवाद आदि अनेक वादों से बौद्ध धर्म का भेद और वैशिष्ट्य बतलाया गया है। आठवें अध्याय में बौद्ध धर्म के ऊपर नास्तिकता के आरोप, उसके क्रान्तिकारी दर्शन, अनासक्ति-योग तथा ब्राह्मणों के कर्मयोग से उसके अन्तर का स्पष्टीकरण हुआ है। नवें अध्याय में पौराणिक बुद्ध, यज्ञों की निःसारता, यज्ञों का नया अर्थ, यज्ञों के रूपक आदि की नई

---

१. पृ० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या की गई है। पूरा दसवाँ अध्याय जाति-भेद के उद्गम, बौद्ध धर्म में जाति-भेद के निषेध, उसकी सीमा आदि का वर्णन करता है। ग्यारहवाँ अध्याय मांसाहार के ऊपर है। इसमें यह स्वीकार किया गया है कि बौद्ध और कभी-कभी जैन भिक्षु भी मांसाहार करते थे, फिर भी उन्होंने गोमांसाहार के विरुद्ध आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया; तुलना में ब्राह्मण अधिक मांसाहारी थे, जिनका गोमांस खाना पीछे छूटा। बारहवें अध्याय में बुद्ध की दिनचर्या और निर्वाण का वर्णन है। परिशिष्टों में 'महापदानसुत्त' के खण्ड, वज्जियों की अभ्युन्नति के सात नियम, अशोक का भाब्रू-शिलालेख और उसमें निर्दिष्ट सूत्र तथा संदर्भ-विवरण का समावेश है।

इस ग्रन्थ में जिन विषयों की चर्चा की गई है उनके आधार के लिए यथासम्भव ऐतिहासिक तथ्यों का प्रमाण दिया गया है और उनके परीक्षण तथा विश्लेषण के पश्चात् उनको स्वीकार किया गया है। परन्तु यह बात जितनी बौद्ध साहित्य तथा धर्म के सम्बन्ध में सत्य है उतनी अन्य साहित्य तथा धर्म के सम्बन्ध में नहीं। उदाहरणार्थ 'आर्यों की जय' वाले अध्याय में वैदिक तथा पौराणिक साक्ष्य की परीक्षा किये बिना यह मान लिया गया है कि आर्य बेबिलोनिया या सुमेरिया के आसपास से आये और ब्राह्मण दासों के पुरोहित थे जिनको हराकर यज्ञ-प्रधान धर्म की स्थापना उन्होंने (आर्यों ने) की; फिर ब्राह्मणों ने आर्यों का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया। वेदों के अधिकांश मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मण थे, इस तथ्य की ओर से बिल्कुल आँखें मूँद ली गई हैं। उन्होंने 'दास' का अर्थ 'दाता'[1] कल्पित कर लिया है, जबकि उसका स्वीकृत अर्थ है 'मुझे दो, ऐसा कहने वाला'। साथ में यह भी मान लिया गया है कि आर्य अथवा वैदिक सभ्यता में अहिंसा, योग और परिव्रजन के कोई तत्त्व नहीं हैं, इसलिए जैन और बौद्ध धर्म आर्येतर तत्त्वों से प्रादुर्भूत हुए, जबकि इन धर्मों की सुरक्षित परम्पराओं में इनके प्रवर्तक, प्रवर्तकों के पूर्वज और अनुयाइयों के बहुसंख्यक लोग आर्य अथवा वैदिक परम्परा के थे और अपने धर्म तथा सिद्धान्तों को आर्य धर्म और आर्य सत्य मानते थे। इस प्रकार के निष्कर्षों में पूर्वाग्रह अधिक है और तथ्य बहुत कम। यही बात बौद्ध धर्म के कर्मयोग और गीता के कर्मयोग की तुलना करते समय भी की गई है। गीता के 'यज्ञ' के व्यापक और लाक्षणिक अर्थ छोड़कर बार-बार उसके कर्मकाण्डीय अर्थ पर ही जोर दिया गया है। गीता के समत्व, स्थितप्रज्ञता और निष्काम लोक-संग्रह का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

ग्रन्थ-संघटन की दृष्टि से ऐसा लगता है कि छठे अध्याय के बाद की सामग्री अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से लिखी गई थी, जो पीछे एकत्र कर दी गई है। परन्तु उसमें सेन्द्रिय एकता नहीं आई है। भगवान बुद्ध के उपदेशों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रमिक तथा शास्त्रीय विवेचन सारे ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलता। जाति-भेद और मांसाहार पर अलग-अलग अध्याय देने का महत्त्व समझ में नहीं आता। जाति-भेद और वर्ण-भेद का स्पष्ट अन्तर ग्रन्थ में नहीं है। जाति अथवा वर्ण अच्छे हों या बुरे, किन्तु जैन और बौद्ध धर्म के सामने ये मुख्य समस्याएँ नहीं थीं। भगवान् बुद्ध ने इन संस्थाओं का विरोध नहीं किया, अपितु उनकी दूसरी परिभाषा और लक्षण दिये। अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में वर्ण-विद्वेष नहीं पाया जाता। अशोक ने अपने धर्मलेखों में ब्राह्मण और श्रमण को समान आदर दिया है। पीछे साम्प्रदायिक कारणों से वर्ण की निन्दा प्रारम्भ हुई। परन्तु इसका परिणाम उलटा ही हुआ। अपने वर्ण अथवा जाति के प्रति

१. पृ० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्प्रदायिकता एवं पक्षपात बढ़ गया, परवर्ती बौद्ध धर्म में वर्ण का नाश नहीं हुआ, किन्तु चार वर्णों की गणना में प्रथम ब्राह्मण के बदले क्षत्रिय आ गए और ललित विस्तार में तो यहाँ तक कहा गया कि बुद्ध का जन्म केवल क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण में ही हो सकता है, जबकि वर्ण-भेद मानने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों में ईश्वर का अवतार मत्स्य, कच्छप, वाराह, सिंह (नृसिंह), वामन (अर्द्ध-पुरुष), परशुराम (ब्राह्मण), राम (क्षत्रिय), कृष्ण (क्षत्रिय), बुद्ध (क्षत्रिय) आदि सभी जीवधारियों में हो सकता है। जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकर का जन्म केवल क्षत्रिय कुल में ही हो सकता है। महावीर ब्राह्मणी के गर्भ से निकालकर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में डाले गए। जहाँ तक यतिधर्म और संन्यास का प्रश्न है, जन्म और वर्ण का उनमें कोई महत्त्व भारतीय धर्म में नहीं माना गया था। यदि कुछ था भी तो बहुत गौण। भगवान् बुद्ध ने विशेष परिस्थितियों में मांसाहार की छूट दी थी, आज्ञा नहीं। उसकी वैधता पर बल देकर उनके मूल सिद्धान्त अहिंसा, करुणा, मैत्री आदि की ही अवहेलना करना है।

ग्रन्थ-प्रणयन में लेखक की दृष्टि वैज्ञानिक और तटस्थ न होकर साम्प्रदायिक अधिक है और समाज के विकास में द्वन्द्व प्रारम्भिक ही नहीं, अन्तिम मान लिया गया है। अतः भारतीय अन्य सम्प्रदायों के साथ बौद्ध धर्म की सजातीय समानता पर बल न देकर उनसे भेद और वैशिष्ट्य पर ही अधिक जोर दिया गया है। वास्तव में बौद्ध धर्म भारतीय धर्म था। कर्मकाण्ड और देववाद अथवा वेदवाद के विरोध में भी वह औपनिषदिक और भक्तिवादी परम्परा का ही अनुसरण कर रहा था। भगवान् बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग अथवा समन्वय का मार्ग था, विभज्यवाद अथवा उच्छेदवाद उनको स्वीकार नहीं था, इसका विचार इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है। दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा और विरोध पर सत्य और धर्म का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। इससे निन्दा और विरोध का ही वातावरण उत्पन्न होगा, शान्ति और सुख का नहीं। ग्रन्थ में यदि थोड़ी और वैचारिक उदारता से काम लिया गया होता तो इसका मूल्य बहुत बढ़ जाता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लेखक की दृष्टि पैनी और शैली विचारोत्तेजक है। पाठक को विचारने के लिए इसमें प्रचुर सामग्री है।[1]

पुस्तकालय

१. ले०, धर्मानन्द कोसम्बी; प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई, इलाहाबाद, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

प्रकाशन समाचार

ही एक मात्र ऐसी मासिक पत्रिका है जो पाठकों को आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति से अवगत रखती है। साथ ही इसमें प्रकाशन, लेखन, पुस्तकालय व अन्य सम्बन्धित विषयों पर रोचक लेख रहते हैं। पुस्तक-परिचय, लेखकीय मंच, प्रकाशकीय मंच इत्यादि स्तम्भ लेखक, प्रकाशक व पाठक वर्ग में निकटता स्थापित करके हिन्दी साहित्य-परिवार को सुसम्बद्ध व संगठित करने में सहायक होते हैं। यदि आप अब तक इसके ग्राहक न बने हों तो शीघ्र ही २।।) दो रुपये आठ आना मनी आर्डर से भेजकर अपनी प्रतियाँ सुरक्षित कर लें। पोस्टल आर्डर स्वीकार नहीं किये जाते।

—प्रबन्ध विभाग,
प्रकाशन समाचार,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना

आलोचना का आगामी अंक

नाटक विशेषांक

इस समय प्रेस में है, और इसका प्रकाशन जनवरी, १९५७ में अवश्य हो जायगा।

—प्रबन्ध विभाग,
आलोचना,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक : नन्ददुलारे वाजपेयी

उत्तेम ५६

२८ आलोचना

R
२८
दि. ३७७आ
अं-२८-पु

: साहित्य के स्थायी मूल्यों ... रामविलास शर्मा
...मस्या ... रामरतन भटनागर
...ा का स्वरूप और काव्य-प्रक्रिया ... श्रीनारायण मिश्र
साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल ... रामलालसिंह
इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ ... अनन्त चतुर्वेदी
दस्तोएवस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ ... गंगाधर झा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

राजकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूची

◆सम्पादकीय

—सम्पादकीय वक्तव्य --- १

◆निबन्ध

—कालिदास : साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या :
रामविलास शर्मा --- ६

—प्रतीकवाद :
रामरतन भटनागर --- २७

समस्या और चिन्तन

—कवि-प्रेरणा का स्वरूप और काव्य-प्रक्रिया :
श्रीनारायण मिश्र --- ४४

—साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल :
रामलालसिंह --- ५३

अध्ययन : भारतीय लेखक

—इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ :
अनन्त चतुर्वेदी --- ६३

अध्ययन : विदेशी लेखक

...रोएवस्की की कतिपय आधुनिक ...एँ :
... --- ७८

... --- ९३

—हिन्दी-साहित्य में राम-कथा का अध्ययन :
रामचन्द्र तिवारी ---...

—भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा :
रामलालसिंह ---...

—आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान :
रामरतन भटनागर ---...

—पर आँखें नहीं भरीं :
कमलाकान्त पाठक ---...

—पद्मावत—मूल और संजीवनी व्याख्या :
कमलाकान्त पाठक ---...

—हिन्दी-अलंकार-साहित्य :
डॉ० भगीरथ मिश्र ---...

—लोक-साहित्य का अध्ययन :
डॉ० सत्येन्द्र ---...

—'साहित्य-वार्ता' और 'आलोचना के सिद्धान्त' :
डॉ० शम्भूनाथ सिंह ---...

—हिन्दी-साहित्य पर सूफ़ीमत का प्रभाव :
रामपूजन तिवारी ---...

—भागवत सम्प्रदाय :
दत्तात्रेय पाण्डेय ---...

—भारतीय संस्कृति :
डॉ० राजबली पाण्डेय ---...

—भगवान् बुद्ध :
राजबली पाण्डेय ---...

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी वि॰ हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५-७, ४२६

आलोचना

प्रस्तक ... R
दि ... अं ...

सम्पादकीय

सम्पादकीय वक्तव्य

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी-साहित्य के उच्चतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली जो पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, उनमें 'आलोचना' का विशिष्ट स्थान है। समीक्षा के क्षेत्र में यह हिन्दी की प्रमुख पत्रिका है। यद्यपि इसके सम्पादन में एकाधिक परिवर्तन हुए हैं और इसके छोटे जीवन में कुछ उतार-चढ़ाव भी आये हैं, फिर भी इसका सम्पादकीय स्तर और इसकी लेख-सामग्री एक विशेष भूमि से नीचे नहीं उतरी। इस पत्रिका के कई विशेषांक प्रकाशित हुए हैं, जिनका हिन्दी-साहित्य में स्वागत किया गया है और जिनमें पर्याप्त प्रामाणिकता पाई गई है। 'आलोचना' ने अनेक नये और उदीयमान लेखकों को प्रोत्साहन देकर साहित्य के रंगमंच पर ला खड़ा किया है। सुलझे हुए विचारों की एक परम्परा भी उसने चलाई है। इस अंक से पत्रिका का सम्पादकीय दायित्व मुझ पर आ गया है और मेरे सम्पादन में प्रकाशित होने वाला यह उसका पहला अंक है। खेद है कि इस अंक के प्रकाशन में अपेक्षा से अधिक विलम्ब हो गया है और इसकी सम्पूर्ण सामग्री मेरे मनोनुकूल नहीं हो पाई है; किन्तु हम आशा करते हैं और हमारा यह प्रयत्न होगा कि आगामी अंकों से पत्रिका अधिक नियमित और व्यवस्थित रूप से प्रकाशित होती रहे।

'आलोचना' का क्षेत्र साहित्य की समीक्षा तक सीमित समझा जाता है। इसमें रचनात्मक कृतियों के लिए स्थान नहीं है। इस सीमा के रहते हुए पत्रिका को अधिक-से-अधिक व्यापक और सार्वजनिक बनाने का लक्ष्य हमारे सामने है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम उन समस्त लेखकों को आमन्त्रित करते हैं जो समीक्षा के सीमित क्षेत्र में ही नहीं, विचारों के विस्तृत क्षेत्र में अपनी कृतियों का लाभ हमें दे सकें। साहित्य-समीक्षा अन्ततः विचार-जगत् की वस्तु है। यदि हम उसे किसी संकीर्ण दायरे में डाल देते हैं और केवल आज की साहित्यिक कृतियों की आलोचना-प्रत्यालोचना और आज के विविध मतवादों के ऊहापोह तक सीमित कर देते हैं, तो हम पत्रिका का आंशिक उपयोग ही कर पाते हैं। वैसी स्थिति में एक छोटी सीमा में बँधकर पत्रिका निरन्तर एक छोटे समूह के ही काम की रह जायगी। उसमें केवल ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों की अभिरुचि होगी, जो या तो स्वयं लेखक हैं और अपनी कृतियों की प्रशंसा चाहते हैं, अथवा पाठक हैं जो कुछ भी पढ़ने को तैयार बैठे हैं। किन्तु इस छोटे समुदाय के बाहर हिन्दी में लेखकों और पाठकों का एक विशाल समूह है जो अच्छी साहित्यिक कृति और प्रेरक साहित्यिक विचार के लिए उद्विग्न और लालायित है, फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। हम चाहते हैं कि इस विशाल और निर्लिप्त समाज के लिए 'आलोचना' समुचित विचार-सामग्री दे सके। हम यह भी देखते हैं कि हिन्दी का यह विशाल पाठक-समुदाय पूर्णतः असंगठित है। हिन्दी में अच्छी पुस्तकें और अच्छी पत्रिकाएँ कम क्यों बिकती हैं ? इसलिए कि हिन्दी का यह वृहत् पाठक-समाज केन्द्रविहीन है और उचित दिशा-दर्शन के अभाव में साहित्य के प्रति उदासीन हो गया है। हमारी पत्र-पत्रिकाएँ इन निर्लिप्त पाठकों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझतीं। लेखकों से ही लेखकों का काम चल जाता है। यह बड़ी ही दयनीय स्थिति है। हिन्दी में साहित्यिक स्तर पर लेखकों और पाठकों के एक राष्ट्रव्यापी संगठन की आवश्यकता है। सभी समृद्ध साहित्यों के पीछे ऐसे संगठन हुआ करते हैं। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा अपने सीमित साधनों का उपयोग हिन्दी के लेखकों और पाठकों के ऐसे ही राष्ट्रीय संगठन के लिए करना हमारा लक्ष्य होगा।

आज हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र में अनेक वादों का प्रचलन हो गया है। इन वादों के माध्यम से बहुत ही नपी-तुली विचार-दृष्टि पाठकों के सम्मुख रखी जाती है। मतवादों की अधिकता और उनकी कट्टरता के अनिष्टकारी परिणाम हम साहित्य में अपनी आँखों देख रहे हैं। एक तो इनसे साहित्यिक क्षेत्र में खण्ड-दृष्टियाँ बढ़ रही हैं। छोटे-छोटे गिरोह बनने की आशंका हो रही है। दूसरे, इन मतवादों के कारण स्वतन्त्र रचनाकारों, कवियों और लेखकों के मार्ग में बाधा भी पड़ रही है। उनकी सृजन-सम्बन्धी स्वच्छन्दता, प्रत्यक्ष अनुभव सम्बन्धी स्वाधीनता और उनका सम्पूर्ण विचार-स्वातन्त्र्य संकटग्रस्त हो रहा है। किसी भी मतवाद को किसी समय साहित्य-जगत् में आतिशयिक प्रमुखता नहीं मिल जानी चाहिए। रचना और समीक्षा के बीच उचित संतुलन आवश्यक है, किन्तु इस संतुलन में भी रचना को सदैव प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जब समीक्षा साहित्य-सृष्टि का नियन्त्रण करने लगती है, तब निर्माणकारी प्रतिभा बिना कुण्ठित हुए नहीं रहती। मतवादों की अधिकता से न केवल साहित्य में दल और सम्प्रदाय बढ़ते हैं, बल्कि साहित्य-जगत् में संशय और फूट उत्पन्न होती और फैलती है। लोग यह समझ नहीं पाते कि किसकी बात सही है, किसकी नहीं। यह सारी स्थिति प्रशस्त साहित्यिक चेतना के प्रसार में बाधक है। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा हमारा लक्ष्य होगा कि इन विभिन्न वादों में विभेद की अपेक्षा उनकी पारस्परिक समानता की ओर दृष्टिपात करें, जिससे एक समन्वित साहित्यिक दृष्टि का उन्मेष सम्भव हो। साथ ही हम इनमें से किसी एक या अनेक वादों को साहित्यिक रचना पर हावी होने की स्थिति भी नहीं आने देना चाहेंगे।

हिन्दी में प्रचलित विभिन्न वादों और उनके अनुयाइयों की कृपा से साहित्य-समीक्षा की गतिविधि भी शोचनीय हो रही है। किसी विशेष कृति को किसी एक साहित्यिक सम्प्रदाय के लोग प्रशंसा की आसमानी ऊँचाई तक पहुँचा देते हैं और दूसरी ओर उसी कृति की समीक्षा करने वाले भिन्न सम्प्रदाय के समीक्षक उसकी भरपूर निन्दा और विगर्हणा करते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के जिज्ञासु और निर्लिप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकों और नये लेखकों के सम्मुख बड़ा संशय और संकट उपस्थित हो जाता है। वे यह समझ नहीं पाते कि कौन समीक्षक तथ्य की बात कह रहा है, कौनसा नहीं। हम नहीं चाहते कि हिन्दी के इन निर्दोष और निष्पक्ष पाठकों और साहित्य-प्रेमियों को ऐसे संकट का सामना करना पड़े। हमारी सतत चेष्टा होगी कि समीक्षा-सम्बन्धी सन्तुलित प्रतिमान और समन्वित दृष्टि उनके सम्मुख रखी जाय।

अनेक बार आज की साहित्यिक कृतियों को समझने और उनका आकलन करने में बड़ी कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं। किसी कृति की मूल प्रेरणा क्या है, लेखक की जीवन-दृष्टि क्या है, और वह अपनी कृति द्वारा पाठक-समाज को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है, यह समझना कठिन हो जाता है। सीधी-सादी और स्पष्ट उद्देश्य वाली रचनाओं को छोड़ दीजिए, तो आज के अधिकांश लेखक और कृतिकार उक्त जटिल प्रश्नों की सृष्टि कर रहे हैं। यह प्रश्न साहित्य के मर्म में पहुँचकर उसे पहचानने का, लेखक और कलाकार की मनोवृत्ति तथा उसकी मानसिक स्थिति और आशय को समझने का है। आज अनेक कृतियाँ ऐसी प्रकाशित हो रही हैं जो समाज की विकृतियों को नग्न रूप में चित्रित करती हैं। इनका चित्रण पाठकों में किस प्रकार की धारणा बँधाता है? क्या वे उन चित्रित विकृतियों में रमने लगते हैं या उनके प्रति विद्रोही हो उठते हैं? एक ही कृति से अनेक पाठकों को अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारा पाठक-समुदाय साहित्यिक चेतना से सुसम्पन्न नहीं है। हमारे समीक्षक उनका उचित मार्ग-दर्शन नहीं करते। यदि कोई कृति व्यंग्यात्मक है तो पढ़ने वाले उसे वास्तविक मान लेते हैं। यदि कोई दूसरी कृति शृंगारिक है और छिछले चित्रणों से भरी हुई है तो पक्षग्राही समीक्षक यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि यह कृति व्यंग्यात्मक है और आज के समाज के छिछले जीवन का चिट्ठा दिखाती है। इस प्रकार नवीन कृतियों के सम्बन्ध में गलत निर्णय और भ्रामक धारणाएँ बनाई जाती हैं। कभी किसी कृति में सामाजिक जीवन की असंगतियों को बड़ी गहरी अनुभूति के साथ अंकित कर दिया जाता है और लेखक वहीं अपना कार्य समाप्त कर विराम ले लेता है। परन्तु पाठक समझते हैं कि लेखक की दृष्टि एकांगी और नकारात्मक है। उसने अन्धकार को ही देखा और चित्रित किया है, प्रकाश की ओर उसकी दृष्टि गई ही नहीं। किन्तु पाठकों का ऐसा समझना कहाँ तक ठीक है? इस प्रकार की असंख्य असंगतियाँ और विभ्रम नये साहित्य और उसकी कृतियों के सम्बन्ध में फैले हुए हैं। 'आलोचना' द्वारा सम्यक् साहित्यिक बोध देना हमारा कार्य होगा। हम किसी साहित्यिक कृति में कोई ऐसी वस्तु नहीं देखेंगे, जो उसमें नहीं है; किसी ऐसी वस्तु की उपेक्षा नहीं करेंगे, जो उसमें है। जान-बूझकर या अनजाने में जो वितथ निर्णय दिये जा रहे हैं, उनसे सतर्कता-पूर्वक बचने की हम सतत चेष्टा करेंगे।

ऊपर के वक्तव्य का यह आशय नहीं है कि साहित्य के सम्बन्ध में नये सैद्धान्तिक मतों और विचार-सरणियों की हम पूर्ण उपेक्षा करना चाहते हैं। पश्चिम में अनवरत शोधों के परिणामस्वरूप साहित्य-विषयक जो वैज्ञानिक विचारणा प्रतिष्ठित की जा रही है उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है? किन्तु इस सम्बन्ध में हमें दो-तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। पहली बात यह है कि उक्त विचारों और मतों का अधूरा अध्ययन हमारे किसी काम का न होगा। जिन तथ्यों के आविष्कार और निर्माण में यूरोपीय पण्डित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन-व्यापी साधना करते रहते हैं, उन्हें हम छिटपुट अध्ययन से उपलब्ध नहीं कर सकते। इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि पश्चिम के इन विभिन्न मतवादों में समुचित अन्विति और समीकरण अब तक नहीं किया जा सका। न केवल साहित्य की मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय उपपत्तियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं और परस्पर विरोध में जाती हैं, बल्कि मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय शोधों की अनेक शाखाएँ आपस में ही मतभेद और मतान्तर रखती हैं। पत्रिका के इस अंक में प्रकाशित 'दोस्तोएवस्की के साहित्य की चार समीक्षाएँ' शीर्षक लेख इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। बड़े-बड़े आचार्य और शोधक भी जब किसी बड़े लेखक की कृतियों के मूल्यांकन में इतना मतभेद रखते हैं तब सामान्य जनों की क्या चर्चा ! केवल व्याख्या और विवृति में ही नहीं, निर्णय और आकलन में भी इनमें परस्पर इतनी दूरी है कि हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि साहित्यिक प्रयोजन के लिए ये शोधें और सिद्धान्त अपने में पर्याप्त नहीं हैं और इनका विनियोग रचनात्मक कृतियों में करना और भी संशयास्पद है। अतएव, यदि हिन्दी-साहित्य की सीमा में इन पश्चिमी सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है तो सबसे पहले इनका सम्यक् अध्ययन आवश्यक है। फिर यह जानना जरूरी है कि ये सिद्धान्त रचनात्मक कृतियों में किस सीमा तक लागू हो सकते हैं; और अन्त में, साहित्यिक कृतियों की समीक्षा के लिए विशेषज्ञ अभ्यास भी आवश्यक है। सिद्धान्तों का ज्ञान और उनका कृतियों में उपयोग दो अलग अभ्यास-क्षेत्र हैं। इनको एक में मिलाकर चलना किसी प्रकार उचित न होगा। तीसरी और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यूरोप की ये सैद्धान्तिक खोजें एक विशेष समाज और संस्कृति से सम्बद्ध हैं। उस समाज और संस्कृति का संघात उन देशों के साहित्य से भी हुआ है। कवियों और लेखकों ने सामयिक जीवन से प्रभावित होकर अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की बहुत सी शोधों की भूमिका उन साहित्यिक कृतियों में मिलती है। हम कह सकते हैं कि यूरोप का सैद्धान्तिक और रचनात्मक साहित्य वहाँ के तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन से अनुप्रेरित है। एक को लेकर हम दूसरे या तीसरे को छोड़ नहीं सकते। जब हम हिन्दी-साहित्य की वर्तमान कृतियों में पश्चिम के किसी सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं तब यह भूल जाते हैं कि वह सिद्धान्त भी एक विशेष परिस्थिति की उपज है। क्या हिन्दी-भाषी समाज की भी वही परिस्थिति है जो यूरोप की है ? इस प्रश्न का उत्तर हम पूर्णतः नकार में ही दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में सीधी समस्या यह उपस्थित होती है कि अपने राष्ट्रीय जीवन में और उस जीवन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित साहित्य में पश्चिम के उन सिद्धान्तों का व्यवहार कहाँ तक सम्भव और समीचीन है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है कि यूरोपीय संस्कृति आज एक बहुत बड़ी हलचल से होकर गुजर रही है। न केवल वहाँ के दार्शनिक विचार डाँवाडोल हो रहे हैं, बल्कि एक नई प्रतिक्रिया में उनमें बहुत से उलट-फेर भी होते जा रहे हैं। पिछली दो-तीन शताब्दियों से यूरोप में जो संस्कृति विकसित हुई थी उसे आज के पश्चिमी विचारक फाउस्टियन (Faustian) संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। फाउस्टियन संस्कृति व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, उद्दाम लालसा और भौतिक विकास की संस्कृति कही जाती है। आज इस संस्कृति के विरुद्ध एक बड़ी प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी है और यूरोप के प्रमुख विचारक एक नवीन संस्कृति की रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नींव डालने की चिन्ता में हैं। स्वातन्त्र्य का जो आदर्श पश्चिम में प्रचलित था, वह आज त्याज्य और हेय माना जाता है। इसके बदले सामाजिक दायित्व, समता, नैतिक व्यवहार और आचरण आदि नये आदर्शों का आग्रह किया जा रहा है। बहुत से नये विचारक और भविष्य-द्रष्टा आज एक नई संस्कृति की पुकार उठा रहे हैं, जिसे वे मध्ययुग की धार्मिक संस्कृति का नई परिस्थिति के अनुरूप नवोन्मेष का नाम देते हैं। उनका झुकाव भारतीय और एशियाई संस्कृतियों की ओर भी कम नहीं है। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि यूरोप अपने पिछले सामाजिक आदर्शों को छोड़ चला है और वह नये जीवन-तथ्य की खोज में है। प्रश्न यह है कि क्या उन त्यक्त आदर्शों को हम आज अपने समाज में और अपने साहित्य में अपनाने जा रहे हैं? यदि नहीं तो हमारे आज के सामाजिक और साहित्यिक आदर्श क्या हो सकते हैं?

यदि हम थोड़ी-सी दूरवर्ती भूमिका लेकर आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास को देखें तो उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई देंगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होने वाले आधुनिक साहित्यिक युग की मूल रागिनी सामूहिक रही है और सामूहिकता की ओर बढ़ती चली आई है। भारतेन्दु-युग में रीति-काल की शृंगारिक प्रवृत्तियाँ भी शेष थीं। स्वयं भारतेन्दु वैष्णव भक्ति-परम्परा के अनुयायी थे और उनकी अधिकांश कविताएँ भक्ति-परक हैं। परन्तु भारतेन्दु के काव्य पर रीतिकाल की शृंगारिकता की इतनी घनी छाया है कि उनकी काव्य-कृतियों को भक्त कवियों की परम्परा में मान लेने में बड़ी कठिनाई होती है। कहना पड़ता है कि भारतेन्दु व्यक्तिगत प्रेरणा से तो भावात्मक भक्ति की ओर उन्मुख थे, परन्तु वे अपनी समकालीन रीति-परम्परा के बोझ से भी आक्रान्त रहे हैं। यह उनका वैयक्तिक संघर्ष था, जो उन्हें रीतिकाव्य की ऐहिकता और भक्ति-काव्य की भावनात्मकता के बीच एक या दूसरी ओर पारी-पारी से खींचता रहा। परन्तु भारतेन्दु और उनके युग की वास्तविक देन भक्ति और रीति के इस संघर्ष में नहीं पाई जाती। उनका असली कार्य नई सामाजिक चेतना को प्रतिबिम्बित करने में था और वह चेतना एक शब्द में राष्ट्रीय थी। इस व्यापक चेतना के अन्तर्गत विदेशी राज्य की भलाइयाँ-बुराइयाँ, हिन्दू-मुसलमानों के आपसी झगड़े और मतभेद तथा भारतीय समाज के विभिन्न अंगों और वर्गों की अलग-अलग समस्याएँ थीं। किन्तु कुल मिलाकर नवीन राष्ट्रीय एकता और विकास की प्रभाती-ध्वनि ही इन कवियों और लेखकों की वाणी में व्यक्त हुई। विशेषकर इस युग के गद्य-साहित्य और प्रमुख रूप से नाटकों में इस नवीन राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति हुई है। हरिश्चन्द्र-युग की इस नव-जाग्रत राष्ट्रीय भावना को प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान और रीति-विरोधी नई सामाजिक नैतिकता के निर्माण में नियोजित करने का कार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखकों और कवियों ने किया। एक प्रकार से यह कार्य हरिश्चन्द्र-युग की राष्ट्रीय चेतना को परिपुष्ट करने वाला रहा है, परन्तु कविता के भावना-त्मक क्षेत्र में इसने कुछ गतिरोध भी उत्पन्न किया था। एक तो ब्रजभाषा की बँधी हुई परि-पाटी के विरुद्ध खड़ी बोली का नया काव्य-माध्यम आरम्भ में अनगढ़ था। दूसरे, लेखकों और कवियों के ऊपर द्विवेदीजी के अतिरिक्त आचार्यत्व का दबाव भी था। कदाचित् इसी दबाव की प्रतिक्रिया में नये छायावादी कवि भावना के क्षेत्र में एक नई चुनौती देते हुए आये थे। छायावादी काव्य पर देशी और विदेशी कितने भी प्रभाव रहे हैं, परन्तु मुख्यतः उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषी समाज के द्विवेदीकालीन विकास में मिलते हैं। यदि हम छायावाद-युग के दो प्रमुख कलाकार प्रेमचन्द और प्रसाद को एक साथ लेकर देखें तो ऊपर का तथ्य स्पष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में द्विवेदी-युग की नैतिकता की ओर आदर्शवाद की छाया है। प्रसाद के काव्य में इन दोनों का विरोध है। वे नीतिवाद के विरुद्ध स्वच्छन्दतावाद की भूमि पर पूरी तरह उतर आए थे। इस दृष्टि से वे प्रेमचन्द से एक श्रेणी आगे के कलाकार हैं। परन्तु दूसरी ओर राष्ट्रीय और सामाजिक विकास की यथार्थ भूमि पर प्रेमचन्द प्रसाद से एक श्रेणी आगे हैं। प्रसाद ने अपने उपन्यासों में जिस सामाजिक विकास की भावात्मक कल्पना की है, प्रेमचन्द ने उसी विकास को एक वास्तविक संघर्ष के माध्यम से चित्रित किया है। यहाँ प्रेमचन्द प्रसाद से अधिक राष्ट्रीय और सामाजिक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग के पश्चात् आने वाला छायावाद-युग प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे भिन्न प्रकृति के साहित्यकारों का सृजन करते हुए भी विकासमान राष्ट्रीय और सामूहिक चेतना से सम्पन्न है। छायावाद को कुछ समीक्षकों ने व्यक्तिवादी, पलायनवादी अथवा वेदनावादी जीवन-दृष्टि का परिणाम बताया है। किन्तु, यदि हिन्दी-साहित्य के विकास की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि पर देखा जाय, तो छायावाद वस्तुतः हरिश्चन्द्र और द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय विकास-भूमियों को अधिक गहराई, उर्वरता और प्रसार ही देता है। वह किसी भी अर्थ में साहित्य का पश्चात्गामी या पीछे ले जाने वाला युग नहीं है।

छायावाद-युग को पार कर जब हम नव्यतर युग में प्रवेश करते हैं तब हमें सबसे पहली अभिज्ञता यह होती है कि साहित्य में सामूहिकता का स्वर मन्द पड़ने लगा है और लेखकों में व्यक्तिनिष्ठता और खण्डदृष्टियाँ बढ़ने लगी हैं। छायावाद-युग में प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे दो भिन्न प्रकृति के लेखकों के बीच भी राष्ट्रीयता का एक सुदृढ़ सम्बन्ध-सूत्र बना हुआ था, परन्तु आज के किन्हीं भी दो या अधिक विशिष्ट लेखकों के बीच कोई सम्बन्ध-सूत्र ढूँढ़ निकालना कठिन हो गया है। यदि आज के लेखकों और कलाकारों में कोई सम्बन्ध-सूत्र है भी तो वह अनास्था और अविश्वास का है, जो एक नकारात्मक वस्तु है। दूसरा सूत्र मनुष्य की एक-सी स्वार्थ-वृत्तियों का, पशु-वृत्तियों का है—आहार, निद्रा, भय और मैथुन का सूत्र। किन्तु इन सूत्रों को पकड़कर साहित्य और मनुष्यता कितने पग आगे बढ़ेगी? छायावादी कवि और लेखक किसी-न-किसी सम्मानित विचारधारा का विज्ञापन करते थे। परन्तु नये कवि और लेखक अपने को एक अज्ञेय आवरण में छिपाकर चल रहे हैं। ऐसे लेखकों से हमारा साग्रह निवेदन होगा कि वे अपनी वैचारिक स्थिति स्पष्ट करें। यूरोप में ह्रासोन्मुखी भाव-धाराओं के कलाकार भी अपना जीवन-अभिमत व्यक्त करने में हिचके नहीं हैं। फिर हमारे लेखक ही क्यों हिचकें?

वे कौनसे तर्क हैं जो नये लेखक अपनी कृतियों के पक्ष में देते हैं? छायावाद-युग के साहित्य को कल्पनाजीवी और व्यक्तिवादी बताकर वे एक नये यथार्थ की बात कहते हैं। छायावाद में कल्पना की प्रधानता तो थी, किन्तु वह एक भावात्मक और राष्ट्रीय दृष्टि से सम्पन्न कल्पना थी। उसमें व्यक्तिवाद तो था, परन्तु एक उदात्त समष्टि चेतना से ऊर्जस्वित। उसके स्थान पर नये यथार्थ का स्वरूप क्या है! उसकी रचनात्मक प्रेरणा और क्षमता कितनी है! यह नया यथार्थ जिस प्रकृतिवादी प्रवृत्ति पर आधारित है, वह राष्ट्रीय विकास के उपकरणों से बहुत-कुछ रिक्त है। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास-लेखक जिस यथार्थ के चित्रण का दावा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं, उसका क्रियात्मक रूप क्या है ? यथार्थ और सत्य की खोज में व्यस्त होकर ये लेखक अधिकाधिक अन्तर्जीवी होते जा रहे हैं। कुछ लेखकों ने एक नये स्वातन्त्र्य का भी उद्घोष किया है, जो आज यथार्थवादी रोमांस के नाम से पुकारा जाता है। इस अव्याहत स्वातन्त्र्य का आज शरीर से शरीर के सुदीर्घ मिलन के रूप में चित्रित किया जाता है। क्या यह उसी फाउस्टियन संस्कृति का चरम चिह्न नहीं है जिसे आज पश्चिम का समाज भयभीत होकर छोड़ रहा है ? पिछले विश्वयुद्ध का और उससे उत्पन्न नई परिस्थिति का हवाला देते हुए यह भी कहा जाता है कि आज के जीवन में भय की विभीषिका समाई हुई है, इसलिए नवीन साहित्य में कोई स्थिर और केन्द्रवर्ती विचार-दृष्टि आ ही नहीं सकती। नये लेखक अपनी इस कमजोरी का हवाला इस प्रकार देते हैं, जैसे वह कोई वांच्छनीय वस्तु हो। स्वराज्य की उपलब्धि के अनन्तर नये लेखक एक उल्लास-मय जीवन का अभूतपूर्व साक्षात्कार कर रहे हैं, अतएव उनकी रचना में उन्मत्त विनोद और उच्छृंखलता आनी ही चाहिए। साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या का समर्थन करते हुए नये लेखक यह भी कहते हैं कि आज के मध्यवर्गीय लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला साहित्य दिग्भ्रमित और दिशाशून्य होने को बाध्य है। इस प्रकार जितने मुँह उतनी बातें सुनकर आज का पाठक एक बड़े असमंजस की स्थिति में पहुँच गया है।

हम जानते हैं कि लेखकों का एक बहुत बड़ा समूह इन आत्म-संकोची प्रवृत्तियों से कोई नाता नहीं रखता और वह इस अवसाद-भरे वातावरण में उलझने या खो जाने को किसी प्रकार तैयार नहीं है। हम उन बाधाओं से भी अपरिचित नहीं हैं, जो इन स्वाधीन-चेता साहित्यिकों के मार्ग में पग-पग पर आती और उनके साहस को तोड़ना चाहती हैं। हमारे ये कर्मण्य और संघर्षशील लेखक उन परिस्थितियों से टक्कर ले रहे हैं जो उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय और मानवीय स्वातन्त्र्य के मार्ग में बाधक होकर खड़ी हैं। ऐसा करते हुए वे न तो समाज के किसी अधिकारी-वर्ग की अनुचित परवा करते हैं और न शासनसत्ता के हाथों में बिक जाने को तैयार हैं। क्या आज के सामाजिक जीवन में वैषम्यों और विकृतियों की कमी है ? हम तो देखते हैं कि स्तर-स्तर पर असंगतियाँ हैं, अनाचार हैं, अपराध हैं। क्या लेखकों के लिए उत्तेजनाकारी दृश्य कम हैं ? उनकी कर्मण्यता को चुनौती देने वाली हीनताएँ नहीं हैं ? असंख्य हैं, और हमारे अनेकानेक लेखक उन सबका डटकर सामना करने में संलग्न हैं। सच पूछिए तो ये लेखक ही उस साहित्यिक परम्परा के अग्रिम प्रतिनिधि हैं जो भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक विकसित होती चली आई है। 'आलोचना' द्वारा इसकी सब प्रकार से संवर्द्धना करना हमारा कर्त्तव्य होगा।

हमारे लिए यह कम खेद की बात नहीं है कि हिन्दी के साहित्यिक प्रतिमान अब तक अनिश्चित और डाँवाडोल बने हुए हैं। सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत तथ्यों की अतिशय कमी है। साहित्य के व्यवस्थित विकास के लिए यह कितनी घातक स्थिति है कि हम अपने प्रमुख कवियों और लेखकों के सम्बन्ध में भी कोई सुनिश्चित धारणा नहीं रखते। विदेशों में भी साहित्यिक प्रतिमान बदलते हैं पर उनका बदलना युग-संस्कृति के परिवर्तन का द्योतक होता है। यूरोप में साहित्यिक मान्यताओं में मतभेद विभिन्न राष्ट्रों की साहित्यिक दृष्टियों के अन्तर के कारण भी होता है। परन्तु हिन्दी में कोई भी ,कच्चा-पक्का लेखक किसी भी दिन निश्चिन्त होकर कोई स्वेच्छा-चारी सम्मति दे डालता है और उस पर लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगते हैं। कारण यह है कि हिन्दी-भाषी समाज अब तक सुगठित समाज नहीं है। उसकी साहित्यिक चेतना क्रमागत संस्कारों से परिपुष्ट नहीं हो पाई है। हिन्दी का पाठक, नवसिखिए विद्यार्थी की तरह, बिना प्रश्न किये ही सब-कुछ स्वीकार करने को तैयार रहता है। यों तो किसी भी समय इस प्रकार की निरीहता साहित्य के लिए शुभ लक्षण नहीं है, परन्तु आज की साहित्यिक आपाधापी में इसके घातक दुष्परिणाम हो सकते हैं और हो रहे हैं। यद्यपि प्रतिमानों का स्थिरीकरण एक दिन का काम नहीं है, फिर भी दूरवर्ती लक्ष्य के रूप में यह कार्य सदैव हमारे सामने रहेगा।

समय आ गया है, जब हम अपनी प्राचीन पोथियों को खोलकर यह देखने का प्रयत्न भी करें कि नये साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में वे कहाँ तक हमारा साथ दे सकती हैं और उनका आधार लेकर हम किस प्रकार आगे बढ़ सकते हैं। हमारे देश में एक प्राचीन और समृद्ध साहित्य-शास्त्र भी मौजूद है जिसका सम्यक् अनुशीलन हमें करना चाहिए। वर्तमान युग विज्ञान की शोधों से भरा-पूरा है। हमारे प्राचीन सिद्धान्त उच्चतम मनीषा की उपज हैं, परन्तु उनमें नवीन और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों का योग नहीं है। हमें अपने प्राचीन सिद्धान्तों को इतिहास की पृष्ठभूमि पर रखकर देखना होगा। उन विभिन्न सिद्धान्तों की मौलिक दृष्टियाँ क्या हैं? उनमें परस्पर कितना अन्तर है? और पारस्परिक आदान-प्रदान से उनकी किस प्रकार प्रगति हुई है? यह कार्य प्राचीन शोध के उद्देश्य से विश्वविद्यालयों तथा दूसरी संस्थाओं में किया जा सकता है। परन्तु 'आलोचना' पत्रिका में हमारा प्रयोजन उन सिद्धान्तों की ऐसी छानबीन करना होगा जिससे हम उन्हें नये उपयोग में लाने के योग्य बना सकें। इसका यह अर्थ नहीं कि हम ज्ञान के क्षेत्र में पुरातनवादी हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि हम अपने राष्ट्र के वर्तमान संक्रातिकाल में प्राचीन और नवीन की एक सुसम्बद्ध और समन्वित श्रृंखला बनी हुई देखना चाहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

रामविलास शर्मा

कालिदास : साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या

[साहित्य के स्थायी मूल्यों की छानबीन करते हुए कालिदास की चर्चा करना स्वाभाविक है। वह भारतीय साहित्य के सबसे स्थायी कवि हैं। शताब्दियों से सहृदय काव्य-मर्मज्ञ उन्हें कविकुलगुरु कहते आए हैं। जिस समाज-व्यवस्था में उनका जन्म हुआ था, वह नष्ट हो चुकी है या नष्टप्राय है; फिर भी उनका काव्य-सौष्ठव न तो नष्ट हुआ है, न भविष्य में नष्ट होता दिखाई देता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह काव्य-सौष्ठव समाज-निरपेक्ष है, वह ऐसे शाश्वत सौन्दर्य की व्यञ्जना है जो देश-काल की सीमाओं के परे है? क्या कालिदास की काव्य-महिमा इस बात के लिए प्रबल तर्क नहीं है कि साहित्यकार को सामाजिक उथल-पुथल से दूर रहकर सौन्दर्य की एकान्त साधना करनी चाहिए?]

: १ :

कालिदास जिस समाज-व्यवस्था से परिचित हैं और जिसे वह अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं, वह चार वर्णों में विभाजित है। इसमें श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मणों का है जो सभी के पूज्य हैं। क्षत्रिय सभी की रक्षा करने वाले हैं। वैश्य व्यापार आदि कार्य करते हैं और शूद्र दूसरों की सेवा करते हैं। अपनी रक्षा के लिए प्रजा एक निश्चित कर राजा को देती है। यह व्यवस्था इतनी रूढ़ हो चुकी है कि वर्ण का निश्चय कर्म से नहीं, जन्म से होता है। शम्बूक जन्म से शूद्र था, इसलिए उसे तप करने का अधिकार न था। उसके 'अपचार' से एक ब्राह्मण का पुत्र अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, इसलिए तप करते हुए शम्बूक का सिर काटकर राम ने उस ब्राह्मण के लड़के को जिला दिया (रघुवंश, सर्ग १५)। दुष्यन्त अपने पुत्र के हाथ में चक्रवर्तियों के लक्षण देखते ही पहचान जाते हैं कि वह किसी राजा का पुत्र है और चक्रवर्ती बनने के लिए पैदा हुआ है। सुदक्षिणा के गर्भ में लोकपालों के अंश विद्यमान हैं, इसलिए उसके पुत्र को चक्रवर्ती होना ही चाहिए (रघुवंश, सर्ग ३)। राजा लोग दो काम करते हैं—भोग और युद्ध। दोनों से छुट्टी मिलने पर योग साधते हैं। यद्यपि वे प्रकृति रंजक प्रजा को प्रसन्न रखने वाले हैं, फिर भी यह पृथ्वी उनके भोग के लिए है। रघु ने अज को पृथ्वी ऐसे सौंप दी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो वह दूसरी इन्दुमती हो (रघुवंश, सर्ग ८)। सीता को वनवास देने के बाद राम ने पृथ्वी का ही भोग किया (उप० सर्ग १५)। दुष्यन्त प्रतिज्ञा करते हैं कि अनेक रानियों के रहते हुए भी उनके यहाँ दो ही की प्रतिष्ठा होगी—एक तो पृथ्वी की, दूसरी शकुन्तला की। प्राचीन कवियों ने पृथ्वी को माता और अपने को उसका पुत्र कहा था। अब वह भोग की वस्तु बन गई है। कवि राजाओं के चाटुकार बन गए हैं। सरस्वती यह देखकर सिर धुनने और पछताने के बदले चारणों के कण्ठ में बैठकर रघु की स्तुति करती हैं (रघुवंश, सर्ग ४)।

समाज-व्यवस्था के प्रति कालिदास उदासीन नहीं हैं। उनका एक निश्चित दृष्टिकोण है। वह प्रचलित समाज-व्यवस्था का पोषक है। यह व्यवस्था अभ्युदयशील न होकर काफ़ी रूढ़ हो गई है। उसकी गहरी छाप कालिदास के काव्य पर है। यह छाप उनके काव्योत्कर्ष में सहायक न होकर एक बाधा बन गई है। कालिदास और उनके अनेक—सम्भवतः अधिकांश—सामयिक काव्य-प्रेमियों की सहृदयता को यह देखकर धक्का न लगा होगा कि पृथ्वी नारी के समान भोग्या है, सरस्वती राजाओं की स्तुति करती है और शूद्र के तप करने पर उसका सिर काट लिया जाता है। उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं, यह कहा जा सकता है। तब कालिदास की रचनाओं में इस तरह के प्रसंग साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं या अस्थायी? यदि स्थायी हैं तो आज के कवि—साधारण कवि नहीं, रवीन्द्रनाथ, भारती, निराला जैसे कवि—उन पर क्यों रचनाएँ नहीं करते? यही नहीं, कालिदास के दृष्टिकोण से विरोधी विचारधारा अपनाकर वे महान् कृतियाँ कैसे दे सके हैं? यदि अस्थायी हैं तो स्वीकार करना होगा कि कालिदास-साहित्य के सभी तत्त्व समान रूप से स्थायी नहीं हैं; कुछ उनमें अस्थायी भी हैं और वे हमारे लिए अनुकरणीय नहीं हैं।

पृथ्वी भोगने के लिए युद्ध करना आवश्यक है। रामायण और महाभारत में युद्ध अन्याय के प्रतिकार के लिए था; राम, कृष्ण, अर्जुन आदि वीर इसीलिए आदर्श पात्रों के रूप में चित्रित किये गए थे। लेकिन कालिदास के रघुवंशी राजा यश के लिए विजय प्राप्त करने चलते हैं (रघु०, सर्ग १)। युद्ध आदि के वर्णन में अतिरंजित चित्रों और कल्पना-चमत्कार का बाहुल्य रहता है। रघु जब दिग्विजय के लिए चलते हैं तो सबसे आगे उनका प्रताप चलता है, उसके बाद सेना का कोलाहल, उसके बाद धूल और सबसे पीछे सेना (रघु०, सर्ग ४)। इन्दुमती के साथ लौटते हुए अज अपने विरोधियों से युद्ध करते हैं, तब एक योद्धा सिर कटने पर देवता हो गया, विमान पर चढ़कर स्वर्ग पहुँच गया और वहाँ से सुराङ्गना के साथ समर-भूमि में देखने लगा कि उसका धड़ अब भी नाच रहा है (रघु०, सर्ग ७)। दो योद्धा एक साथ मारे जाकर स्वर्ग पहुँच गए और वहाँ एक ही अप्सरा के पीछे झगड़ा भी करने लगे (उप०)। कुमारसम्भव में योद्धा हाथियों पर ऐसे बाण चलाते हैं कि हाथियों के सिर पहले गिरते हैं, बाण पीछे (सर्ग १६)। जिन योद्धाओं को हाथियों ने उछाल दिया, उनके प्राण ऊपर ही स्वर्ग चले गए, शरीर नीचे आ गिरा (उप०)। दो योद्धाओं ने एक-दूसरे का सिर काट दिया, स्वर्ग पहुँचकर वे अपने धड़ों का नाच भी देखने लगे (उप०)। कालिदास की महान् प्रतिभा भी उनके युद्ध-वर्णन को प्रभावशाली नहीं बना सकी। युद्ध-वर्णन में उन्होंने परम्परा का निर्वाह-मात्र किया है। उनकी चमत्कार-प्रदर्शन की शैली उनकी प्रकृति-वर्णन की सहज शैली से एकदम भिन्न है। युग-विशेष की रूढ़ि का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसरण-भर उन्होंने किया है; उत्साह और तन्मयता का अभाव स्पष्ट है। यह भी उनके काव्य का स्थायी तत्त्व नहीं है, वरन् राजाश्रय-प्राप्त कविता की रूढ़ि से उत्पन्न दोष है।

युद्ध के बाद दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सुखभोग है। सुख का अर्थ है नारी। कालिदास के अधिकांश राजा अनेक पत्नियों वाले हैं। पतिव्रत-धर्म स्त्रियों के लिए है; पुरुष पत्नीव्रत से प्रायः मुक्त हैं। पुरुष भोक्ता हैं, नारी भोग्या है। इसलिए भोक्ता के लिए कोई बन्धन नहीं है। विवाहिता पत्नियों के अतिरिक्त प्रमोद-नृत्य के लिए वारयोषिताएँ हैं (रघु०, सर्ग ३); यक्ष का सन्देश ले जाने वाला मेघ पण्यस्त्रियों के साथ विहार करने वालों के उद्दाम यौवन की जानकारी प्राप्त करता हुआ जाता है।

"यः पण्यस्त्री रतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि।"

और भी—

"वेश्यास्त्वत्तो नखपद सुखान प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान कटाक्षान।"

वेश्यावृत्ति इस नागर-संस्कृति का अभिन्न अंग है। उसके बिना उनके उद्दाम यौवन का संगीत अधूरा रहेगा। ये पण्यस्त्रियाँ थीं; पैसे के लिए उनका शरीर बिकता था। सहृदय रसिकों के दुर्भाग्य से साहित्य का यह स्थायी तत्त्व भी अब मिटता जा रहा है।

भोग के उत्कर्ष के लिए मद्यपान आवश्यक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है। रघु के सैनिक मदिरा के साथ शत्रु का यश पी जाते हैं। अज को देखने वाली स्त्रियों में मुँह से आसवगन्ध निकालने वाली देवियाँ भी हैं; अज इन्दुमती के लिए विलाप करते हुए याद करते हैं कि उसने अज के अधपिये मधु को पिया था; वसन्त में अङ्गनाएँ स्मरसखा मधु का सेवन करती हैं (रघु०, सर्ग ६)। यह कहना कठिन है कि कालिदास के समाज में (या उनकी कल्पना में) कौन अधिक पीता था—स्त्रियाँ या पुरुष। कालिदास ने मदविह्वला रमणियों का उल्लेख अधिक किया है। रति विलाप करते हुए इस बात पर क्षोभ प्रकट करती है कि अरुण-नेत्र घुमाती और बोलने में अटपटाती प्रमदाओं का मद्यपान काम के बिना व्यर्थ जायगा। 'माल-विकाग्निमित्र' में इरावती कहती है, लोगों की उक्ति है कि मद्यपान से स्त्रियों की शोभा विशेष रूप से बढ़ जाती है। इसलिए भगवान् शंकर ने अनङ्गदीपन मद अम्बिका को भी पिला दिया; रति-विलाप की महिलाओं की तरह **"घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं"** उनकी भी वैसी ही दशा हो गई। मद्यपान की अतिशयता भोगवाद की अतिशयता की ही सूचक है। मद्यपान और वेश्यावृत्ति में कौन श्रेष्ठ है और कौन निम्न है, इसका निर्णय पाठक करें; किन्तु यदि घूर्णमान नयनों वाली प्रमदाओं का वर्णन कवि न करे तो क्या इसे साहित्य के एक स्थायी तत्त्व का अभाव माना जायगा?

नारी भोग की वस्तु है, इसलिए शृंगार रस के सिद्ध कवि द्वारा नर-नारी के परस्पर-सम्बन्ध का वर्णन स्वाभाविक ही है। छहों ऋतुओं की सृष्टि इसीलिए हुई है कि भोगियों का रस-व्यापार एकरस न होकर विभिन्न प्रकृति-परिवेशों में सरस बना रहे। गर्मी में **"नितम्ब-बिम्बैः"** तथा **"स्तनैः"** **"स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्"** (ऋतुसंहार, सर्ग १)। वर्षा का तो कहना ही क्या? बिजली चमकते ही अपराधी प्रियों को भी देवियाँ क्षमा कर देती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। गुफाओं में विहार करते हुए किंपुरुषों और उनकी प्रेमिकाओं के लिए बादल पर्दे का काम करते हैं (कुमारसम्भव, सर्ग १)। यदि वर्षा की बूँदें नहीं हैं तो सुरतग्लानि दूर करने के लिए शिप्रावात है (मेघदूत)। कालिदास के कामीजन शृंगार रस में ऐसे डूबते हैं कि सिर उठाने का नाम नहीं लेते। उनके आदर्श भोगी भगवान् शंकर हैं जो आदर्श योगी भी हैं।

समदिवस निशीथं संगिनस्तस्त्र शम्भोः
शतमगमदृतूनां साग्रसेका निशेव।
न तु सुरत सुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः॥ (कुमारसम्भव, सर्ग ८)

दिन-रात भोग करते हुए सौ वर्ष एक रात की तरह बिता देने पर भी वड़वानल की तरह सुरत सुख से वह छिन्नतृष्ण ही रहे।

शिवजी तो योगी थे; उनके लिए सब-कुछ सम्भव था। लेकिन शिवजी के इस मार्ग पर चलने वाले रघुवंशी राजा अग्निवर्ण की बुरी दशा हुई। वह रमणियों से भरी हुई पानशाला में वैसे ही जाते थे जैसे कमलिनियों के बीच हाथी जाता है। रमणियाँ उनका जूठा मद पीती थीं, वह रमणियों का। अन्त में उन्हें क्षय रोग हो गया; वे दूसरों का सहारा लेकर चलने लगे। अन्त में पुत्र का मुँह देखे बिना ही वह चल बसे। कालिदास ने भोगवाद का यह परिणाम दिखाया, यह अच्छा किया। किन्तु यह उन्होंने 'रघुवंश' में दिखाया है, उसके अन्तिम सर्ग में। 'रघुवंश' को उनकी अन्तिम रचना माना जाता है। यदि यह सत्य है तो अग्निवर्ण का अन्त कालिदास की अन्य रचनाओं में वर्णित भोगवाद पर अच्छी टिप्पणी है। यह रोग उस समाज-व्यवस्था में लग चुका था जिसमें एक अवकाशभोगी वर्ग दूसरों की अर्जित सम्पत्ति के बल पर भोग (और योग) के सिवा दूसरी बात सोच ही न सकता था। उस रोग का जो परिणाम हुआ, उसे भारतीय इतिहास का हर विद्यार्थी अच्छी तरह जानता है।

इस भोग के साथ योग का संसार है। योग के चमत्कार से असम्भव बातें भी सम्भव हो जाती हैं। गुरु वशिष्ठ ने ध्यान लगाया और उन्हें मालूम हो गया कि दिलीप के पुत्र क्यों नहीं होता। कार्तवीर्य नाम के योगी युद्ध करने चलते थे तो उनके हजार हाथ निकल आते थे, इसलिए कोई राजा उनका सामना न कर सकता था (रघु०, सर्ग ६)। एक महर्षि ऐसे थे जो हिरनों के साथ रहते थे और घास खाते थे (दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः) और इस 'तप' से इन्द्र को भय हो गया था। जिस शम्बूक ने तप करके वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन किया था, वह वृक्ष की डाल पर उलटा लटका हुआ था और उसके मुँह के नीचे आग जल रही थी। इस तरह के तप का अधिकार ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित था। शरीर को इस तरह कष्ट देने से आध्यात्मिक उन्नति होती थी। कहाँ उपनिषदों का रहस्य-चिन्तन और कहाँ यह उलटे लटकने की क्रिया! कालिदास की सामाजिक विचारधारा—राजा, प्रजा आदि के सम्बन्ध में—वाल्मीकि और व्यास से पिछड़ी हुई है, उसी तरह योग के विषय में उनका दृष्टिकोण उपनिषदों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। आगे चलकर तुलसीदास ने इसी चमत्कारवाद का प्रबल विरोध करके अपना भक्ति-मार्ग प्रतिष्ठित किया था।

पशुबलि का अलग चलन था। निःसन्देह कालिदास को जीवमात्र से प्रेम था। उनके तपोवनों में पहुँचते ही राजा अपना धनुष अलग रख देते हैं। लेकिन धार्मिक रूढ़ि के रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें पशुबलि स्वीकार थी। जिस धीवर के दुष्यन्त की अँगूठी मिली थी, वह उन श्रोत्रियों का हवाला देता है जो पशुमरण के दारुण कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

कालिदास के समाज की विशेष धार्मिक उपज पुराण थे। पुराणों से महाकवि ने अपने काव्य-सौन्दर्य की ही बहुत सी सामग्री नहीं ली, उनसे उन्होंने कुछ ऐसी बातें भी ली हैं जो जहाँ-तहाँ काव्य को पुराण बना देती हैं और इससे काव्य-सौन्दर्य घट जाता है। रघुवंश में देवताओं द्वारा विष्णु की स्तुति कुमारसम्भव में ब्रह्मा की स्तुति आदि ऐसे ही प्रसंग हैं। रघुवंश के अठारहवें सर्ग में कवि ने राजाओं के नाम गिनाकर पुराणों की तरह वंशावली लिख डाली है। पुराणवाद ने यहाँ उनके काव्योत्कर्ष को प्रायः नष्ट ही कर दिया है। कालिदास का कलात्मक दृष्टिकोण एक कुशल चित्रकार का है। साधारणतः वह पुराणों से ऐसे तत्त्व लेते हैं जो सौन्दर्य बोध को निखारने वाले होते हैं। लेकिन रूढ़ियों का पालन करते हुए उन्होंने छः दिन के षडानन से युद्ध ही नहीं कराया, ब्रह्मा के चार मुखों द्वारा षडानन के छः मुखों का चुम्बन भी कराया है।

घनप्रमोदाश्रुतरंगिताक्षैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रचुर प्रसादैः।
अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं षट्सु शिरःसुचित्रम्॥

वैसे तो ब्रह्मा के लिए सब-कुछ सम्भव है लेकिन देवताओं का जितना ही मानवीयकरण हो, उतना ही काव्य के लिए उपयोगी होते हैं। अद्भुत रस का प्रसंग होता तो चित्र ठीक रहता। इस विचित्र व्यापार का कारण अनेक पौराणिक रूढ़ियों को स्वीकार कर लेना है जिससे काव्य-कला की क्षति हुई है।

पौराणिक रूढ़ियों के अतिरिक्त कालिदास ने अनेक काव्यगत रूढ़ियों का अनुसरण भी किया है। उनके युद्धवर्णन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरञ्जित आलंकारिक वर्णन इसी रूढ़िवाद के अन्तर्गत आते हैं। शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियों के जिस चमत्कारवाद का विरोध किया था, उसके बीज कालिदास में विद्यमान हैं। उनमें इस तरह का कल्पना-विलास मिलता है—हंस, तारे, कुमुद आदि देखकर लगता है कि ये रघु का यश हैं। शिवजी ने पार्वतीजी की आँखों में लगाने के लिए अपने तीसरे नेत्र से ही काजल पार लिया। शिवजी के पुत्र षडानन अपना हाथ शिवजी के सिर पर बहती हुई गंगा में डाल देते हैं और जब ठण्ड लगती है तब उनके तीसरे नेत्र से उसे सेंक लेते हैं।

कालिदास की काव्य-कला का अध्ययन उनके समय की समाज-व्यवस्था से अलग करके नहीं किया जा सकता। उस व्यवस्था को भुलाकर एक महान् कवि में उपर्युक्त चमत्कारवाद की व्याख्या करना कठिन हो जायगा। कालिदास के समय में वह समाज-व्यवस्था पूरी तरह परि-पक्व हो चुकी है, इतनी कि उसमें ह्रास के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। इस व्यवस्था ने महाकवि की चेतना को सीमित कर दिया है। राजाओं के सम्बन्ध में उनके विचार उनके चरित्र-चित्रण पर प्रभाव डालते हैं। वाल्मीकि की तरह वह अपने आदर्श-पात्रों के मानवत्त्व की घोषणा नहीं करते—**दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः।** जो शिव के समान देवता हैं, षडानन के समान देवपुत्र हैं, राम के समान अवतार हैं, उनके चमत्कारों का तो कहना ही क्या, दुष्यन्त जैसे राजा भी इन्द्र की सहायता करने पहुँच जाते हैं। राम को विजय-प्राप्ति के लिए भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था; वाल्मीकि के राम मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से अपरिचित नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास के राजा बड़ी सरलता से विजय पा जाते हैं। उनमें रामायण और महाभारत के वीरों की प्रयत्नशीलता का अभाव है। युद्ध में अनेक चमत्कार दिखाने वाले ये राजा वास्तव में निष्क्रिय लगते हैं। उनकी सक्रियता प्रायः भोग्या नारी को देखकर जाग्रत होती है; उनकी मुख्य मानसिक व्यथा विरहजन्य होती है। स्त्रियाँ और भी निष्क्रिय हैं। ओष्ठ रंगने और भ्रू सञ्चालन में वे पटु होती हैं। नखक्षतों की पीड़ा वे जानती हैं। वे वात्स्यायन की प्रयोगशाला की सजीव मानव-मूर्तियाँ हैं। उनमें प्राचीन महाकाव्यों की वीर नारियों के-से दर्प और संघर्ष की क्षमता नहीं है। कालिदास के समाज में नारी का व्यक्तित्व दबा दिया गया है। वीर नारियों का स्थान वेश्याओं और अभिसारिकाओं ने ले लिया है। अन्य नारियाँ अधिकतर प्रेमिका-मात्र रह गई हैं। चरित्र-चित्रण में कविकुलगुरु आदि कवि से बहुत पीछे हैं और इसका कारण उस समय के सामाजिक वातावरण से उनकी कला का गहरा सम्बन्ध है।

सामन्तों की आश्रय-प्राप्त कविता चमत्कार-प्रधान हो चुकी है। कालिदास की अद्भुत उत्प्रेक्षाओं में ही यह चमत्कारवाद नहीं दिखाई देता, उनके साधारण कथा-प्रवाह में भी यह प्रयत्न दिखाई देता है कि हर छन्द में कोई विशेष आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न किया जाय। इस कारण उनके कथा-वर्णन में वह ओजपूर्ण प्रवाह नहीं है जो वाल्मीकि की विशेषता है। उनकी कविता सुन्दर है लेकिन उसमें उस गरिमा का अभाव है जो व्यास की विशेषता है, जो मनुष्य की चेतना को भावना के एक उच्च धरातल पर ले जाती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनका काव्य-जगत् सीमित है; इसलिए उन्होंने मनुष्य के जिस भावजगत् का उद्घाटन किया है, वह तुलसीदास की तुलना में सीमित है। शृङ्गार-रस के अतिरिक्त वे जिस रस को छूते हैं उसमें उन्हें अपेक्षाकृत कम सफलता मिलती है। इसलिए पण्डितों ने शृङ्गार को रसराज घोषित करके उनके सीमित भावजगत् को एकमात्र भावजगत् बना दिया है। वाल्मीकि और तुलसी के साथ न्याय करने के लिए कालिदास की इन ऐतिहासिक सीमाओं को याद रखना आवश्यक है। निस्सन्देह प्राचीन समाज व्यवस्था से उन्होंने बहुत-कुछ पाया; किन्तु यह भी सही है कि इस व्यवस्था की, उसकी धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों की गहरी छाप उनके काव्य पर है और वह सदा उसके उत्कर्ष में सहायक नहीं हुई।

: २ :

कालिदास का काव्य-साहित्य एक ओर पूर्ण-विकसित प्राचीन समाज-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है, दूसरी ओर वह उसकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों और निर्जीव रूढ़ियों की प्रतिक्रिया भी है। वर्ग-युक्त समाज के अनेक महान् साहित्यकारों की तरह कालिदास में भी अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध हैं। ये अन्तर्विरोध उनके धार्मिक और दार्शनिक विचारों में, उनके राजनीतिक और सामाजिक विचारों में, उनके सौन्दर्यबोध और भावजगत् में सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं। इसीलिए कालिदास को सामन्ती-व्यवस्था का चारण समझना बहुत बड़ा भ्रम है, किसी सामन्त-विशेष का चारण समझना और भी बड़ा भ्रम है। कालिदास का साहित्य उस काल की समाज-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, साथ ही उसका बहुत बड़ा भाग उस व्यवस्था से मुक्त होकर एक कल्पना-लोक की सृष्टि भी करता है। इसलिए कालिदास में जो कुछ भी मिले, उस सभी को हम उस युग का सामाजिक यथार्थ नहीं मान सकते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास ने अनेक राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु इन सभी के चित्र यथार्थ जीवन से नहीं लिये गए। अनेक पात्र आदर्श राजाओं के रूप में कल्पित किये गए हैं। राजा दिलीप के कारागारों में कोई भी बन्दी न था जिसे वह पुत्र-जन्मोत्सव पर छोड़ते। राम लोभ-पराङ्मुख थे, इसलिए प्रजा अर्थवान् हो गई। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को आसमुद्र-क्षितीश कहा है। समग्र देश की एकता और उस पर एक ही चक्रवर्ती सम्राट् का शासन उनका आदर्श था। देश के सामने उन्होंने यथार्थ चित्रण के बदले एक आदर्श चित्र ही रखा था। दुष्यन्त यह घोषणा कराते हैं कि राज्य में जिसका कुटुम्बी न रहे, वह दुष्यन्त को अपना कुटुम्बी समझे। एक ओर राजा के लिए पृथ्वी भोग का साधन है, दूसरी ओर वह प्रजा का साधारण कुटुम्बी भी है।

कालिदास ने राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु मानो इससे सन्तोष न होने पर वह बराबर प्रकृति की ओर भागते हैं या कल्पना-लोक रचते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम नगर के बदले तपोवन में होता है। शिव और पार्वती के प्रेम की भूमि गन्धमादन आदि अनेक पर्वत हैं। अलका विलास और वैभव का कल्पना-लोक है। वहाँ के फ़र्श मणियों से बने हुए हैं। यक्षों के हर्म्य-स्थल सितमणिमय हैं। यक्षबालाएँ कनक-सिकता फेंककर मणियों को छिपाती हैं और फिर उन्हें ढूँढ़ने का खेल खेलती हैं। अपने दुकूल खींचे जाने पर जब वे रत्नप्रदीपों पर चूर्ण फेंकती हैं तो वे बुझते नहीं हैं। उनकी सुरतजनित अङ्गग्लानि दूर करने के लिए चन्द्रकान्त मणियों से जलबिन्दु टपकते हैं। उन्हें अपनी सारी शृङ्गार-सामग्री कल्पवृक्ष से प्राप्त हो जाती है। यक्ष के घर की वापी में स्वर्ण-कमल खिलते हैं। उसके उद्यान में इन्द्रनील-मण्डित क्रीड़ाशैल है और वह 'कनक कदली वेष्टन प्रेक्षणीय' है। इस तरह के काल्पनिक वर्णन कालिदास में अन्यत्र भी हैं। आजकल की आलोचना की शब्दावली में हम कहेंगे कि कालिदास रोमाण्टिक कवि हैं। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने मेघदूत के लिए लिखा है—"It may stand to proclaim the inauguration of a romantic era in Sanskrit poetry." (India in Kalidasa, पृ० २८५)। संस्कृत काव्यजगत् में रोमाण्टिक युग का आरम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। असंदिग्ध बात यह है कि कालिदास एक महान् रोमाण्टिक कवि हैं और विश्व के प्रथम रोमाण्टिक कवियों में से हैं। उनकी रोमाण्टिक वृत्ति नर-नारी के प्रेम के वर्णन में, प्रकृति-चित्रण में, उनके सूक्ष्म इन्द्रिय-बोध में और पौराणिक गाथाओं के सौन्दर्य-वादी उपयोग में सर्वत्र दिखाई देती है।

कालिदास की समाज-व्यवस्था के भोगवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यूरोप में १६वीं सदी से पहले जो काव्य लिखा गया है, उसमें प्रेम की जगह अधिकतर वासना की प्रतिष्ठा है। यूरोप के प्राचीन (यूनानी) साहित्य की चर्चा करते हुए वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक एङ्गेल्स ने राज्यसत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में यह मत प्रकट किया है कि यूनानियों के लिए भोग का इतना महत्त्व था कि उन्हें इसकी भी चिन्ता न रहती थी कि जिससे वे भोग कर रहे हैं, वह नारी है या नर। उनका संकेत यूनान में खुलेआम पुरुषों में प्रचलित अप्राकृतिक व्यभिचार की ओर था। यूरोप में नवजागरण (रिनेसेंस) के प्रथम कवि इटली के दान्ते ने व्यक्तिगत प्रेम को उच्च साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनसे अनेक शताब्दियों पहले महाकवि कालिदास ने भारतीय काव्य में व्यक्तिगत प्रेम की प्रतिष्ठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की थी। व्यक्तिगत प्रेम से तात्पर्य उस प्रेम से है जो एक पुरुष और एक नारी के बीच अक्षुण्ण रहता है। पुरुष के लिए अनेक तरुणियाँ अपने यौवन और सौन्दर्य के कारण भोग्या नहीं होतीं, वरन् उसका हृदय केवल एक से ही प्रेम करता है।

कालिदास के नायक बहुधा अनेक पत्नियों वाले होते हैं, किन्तु प्रेमी के रूप में वे एक से ही हार्दिक स्नेह करते हैं। दिलीप की अनेक पत्नियाँ हैं लेकिन वह प्रेमी सुदक्षिणा के हैं। यही हाल दुष्यन्त का है। लेकिन इनसे भिन्न उनके अन्य प्रेमी पात्र हैं जो एक पत्नीव्रती हैं। यक्ष की अलका में विलास की सभी सामग्रियाँ हैं, लेकिन वासना के कलुष से घिरे होने पर भी वह केवल अपनी प्रिया से स्नेह करता है और वह प्रिया भी अलका के विलासमय वातावरण में पूर्वी क्षितिज पर हिमांश की शेष कलामात्र-सी शय्या पर पड़ी रहती है। इसी प्रकार शिव और पार्वती का प्रेम है। इन्दुमती के लिए अज की उक्ति साहित्य के इतिहास में अद्भुत है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणा विमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

यूरोप में प्रेम के सबसे बड़े गायक शेली तक में पत्नी तो क्या किसी एकमात्र प्रेमिका के लिए भी ऐसी उत्कट प्रेम-व्यञ्जना नहीं है। यूरोप की अधिकांश मध्यकालीन कविता में विवाह-सम्बन्ध से बाहर अवैध प्रेम का कीर्तन है। केवल मिल्टन ने अपने महाकाव्य 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में विवाहित प्रेम का अभिनन्दन किया है। जब तक विवाह का आधार कुल, गोत्र और सम्पत्ति के विचार रहते हैं, तब तक विवाह के साथ प्रेम का अस्तित्व दुर्लभ ही होता है। काव्य में दुर्लभ ही रहा है। किन्तु भारत में नारी के लिए अपना प्रेमी चुनने का आदर्श रहा है—कम-से-कम काव्य में वह आदर्श बना रहा है—इसलिए विवाह और प्रेम में कोई आधारभूत विरोध नहीं रहा है।

इन्दुमती ने अज को पिता के कहने से नहीं, स्वेच्छा से स्वीकार किया था। स्त्रियाँ कहती हैं कि स्वयंवर के बिना इन्दुमती को आत्मतुल्य कान्त कैसे मिलता! इसीलिए वह गृहिणी-सचिव, सखी, शिष्या सभी-कुछ है। उसके न रहने से अज के लिए संसार सूना हो गया है। नारी स्वयं पति चुनती है, इसलिए कालिदास ने अनेक बार विवाह से पहले पुरुष और स्त्री के प्रेम का चित्रण किया है। इन्दुमती ने अज को देखते ही उन्हें अपनी दृष्टि से वर लिया। अन्य रोमांटिक कवियों की तरह कालिदास में भी प्रथम दर्शन से ही प्रेम का अभ्युदय होता है। इन्दुमती की तरह शकुन्तला दुष्यन्त को देखते ही उन पर मोहित हो जाती है। कालिदास ने इस प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन ही नहीं किया, दीर्घ साहचर्य के बाद स्थिर रहने वाले प्रेम की अभिव्यंजना भी की है। यक्ष और उसकी पत्नी दोनों ही विरह की आग में जलते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों ही बिछोह में कष्ट पाते हैं। अज अपनी पत्नी को सदा के लिए खो बैठने पर करुण विलाप करते हैं। प्रेम नर-नारी में असमानता का भेद नहीं करता। विरही पुरुष भी होता है, नारी भी। यह कहना कि भारतीय साहित्य नारी के विरह का ही वर्णन करता है, कालिदास को भारतीय साहित्य की परिधि से बाहर निकाल देना होगा।

अज का कहना है कि वह शाब्दिक रूप से क्षितिपति थे, उनका वास्तविक प्रेम इन्दुमती से था। कालिदास के राजा शाब्दिक रूप से राजा हैं; अपने वास्तविक रूप में वे प्रेमी हैं। उनके राज्य-सञ्चालन आदि का वर्णन कवि ने रूढ़ि का पालन करने के लिए किया है। उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक लक्ष्य उन्हें प्रेमी रूप में चित्रित करना है। फिर यक्ष और शिव तो सामन्त नहीं हैं। नारद ने भविष्यवाणी की थी कि पार्वती शिव की एकमात्र पत्नी और उनके आधे शरीर की स्वामिनी बनेंगी—

समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य।

पार्वती की सखियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया, "अखण्डितं प्रेम लभस्व।" आदर्श प्रेम अखण्डित ही होता है। पार्वती ने शिव के आधे शरीर पर अधिकार करके अपनी सखियों के आशीर्वाद को पीछे छोड़ दिया। यक्ष के लिए उसकी पत्नी "जीवितं मे द्वितीयं" है। अनेक स्थलों में कालिदास ने संकेत किया है कि मानव-प्रेम इस जन्म से पहले और उसके बाद भी स्थिर रहता है। अज अपना शरीर छोड़ने पर स्वर्ग में इन्दुमती से फिर मिलते हैं। काम के भस्म हो जाने पर भी रति उसे पुनः प्राप्त कर लेती है। पार्वती ने पूर्व जन्म में सती रूप में शिव से प्रेम किया था। सहस्रों राजाओं में इन्दुमती ने अज को ही चुना, इसका कारण पूर्वजन्म की पहचान है। इस तरह के कथा-प्रसंगों में प्रेम की रहस्यवादी व्यञ्जना का संकेत मिलता है।

यह अनिवार्य था कि प्रेमी कवि कालिदास कहीं-न-कहीं रूढ़ियों से टकराते। उन्होंने भरसक रूढ़ियों की रक्षा की है, फिर भी शाप देने वाले दुर्वासाओं से वह सदा अपने प्रेमीजनों की रक्षा नहीं कर सके। यक्ष अपने प्रेम के कारण स्वाधिकार-प्रमत्त हो जाता है; शकुन्तला अनन्यमनसा दुष्यन्त का ध्यान करती हुई दुर्वासा का सत्कार नहीं कर पाती। यही नहीं, उसने गुप्त प्रेम किया है, दुष्यन्त से गन्धर्व-विवाह किया है। इस पर बाद में उसे ताने भी सुनने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि कालिदास की सहानुभूति शकुन्तला के प्रति है, न कि दुर्वासा के प्रति। किन्तु दुर्वासा के शाप के कारण अभिशप्त यक्ष की तरह दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को यातना सहनी पड़ती है। शाप पाने वाली देवियाँ बहुधा अप्सराओं की कन्याएँ हैं। शकुन्तला मेनका की कन्या है; उसके पिता कौशिक गोत्र के एक राजा थे। किन्तु शकुन्तला कौशिक-मेनका के विधिवत् पाणिग्रहण का परिणाम न थी। क्या इस तरह की अविवाहित अप्सराओं की सन्तान से राजा को विवाह करना चाहिए? कालिदास का उत्तर विवाह के पक्ष में है। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा की प्रेयसी उर्वशी है। उर्वशी भी शापवश लता बन जाती है, क्योंकि वह स्त्रियों के लिए निषिद्ध वन में चली गई थी। अज की प्रिय पत्नी इन्दुमती पूर्वजन्म में अप्सरा थी, जिसे ऋषि ने शाप देकर मनुष्यलोक में जन्म लेने के लिए बाध्य किया था। अप्सराओं या अप्सराओं की कन्याओं के प्रति यह प्रेम क्या महाकवि के जीवन की किसी विशेष घटना की ओर इंगित करता है? इतना निश्चित है कि इस तरह का प्रेम साधारण रूढ़ियों से दूर है।

यौवन और सौन्दर्य से कालिदास के प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भोगवाद के अतिरिक्त उनमें भरे-पूरे जीवन की आनन्दकामना है। जैसे रंग भरने से चित्र खिल उठता है, वैसे ही यौवनागम से नारी का सौन्दर्य निखर जाता है (कुमारसम्भव, सर्ग १)। कोयल स्त्रियों को मान तजने की सीख देती है क्योंकि यौवन चला जाने पर फिर नहीं आता (रघुवंश, सर्ग ६)। मिल्टन ने ईव की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैतान उन्हें देखकर ठगा-सा रह गया और एक क्षण के लिए दूसरों का अमंगल करने की वृत्ति भूल गया। कालिदास ने भी उस रूप का वर्णन किया जिससे मनुष्य चमत्कृत होकर पापवृत्ति भूल जाय। उमा का सौन्दर्य भी "पापवृत्तये न" था (कुमारसंभव, सर्ग ५)। शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन में कालिदास जहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्न अंगों की अलग-अलग सुन्दरता की चर्चा करते हैं, वहाँ समग्र रूप का आभास देने के लिए वह उसे अपार्थिव कल्पना-लोक की वस्तु बना देते हैं। शिवा उमा के लिए कहते हैं— "त्रिलोक सौन्दर्य मिवोदितं वपुः।" उमा के शरीर में मानो तीनों लोकों का सौन्दर्य उदय हो गया था। यक्ष की पत्नी "युवतिविषये सृष्टि राद्येव धातुः"है। विधाता ने अपनी प्रथम कृति के रूप में उसीको सँवारा था।

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त की समझ में आता है कि उद्यानलता और वनलता में क्या अन्तर है। शकुन्तला का सौन्दर्य वनलता का-सा है। उसका वपु अव्याज मनोहर है। वल्कल पहने हुए भी वह मनोज्ञ मालूम होती है। वह अनाघ्रात पुष्प है, अलून किसलय है, अनाविद्ध रत्न है, अनास्वादित नव मधु है, उसका अनघ रूप पुण्यों का अखण्ड फल है। प्रेमी की रूपतल्लीनता उसे आत्मविभोर कर देती है। अन्य कवियों की भाँति कालिदास ने भी प्रकृति में नारीत्व का आरोप किया है। प्राकृतिक उपमानों से नारी की तुलना करते हुए वह रूपजन्य आनन्दातिरेक की व्यञ्जना भी करते हैं। आभरण पहने हुए उमा नक्षत्रमण्डित त्रियामा जैसी लगती हैं। रेशमी वस्त्र पहने हुए उमा "क्षीरोद वेलेव सफेनपुञ्जा" लगती हैं। नारी के प्रसाधनों में प्राकृतिक वस्तुओं का महत्त्व ही अधिक है। उमा को देखकर जब शिव पहली बार विचलित हुए थे, उस समय वह कर्णिकार और साधारण पल्लवों से शृङ्गार किये हुए थी। चन्द्रमा की किरणें देखकर शिव कहते हैं कि वे जौ के अङ्कुरों के समान हैं और उनसे उमा के लिए कर्णपूररचना हो सकती है। रोमाण्टिक शृङ्गार-भावना की यह चरम परिणति है।

अन्यत्र महाकवि ने तमाल के प्रवाल को अवतंस बनाकर सीता के 'यवाङ्कुरापाण्डुकपोल' को और भी सुन्दर बना दिया है। इस तरह के उपमान असाधारण रूप से सुन्दर तो हैं ही, उनसे कवि के सूक्ष्म इन्द्रियबोध का भी पता चलता है। रूप, स्पर्श और गन्ध का एक साथ सम्मिश्रण दाय 'प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य' में मिलता है। उनके लिए रूप मूर्त की तरह प्राण-हीन न होकर स्पन्दनशील है। वह अपने उपमानों द्वारा मानों उसका सजीव स्पन्दन ही प्रकट कर देते हैं। अंग्रेज कवि कीट्स के सौन्दर्यबोध की उचित और यथेष्ट प्रशंसा की गई है। किन्तु कीट्स के लिए मूर्त रूप उस तरह जीवित और स्पन्दनशील नहीं है जैसे महाकवि कालि-दास के लिए। मनुष्य के विचार बदल जाते हैं, उसके भावजगत् में भी यथेष्ट परिवर्तन होते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध इनसे अधिक व्यापक होता है। इन्द्रियबोध के क्षेत्र में यह सदा सम्भव है कि सामाजिक विकास की दृष्टि से एक पिछड़ी हुई व्यवस्था का कवि शताब्दियों तक अपनी कोटि के रचनाकार के अभाव में अनामिका को सार्थक करता रहे। जौ के अङ्कुर कालिदास के प्रिय उपमान हैं। उनसे स्पर्श-मार्दव, नेत्र-सुखद रंग और जीवन-क्रिया तीनों ही अभिव्यंजित हैं। कालिदास के लिए सप्राण प्रकृति और चेतन मनुष्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उर्वशी शापवश लता हो जाती है और पुरूरवा जब उन्मत्त की-सी दशा में उसे भेंटता है, तो वह उर्वशी रूप में परिवर्तित हो जाती है। कालिदास का हृदय प्रकृति की जीवन-क्रिया से तन्मय हो जाता है। प्राकृतिक परिवेश में प्रेमीजन मिलते हैं, उनके प्रेम का सहज स्फुरण लता-विटपों के मिलन जैसा लगता है। शकुन्तला की प्रिय नवमालिका ने बालसहकार से स्वयंवर कर लिया है। जिस समय उमा ने शिव को किंचित्परिलुप्तधैर्य अपनी ओर निहारते देखा, उस समय स्फुरद् बाल-कदंब के समान अपने अंगों से भाव प्रकट किये। यह प्रेम जीवन की वह स्वाभाविक क्रिया है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ मनुष्य की संवेदना, भावना और विचार एक ही राग में झंकृत हो उठते हैं।

कालिदास के सौन्दर्यबोध का मूलाधार उनका जीवन-प्रेम है। यह जीवन मनुष्य, पशु और वनस्पति में सर्वत्र है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे विश्व में किसी अगोचर चेतना के दर्शन करते हैं। उनके लिए यह जीवन घोर गोचर है; वह इन्द्रियबोध से अभिन्न है, उससे परे नहीं। विलास और वैभव का यह कवि धरती के इतना निकट है जितना कोई भौतिकवादी कवि नहीं हुआ। उसे वर्षा के बाद धरती से उठने वाली सोंधी सुगन्ध अत्यन्त प्रिय है। गर्मी के अन्त में वर्षा होने पर हाथी बार-बार तालों की मिट्टी सूँघते हैं (रघु०, सर्ग ३); वर्षा के कारण धरती से जो वाष्प निकली उससे कन्दलों की खिली हुई लाल कलियाँ विवाह के समय हवन का धुआँ लगने से सीता की लाल आँखों जैसी हो जाती हैं (उप०, सर्ग १२)। यक्ष के सखा मेघ के सहायकों में धरती से उठती हुई गन्ध सूँघने वाले हाथी भी हैं। देवगिरि की ओर जाते हुए मेघ को जो पवन थपकियाँ देगा, वह उसके निस्यन्द से उच्छ्वसित वसुधागन्ध-सम्पर्क रम्य है। मेघ यक्ष के हृदयोच्छ्वास के साथ वसुधा का गन्धोच्छ्वास भी लेकर अलका की ओर जाता है।

यह गन्धोच्छ्वास भारत की ही धरती का है। मेघदूत में भारत के ग्राम-नगरों और प्रकृति के प्रति अपूर्व अनुराग प्रकट किया गया है। इन्दुमती के स्वयंवर में राजाओं के परिचय के बहाने भारत के सभी भागों की प्रकृति का परिचय दिया गया है। कालिदास के मानववाद में देशभक्ति के बीज हैं।

जीवन का जो उभार प्रकृति में दिखाई देता है, वही मानवमात्र में यौवन बनकर झलकता है। जो पवन भरी बालों से झुके हुए धान के पौधों को हिलाता है, वही नवयुवकों के हृदय चंचल करता है (ऋतुसंहार, सर्ग ३)। पृथ्वी जैसे अपने गर्भ में बीज छिपाये रहती है, वैसे ही अग्निवर्ण की रानी अपने गर्भ में नया जीवन छिपाये रहती है। मानव और प्रकृति में जीवन-विकास की यह रहस्यमय क्रिया कालिदास को समान रूप से आकर्षित करती है। पाश्चात्य साहित्य में गर्भवती नारी को यह महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ जो उसे भारतीय साहित्य में प्राप्त है। प्रभात के शशिवाली शर्वरी के समान लोध्रपाण्डु मुखवाली सुदक्षिणा सुन्दर है। दशरथ की रानियाँ दानों से भरी हुई नाज की बालों के समान पीली पड़कर भी सुन्दर हैं। नाज की भरी बालों के उपमान में केवल रंग की ओर संकेत नहीं है, वरन् उस स्वाभाविक जीवन-क्रिया की ओर भी संकेत है, जो प्रकृति और मानव के लिए समान है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का सुख जीवन का ही सुख है। यह कालिदास की महत्ता है कि वह इस इन्द्रियबोध के साथ मूलतः जीवन के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं। वनस्पति-जगत् और पशुओं के प्रति जैसी सुकुमार सहानुभूति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चौथे अंक में प्रकट हुई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है और उसका कारण प्रकृतिव्यापी जीवन के प्रति असीम अनुराग है। वशिष्ठ के आश्रम में मृग उटजद्वार रोककर खड़े हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें भी ऋषियों की सन्तान की तरह नीवार में भाग मिलता है (रघु०, सर्ग १)। कालिदास को तपोवन अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि यहाँ सभी जीव वीतभय हो गए हैं (रघु०, सर्ग १४)। जिस हरिण पर दुष्यन्त बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच तपस्वी आकर खड़े हो जाते हैं। यही नहीं, जिस हरिण पर दशरथ बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच हरिणी आकर खड़ी हो जाती है। न केवल जीवन के स्पन्दन वरन् प्रेम के स्पन्दन से भी पशु-जगत् वंचित नहीं है। इसलिए जब शकुन्तला आश्रम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चलने लगती है, तब उसका पुत्रतुल्य पाला हुआ मृग आकर उसकी राह रोककर खड़ा हो जाता है। कालिदास की करुणा मानव ही नहीं, जीवमात्र को अपने अन्दर समेट लेती है। इस करुणा का स्रोत दया नहीं है; उसका स्रोत व्यापक जीवन के प्रति गम्भीर अनुराग है। पाश्चात्य रोमांटिक कवियों में रूप-रस-गन्धमय मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अतिशय अनुराग है और कभी-कभी उसके साथ अतीन्द्रिय, अगोचर विश्वव्यापी चेतना की उद्भावना भी है। कालिदास के लिए रूप-रस-गन्धमय सौन्दर्य निर्जीव नहीं है; न वह अतीन्द्रिय चेतना की ओर ही काल्पनिक उड़ान भरते हैं। वह सूक्ष्म इन्द्रियबोध और मार्मिक करुणा से समृद्ध जीवन के अद्वितीय कवि हैं। इस दृष्टि से उनकी रोमांटिक भावधारा एक अन्य और उच्च स्तर की है। गोचर जगत् के समृद्ध जीवन के प्रति यह सघन अनुराग अवश्य ही साहित्य का स्थायी तत्त्व है।

: ३ :

यहाँ कालिदास के जीवन-दर्शन का प्रश्न हमारे सामने आता है। सुबोध विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि "शिव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही कालिदास के दर्शन और साधना का ज्ञान है" (मेघदूत : एक अध्ययन)। उनका कहना है कि पार्वती सुषुम्ना नाड़ी का नाम है। मेरुदण्ड हिमालय है जिसके भीतर सुषुम्ना है। शिवजी ने मदन को भस्म किया, तदुपरान्त उमा की तपस्या से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा योग की साधना से शिव और पार्वती का विवाह हुआ, अर्थात् व्यक्ति की चिदात्मक शक्ति जो अधोमुखी थी वह अन्तर्मुखी होकर सहस्रदल में स्थित पर-बिन्दु शिव से संयुक्त हो जाती है, फिर विषयों से उसे कोई भय नहीं रहता।

यहाँ कई शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। पार्वती अर्थात् सुषुम्ना से विवाह होने के पहले ही 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग में शिवजी अक्षर ब्रह्म को अपनी आत्मा के अन्दर देख चुके हैं। इसलिए जहाँ तक शिव का सम्बन्ध है, उन्हें कुण्डलिनी जगाने की आवश्यकता नहीं है। यदि सुषुम्ना का कल्याण करना है तो शिवजी किंचित्परिलुप्तधैर्य होकर उनके (पार्वती के) बिम्बफलाधरोष्ठों को क्यों निहारने लगते हैं ? और जब अपने विचलित होने का ज्ञान होता है तब **'स्त्री संनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्'** सुषुम्ना का साथ छोड़कर अन्तर्धान होने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न होती है ? काम को एक बार भस्म कर देने पर उसे फिर जिलाने की आवश्यकता क्या थी ? जब विवाह पक्का हो गया, तब **'अद्रिसुता समागमोत्सुकः'** (पार्वती-परिणयोत्सुकः—मल्लिनाथ) शिव के लिए तीन दिन काटना भी कठिन हो गया। इस पर महाकवि कहते हैं कि इस तरह के भाव यदि शिव को स्पर्श करते हैं, तब अन्य जन 'अवश' (इन्द्रियपरतन्त्रम्—मल्लिनाथ) हो जाय तो आश्चर्य क्या ? पार्वतीजी ने शिव को पाने के लिए तपस्या अवश्य की थी। शिवजी ने उन्हें अपनी शिष्या भी बना लिया, किन्तु वह योगाभ्यास में शिष्या न थीं वरन्

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम्॥

निधुवनोपदेशिनः का अर्थ है **'सुरतोपदेष्टुः'**। ऐसे गुरु से पार्वतीजी ने जो शिक्षा पाई थी वही **'युवतिनैपुणम्'** दक्षिणा के रूप में उन्हें अर्पित कर दी। हो सकता है, योग की बातें सुरत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दावली में समझाई गई हों, किन्तु आगे चलकर कालिदास कहते हैं—

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।

इन्द्रियसुख के मार्ग के सेवन से मन्मथ अनुगृहीत हुआ। यदि इन्द्रियसुख का अर्थ अतीन्द्रिय आनन्द हो और मन्मथ का अर्थ सच्चिदानन्द ब्रह्म हो, तब तो डॉ० अग्रवाल की व्याख्या ठीक मानी जायगी, वर्ना कहना पड़ेगा कि ऐसी व्याख्या अरविन्दवादी कवियों के लिए तो उपयुक्त है, शैव कवि कालिदास के लिए नहीं।

डॉ० अग्रवाल ने 'मेघदूत' के सम्बन्ध में नम्रता के साथ लिखा है, "यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उस ग्रन्थ का गम्भीर किन्तु प्रमोदपूर्ण पारायण आज तक कोई नहीं कर सका।" इसका कारण यह है—"काव्य में कान्ता-संमित उपदेश दिया जाता है। इसीलिए 'मेघदूत' के अध्यात्म ज्ञान का ऊपर से कुछ पता नहीं चलता।" कवि ने स्थान-स्थान पर जो स्कन्द, शिव और कैलास का उल्लेख किया है, "इन सब बातों में एक ही अध्यात्मभाव दृष्टिगोचर होता है, जिसके द्वारा काम का कल्मष दूर होगा और वह शिव का सान्निध्य प्राप्त कर अन्ततः अध्यात्म विधि में विपरिणमित हो जायगा।" ऐसा लगता है कि यक्ष ने अपना सन्देश अपनी "प्रिया के प्राणों को सहारा देने की इच्छा से" (डॉ० अग्रवाल की टीका) नहीं भेजा, वरन् कामरूप मेघ को अध्यात्मवाद सिखाने के लिए उसे 'कान्तासंमित' उपदेश दिया है। मेघ महाकाल के मन्दिर में पहुँचेगा। उस पवित्र धाम के उपवन को "कमलों के पराग से सुगन्धित एवं जलक्रीड़ा करती हुई युवतियों के स्नानीय द्रव्यों से सुरभित गन्धवती की हवाएँ झकोर रही होंगी।" इन हवाओं से अपना तन-मन शुद्ध करके जब वह सन्ध्याकालीन आरती के समय धीर-गम्भीर गर्जन करेगा, तब उसे अपनी इस भक्ति का पूरा फल मिलेगा। वह इस प्रकार-"वहाँ प्रदोषनृत्य के समय पैरों की ठुमकन से जिनकी कटिकिंकिणी बज उठती हैं और रत्नों की चमक से झिलमिल मूठों वाली चौरियाँ डुलाने से जिनके हाथ थक जाते हैं, ऐसी वेश्याओं के ऊपर जब तुम सावन के बुन्दाकड़े (वर्षाग्रबिंदून्) बरसाकर उनके नखक्षतों को सुख दोगे, तब वे भी भौरों-सी चंचल पुतलियों से तुम्हारे ऊपर अपने लम्बे चितवन चलाएँगी।" (डॉ० अग्रवाल की टीका) यह फल पाकर वह रात में प्रियतम से मिलने जाती हुई अभिसारिकाओं के लिए बिजली से प्रकाश कर देगा। महाकाल के दर्शन कराने के बाद ही यक्ष मेघ को यह परमज्ञान का तत्त्व बतलाता है—

ज्ञात स्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।

अलका में कुबेर के मित्र शिव को बसता जानकर काम अपना धनुष चढ़ाने से डरता है, लेकिन "कामी जनों को जीतने का उसका मनोरथ तो नागरी स्त्रियों की लीलाओं से ही पूरा हो जाता है, जब वे भौंहें तिरछी करके अपने कटाक्ष छोड़ती हैं तो कामीजनों में अचूक निशाने पर बैठते हैं।" इस प्रकार शिवसान्निध्य से मदन-व्यापार में ज़रा भी बाधा नहीं पड़ती। अन्त में काम-कल्मष धुल जाने पर मेघ के लिए यक्ष जिस अध्यात्मविधि में विपरिणमित होने की कल्पना करता है, वह 'मेघदूत' की अन्तिम पंक्ति यह है—

माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।

"हे जलधर, तुम्हें अपनी प्रियतमा विद्युत् से क्षण-भर के लिए भी मेरे जैसा वियोग न सहना पड़े।" प्रिया से सुखद संयोग की अवस्था ब्रह्मानन्द तुल्य हो सकती है, किन्तु साक्षात् ब्रह्मानन्द नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास अद्वैत सत्ता में विश्वास करते हैं, किन्तु यह सत्ता गोचर संसार का तिरस्कार नहीं करती। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के आरम्भ में कालिदास ने जिन शिव की वन्दना की है वह जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश आदि आठ प्रत्यक्ष रूपों में सभी को दिखाई देते हैं। इसलिए वह विशुद्ध अप्रत्यक्ष सत्ता नहीं है।

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ (कुमार०, सर्ग २)

वह द्रव भी हैं, संघात कठिन भी (अशिव उपलाकार मंगल द्रवित जल नीहार—निराला); वह स्थूल भी हैं, सूक्ष्म भी; वह व्यक्त भी हैं, अव्यक्त भी। कालिदास के लिए प्रकृति और पुरुष की सम्मिलित इकाई है—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थ प्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वमेव पुरुषं विदुः ॥ (उप०)

शिव भोज्य और भोक्ता दोनों हैं, इसलिए महाकवि वर्तमान युग के अनेक अद्वैतवादियों की तरह जड़-चेतन के द्वैत से पीड़ित नहीं हैं। आधुनिक कवियों में उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सच्चे उत्तराधिकारी आनन्दवादी जयशंकरप्रसाद थे, जिन्होंने लिखा था—"एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन। 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग में कवि ने शिव को विश्वमूर्ति कहा है और मल्लिनाथ ने **'विश्वं मूर्तिर्यस्य'** कहकर उसकी व्याख्या की है। यह विश्व ही शिव की मूर्ति है" (चिति का विराट् वपु मंगल—प्रसाद)।

कालिदास का यह दार्शनिक दृष्टिकोण साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। वह विश्व को शिवरूप मानते हैं, इसलिए उनकी सहानुभूति का क्षेत्र व्यापक है। वह मानवजीवन को क्षणभंगुर और संसार को नाशवान् कहकर वैराग्य का उपदेश नहीं देते। अनेक राजाओं को बुढ़ापे में वैरागी बनाकर उन्होंने एक रूढ़ि का अनुसरण-मात्र किया है। शिव-साधना गृहस्थ-धर्म में भी सम्भव है। वह रहस्यवादियों की तरह परोक्ष सत्ता के गीत नहीं गाते; वह प्रकृति और मानव का प्राण-स्पन्दन सुनते हैं और इस जीवन को अपनी कला का आधार बनाते हैं। इस अद्वैतवाद के कारण वह पौराणिक गाथाओं का काव्योचित उपयोग करते हैं और पुराण-वादियों की तरह सैकड़ों देवताओं में अन्धविश्वास उत्पन्न नहीं करते। उनके लिए गंगा भी **'शम्भोरम्भोमयी मूर्तिः'** (शम्भु की ही जलमयी मूर्ति) हैं और ब्रह्मा-विष्णु-महेश—**'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा'**—एक ही मूर्ति के तीन भेद हैं। इस कारण वह धार्मिक आग्रहों से मुक्त पूर्ण कवि हैं।

अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण कालिदास ने पौराणिक गाथाओं की रूढ़ियों से बचते हुए साधारणतः उनका कलात्मक उपयोग किया है। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, देवता, अप्सराएँ आदि उनके काव्य का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे यूनान की देवगाथाएँ वहाँ के प्राचीन काव्य का अंग थीं। इसके साथ ही उन्होंने अशोक और बकुल के फूलने आदि की किंवदंतियों का भी कलात्मक उपयोग किया है। सुन्दरियाँ मदिरा की कुल्ली करती थीं तो बकुल फूल उठते थे। जहाँ शिव तप कर रहे थे, वहां काम के आने पर सुन्दरियों के नूपुरसज्जित चरणों की अपेक्षा किये बिना ही अशोक खिल उठा। इसी तरह सुन्दरी के मुख को कमल समझकर भौंरा उसके पास आयेगा ही (चाहे वह मुख पार्वती का हो चाहे शकुन्तला का), यह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास के सौन्दर्यशास्त्र का एक सूत्र है। प्रचलित विश्वासों के अतिरिक्त कालिदास प्रकृति में मानवत्व का आरोप करके स्वयं नई रोचक गाथाएँ (myth) गढ़ लेते हैं। 'मेघदूत' इसका श्रेष्ठ निदर्शन है। कालिदास का युग उस काल के बहुत बाद का है, जब मनुष्य ने सत्य मानकर प्रकृति-सम्बन्धी अनेक चित्रमय उद्भावनाएँ की थीं। कालिदास रोमांटिक इसीलिए हैं कि वह उस बीते युग का स्वप्न देखते हैं। स्वयं उनके युग के अनुकूल महाकवि में एक तीक्ष्ण बौद्धिकता के दर्शन भी होते हैं। जिस चन्द्रमा का कलङ्क देखकर अनेक कवियों ने कल्पना-चमत्कार दिखलाया था, उसके बारे में कालिदास को ज्ञान है कि चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ती है। **छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे निरूपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः** (रघु०, सर्ग १४)। बाल चन्द्रमा जब बड़ा होता है, तब वह सूर्य का तेज पाकर ही बड़ा होता है : **पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः** (उप०, सर्ग ३)! इस प्रकार बौद्धिकता के कारण कालिदास की लोकोत्तर कल्पना के साथ यथार्थवादी प्रवृत्ति का मिश्रण हो गया है। सेंधा नमक चाटते हुए घोड़े (रघु०, सर्ग ५), शुष्क कर्दम वाले सिर को खोदते हुए सूर्य की किरणों से व्यथित वराहयूथ (ऋतुसंहार, सर्ग १), मुँह से लार और फेन निकालते हुए तृषाकुल महिषीकुल (उप०), वर्षा का पहला गँदला पानी जो कीटरजस्तृणान्वित है (उप०, सर्ग २), सभी औषधियों को व्यर्थ करने वाला सन्निपात (कुमार०, सर्ग २)—ये सब भी 'कुमारसंभव' में हैं।

कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें संसार की विभिन्न वस्तुओं का साम्य देखने के लिए वह सहज क्षमता विद्यमान है जिसके बिना कोई कवि नहीं हो सकता। उनके अधिकांश उपमान उनके सूक्ष्म इन्द्रियबोध और सौन्दर्यग्राहिका वृत्ति के परिचायक हैं। जहाँ-तहाँ उन्होंने बड़े साहस के साथ मौलिक उपमानों का प्रयोग किया है। अज के शोक के बारे में लिखा है—

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद। (रघु०, सर्ग ८)

जैसे प्लक्षप्ररोह सौधतल भेदकर नीचे निकल जाते हैं, वैसे ही शोक ने अज के हृदय को बेध दिया था। अज की विजय से प्रसन्न इन्दुमती के मुख के लिए लिखा है कि निश्वासबाष्प के दूर होने से जैसे दर्पण चमकने लगता है वैसे ही उसका मुख प्रसन्न हुआ। स्नान की हुई पार्वती ऐसी लगती हैं जैसे पर्जन्य जल से अभिषिक्त प्रफुल्लकाशा वसुधा हो। उनके अधिकांश उपमान प्रकृति से लिये गए हैं जिससे यही परिणाम निकलता है कि नगर से अधिक उन्हें प्रकृति ही प्रिय है।

कालिदास का काव्योत्कर्ष उपमाओं तक सीमित नहीं है। उनकी कला का शृङ्गार उनकी सुकुमार संवेदनाएँ हैं। ये संवेदनाएँ वस्तुओं का रूप ही ग्रहण नहीं करतीं, वरन् उनके जीवन का स्पन्दन भी सुनती हैं। उनकी सहानुभूति जगह-जगह सामन्त-व्यवस्था और सामन्त काव्य-परम्परा की रूढ़ियों का खण्डन करती चलती है। नारी का सम्मान करने में वह वाल्मीकि की परम्परा का अनुसरण करते हैं। दुष्यन्त के पास गर्भवती शकुन्तला को छोड़कर जाते हुए शारद्वत का कहना है कि पति की प्रभुता सर्वतोमुखी है; वह चाहे पत्नी को छोड़े चाहे ग्रहण करे और शार्ङ्गरव उसे पति के घर में दासी बनकर रहने की सलाह देते हैं। शकुन्तला क्रोध से दुष्यन्त को फटकारती है—"अनार्य, दूसरों को अपने जैसा समझते हो। तृणों से ढके हुए कुएँ की तरह कौन तुम्हारे सिवा धर्म का ढोंग करेगा?" और भी, "तुमने मुझे स्वच्छन्दचारिणी बना डाला, सो ठीक किया। मैं पुरवंश का विश्वास करके तुम जैसे व्यक्ति के हाथ पड़ गई,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके मुँह में मधु है और हृदय में विष है।" यही कालिदास ने महाभारत की रोष-भरी शकुन्तला की ही थोड़ी-सी झाँकी दी है।

गर्भवती सीता को जब लक्ष्मण वन में छोड़कर चलना चाहते हैं तब वह राम को राजा रूप में स्मरण करती हैं—"वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा।" इससे बड़ी फटकार राम के लिए और क्या हो सकती थी? यह स्वाभाविक था कि रोती हुई सीता को ढाढ़स बँधाने वही महाकवि आते जिन्होंने विलाप करते हुए क्रौञ्च पक्षी को देखकर पहला श्लोक रचा था। "शोकः श्लोकत्वमागतः" को स्मरण करते हुए कालिदास ने यह अनुपम छन्द लिखा है—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यतः।
निषाद विद्धाऽजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं"—वाल्मीकि के लिए यह उचित नहीं है। किसी संचित पुण्यफल की भाँति सौन्दर्यवादी के हृदय में आदि कवि के लिए श्रद्धा बची हुई है, मानो वाल्मीकि से होड़ करते हुए कालिदास ने उनसे कहलाया है—

उत्खात लोकत्रय कण्टकेपि सत्यू प्रतिज्ञेप्यविकत्थनेपि।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे॥

राम ने तीनों लोकों के कण्टक रावण का नाश किया; वह सत्य-प्रतिज्ञ हैं और आत्मप्रशंसा भी नहीं करते। फिर भी तुम्हारे प्रति अकारण निन्दा-व्यापार में प्रवृत्त होने वाले राम पर मैं क्रोध करता हूँ।

वाल्मीकि ही राम पर क्रोध कर सकते थे और कालिदास ही उसके बारे में यों लिख भी सकते थे।

वनवास ही नहीं, उससे पहले भी कालिदास की भक्ति राम से अधिक सीता में है। लंका से लौटने पर माताएँ आशीर्वाद देती हैं:

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोसौ वृत्तेन भर्त्ताशुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या॥

उन्होंने सीता से उठने को कहा और बोलीं—निश्चय ही भाई के साथ यह भर्ता तुम्हारे ही शुद्ध व्रत के कारण भारी संकट से पार हुए हैं। इस पर कालिदास की टिप्पणी है कि यह बात प्रिय भी थी और सत्य भी!

नारी-सौन्दर्य के प्रशंसक कालिदास मातृत्व की वन्दना करते हैं। पार्वती को पाकर मेना और भी शोभित हुईं। जब पार्वती ने अपने पुत्र को गोद में लिया तब वात्सल्य रस की अतिशयता से उनके स्तनों से दूध बह चला। अनेक स्थलों पर महाकवि ने सन्तान के प्रति इस ममत्व की अभिव्यञ्जना की है। इस प्रकार सौन्दर्यवादी कवि मानवता की उच्चभूमि तक पहुँचते हैं। इस भूमि में प्रवाहित उनकी करुणा साहित्य का स्थायी तत्त्व है।

साहित्य किन्हीं विशेष सामाजिक परिस्थितियों में ही रचा जाता है। इन परिस्थितियों की छाप उस पर पड़ती ही है। किन्तु साहित्य किसी समाज-व्यवस्था का यान्त्रिक प्रतिबिम्ब नहीं है। सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य रचने के उपकरण प्रस्तुत करती हैं, लेकिन इन वस्तुगत परिस्थितियों के साथ साहित्यकार का आत्मगत प्रयास भी आवश्यक होता है। यह बिलकुल सम्भव है कि उपकरण श्रेष्ठ हों किन्तु उनका समुचित उपयोग करने वाले का अभाव रहे। एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही समाज और एक ही वर्ग के व्यक्तियों की मेधा, सहृदयता, जीवन-दर्शन की क्षमता में भेद होता है। यह भेद बहुत-कुछ साहित्य का उत्कर्ष निश्चित करता है। अपने युग को प्रतिबिम्बित करने में कालिदास निष्क्रिय नहीं हैं। उनकी अपनी मेधा, सहृदयता, जीवन-दर्शन की क्षमता अपना पूर्ण चमत्कार दिखलाती है। इसी कारण उस युग का और उस समाज-व्यवस्था का कोई भी कवि कालिदास को नहीं पाता। वाल्मीकि और व्यास ही इसके अपवाद हैं। उनकी तुलना में कालिदास का काव्यजगत् संकुचित है। वह उदात्त चरित्र-निर्माण में अक्षम हैं। यद्यपि उन्होंने नाटक रचे हैं, फिर भी उनकी प्रतिभा मुख्यतः एक सौन्दर्योपासक 'लिरिक' कवि की है। मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण चित्रण बिना कोई भी व्यास और वाल्मीकि की बराबरी नहीं कर सकता। मनुष्य का अपना अनुभव जितना समृद्ध होता है, उतना ही समृद्ध वह साहित्य भी चाहता है। कालिदास की रोमाण्टिक कल्पना, उनका सूक्ष्म सौन्दर्यदर्शन हमारे लिए काफी नहीं है। तुलसीदास ने मध्यकालीन समाज के साधारणजनों की जिस व्यथा को पहचाना है और उसे वाणी दी है, उससे कालिदास स्वभावतः अपरिचित थे। महाभारत और रामायण में मनुष्य की विजय में जो उद्दाम आशा प्रकट की गई है, करुणा के साथ अन्यायी को दे देने के लिए जो संघर्ष-प्रियता व्यञ्जित हुई है, शृङ्गार के अतिरिक्त मनुष्य के भावजगत् का जो विविध और गम्भीर चित्रण हुआ है, वह कालिदास के लिए सुलभ नहीं है।

वह एक युग-विशेष के कवि हैं और उसकी अनेक विशेषताएँ आज हमें प्रिय नहीं हैं। नर-नारी के यौन-सम्बन्धों के वर्णन में उनकी रुचि बहुत जगह हमें कुरुचि मालूम होती है। वैसे तो यह मानव का (और पशुओं का भी) सार्वजनीन व्यापार है जो सनातन काल से अभी तक तो चलता ही आया है (आगे आणविक शक्ति के प्रकोप से मनुष्य उसके आयोग्य हो जाय, यह दूसरी बात है) किन्तु साहित्य का उत्कर्ष सार्वजनीन व्यापार के वर्णन से ही सम्भव नहीं होता। अपने सामाजिक विकास-क्रम में मनुष्य की साहित्यिक रुचि का भी परिष्कार होता चलता है। यह क्रम सामाजिक विकास से सम्भव होता है, किन्तु उसका सीधा परिणाम नहीं है। इसलिए नहीं है कि मनुष्य का इन्द्रियबोध उसे अपने जीवन के साथ मिला है, उसके आर्थिक सम्बन्धों की भित्ति पर उसकी रचना नहीं हुई। उसका भावजगत् भी आर्थिक सम्बन्धों के बदलने के साथ तुरन्त और पूर्ण रूप से नहीं बदल जाता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के भावों का सम्बन्ध प्रकृति से है, परिवार के लोगों से है, गाँव और नगर के मित्रों आदि से है। परिवार के सम्बन्ध बहुत-कुछ आर्थिक विकास से निश्चित होते हैं, किन्तु वे उसका प्रतिबिम्ब नहीं हैं। सौन्दर्येच्छा, यौन-प्रेम, सन्तान के प्रति स्नेह पशुओं में भी मिलता है; मानव समाज में वह सब विकसित होता है, कभी-कभी ह्रास की दिशा में भी चलता है जिससे मनुष्य पशुओं से नीचे गिर जाता है।

कालिदास के समय की अनेक धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक रूढ़ियाँ अब निरर्थक हो गई हैं। उन पर आधारित काव्यांश भी निर्जीव हो गया है। भोगवाद के लिए कवि का आग्रह सार्वजनीन होते हुए भी अनेक स्थलों पर अपरिष्कृत लगता है। यह सब होने पर भी वह महाकवि के रूप में उचित ही प्रतिष्ठित हैं। उनकी सौन्दर्यवृत्ति कण्व के तपोवन, शिव के कैलास और यक्ष की अलका से ही सन्तुष्ट होती है। उद्यानलताओं के बदले वह वनलताओं के सौन्दर्य पर अपने को उत्सर्ग कर देते हैं। वह रूप-रस-गन्ध-स्पर्शमय प्रकृति और मानव के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समृद्ध जीवन के गायक हैं। प्रकृति और प्राणिमात्र के जीवन-स्पन्दन साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। उमा का सौन्दर्य, वाल्मीकि का सात्विक क्रोध, इन्दुमती के लिए अज का शोक, भारत की धरती से कवि का प्रेम—ये सभी साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। इन्हें कवियों ने तुरन्त नहीं पा लिया; इन्हें पाने के लिए उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का लम्बा मार्ग तय करना पड़ा था। कालिदास ने उन मानव-मूल्यों को सहेजा और अनेक दिशाओं में उन्हें अधिक विकसित किया।

कालिदास के भोगवाद को रीतिकालीन कवियों ने अपनाया, किन्तु वे उसकी छाया ही छू सके। कालिदास के सूक्ष्म सौन्दर्यबोध को आज तक कोई नहीं पा सका। किन्तु साहित्य के मूल्यवान तत्त्व समाज-निरपेक्ष नहीं हैं। हम उन्हें अपने सामाजिक विकास-क्रम में ही पाते हैं। आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों के अनुरूप मनुष्य के बहुत से विचार बदल जाते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध और भावजगत् परिवर्तनशील होते हुए भी आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों की प्रतिच्छवि नहीं हैं। राजा-प्रजा के सम्बन्ध में, धार्मिक कर्मकाण्ड और वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में कालिदास के भाव और विचार साधारणतः हमें आकृष्ट नहीं करते। किन्तु उनकी यह कल्पना कि राज्य में कोई बन्दी नहीं है, राजा के निर्लोभी होने से प्रजा अर्थवान होती है, उनके भावुक हृदय का परिचय देती है और उसमें बाद को आने वाले कवियों के लोक-प्रेम के बीज हम देखते हैं। नारी के प्रति उनकी सम्मान-भावना, मातृत्व का आदर, जीवमात्र से सहानुभूति, इस देश की प्रकृति से अगाध स्नेह, अपनी समग्र चेतना से व्यापक विश्व-जीवन का स्पन्दन सुनने की शक्ति उनकी आत्मविभोर गेयता, भाषा पर असाधारण अधिकार और उनकी चरित्रगत नम्रता जो उनकी कला के पीछे छिपी हुई है—ये सभी बातें आज भी अभिनन्दनय हैं, अनुकरणीय भी। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ पर कालिदास का गहरा प्रभाव है और 'तुलसीदास' लिखते समय निराला महाकवि के अध्ययन में डूबे हुए थे।

कालिदास के काव्य-साहित्य के ये सब तत्त्व स्थायी ही नहीं हैं, वे आधुनिक भारतीय साहित्य में अन्तर्धारा की भाँति प्रवाहित भी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

रामरतन भटनागर

प्रतीकवाद

: १ :

प्रतीकवादी आन्दोलन को हम एक प्रकार से स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का विकास ही कह सकते हैं, यद्यपि दोनों में असमानताएँ कम नहीं हैं। दोनों धाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध को देखने के लिए हमें उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाना होगा।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हमें इंगलैंड में एक नई धारा का स्पन्दन सुनाई पड़ने लगता है, जो काव्य के आगस्टन चिन्तन को एक बार झकझोर देता है। यही स्पन्दन बाद में भाव और विचार के उन विप्लवी स्रोतों का रूप ले लेता है, जिन्हें सामूहिक रूप से 'रोमाण्टिक धारा' या 'स्वच्छन्दतावाद' कह दिया गया है। इस आन्दोलन की कई विशेषताएँ थीं। इसने रूढ़ि, परम्परा और श्रद्धा के स्थान पर अनास्था को महत्त्व दिया और काव्य-रुचि की सापेक्षिकता की घोषणा की। कविता स्वयं अपना मानदण्ड है। उसके बाहर किसी भी दूसरे मानदण्ड को हमें नहीं ढूँढ़ना है, यह दृष्टिकोण रखा गया। कल्पना की उन्मुक्ति इस आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में उसे सत्य से भी ऊँचा सिंहासन दे दिया गया। कीट्स के शब्दों में 'वाट द इमेजिनेशन सीज़ेज एज ब्यूटी मस्ट बी ट्रुथ'। कल्पना में जो सुन्दर लगे वह निश्चय ही सत्य है। पिछले युग में तर्क को सर्वोपरि माना गया था, नये युग में कल्पना को वही स्थान मिला। प्लेटो ने काव्य को 'अनुकृति' माना था और आगस्टन काव्य में इसी धारणा की प्रधानता थी। परन्तु रोमाण्टिकों का कहना था कि मानव-मन प्रकृति का दर्पण नहीं है, वह बहिर्सत्य को प्रतिबिम्बित नहीं करता, वह नये-नये संसारों का निर्माण करता है। कवि वस्तु-जगत् के आधार पर जिस कल्पना-जगत् का निर्माण करता है, उसके अपने नियम हैं। कल्पना को एक अत्यन्त चमत्कारी आश्लेषक शक्ति माना गया और कल्पना एवं जल्पना में अन्तर स्थापित किया गया। कल्पना अधिक गहरी और संयुक्त वस्तु है। इस प्रकार काव्य-प्रक्रिया में कल्पना-शक्ति को महत्त्व प्राप्त हुआ, क्योंकि उसी द्वारा कवि की विभिन्न प्रवृत्तियों और कर्तृत्वों में सन्तुलन स्थापित होता है। कॉलरिज ने काव्य-प्रक्रिया में कल्पना के महत्त्व को इस प्रकार स्थापित किया है : "This power, first put into action by the will and understanding, and retained under their irremissive, though gentle and unnoticed, control, reveals itself in the balance or reconcilement of opposite or discordant qualities : of sameness, with difference; of the general with the concrete; the idea with the image; the individual with the representative; the sense of novelty and freshness with old and familiar objects; a more than usual state of emotion with more than usual order; judgement

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ever awake and steady self-possession with enthusiasm and feeling profound or vehement.[१] मन की स्वतन्त्र प्रकृति के रूप में तर्क या बुद्धि का काव्य-प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं था। कल्पना के सीधे सम्पर्क से कवि जिस सत्य को उद्घाटित करता है, या कवि-कर्म द्वारा शब्दों में जिस प्रकार उस अनुभूत सत्य को बाँधता है, उसे तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। वास्तव में कॉलरिज की यह परिभाषा आदर्श स्थिति की सूचक है। अधिकांश कवियों ने कल्पना के सभी तत्त्वों का उपयोग नहीं किया है। अतिभावुकता, अनुभूति की आत्यन्तिकता, भावोन्माद, अनियन्त्रित असंयम—यही तत्त्व अधिक लोकप्रिय हैं। स्वच्छन्दतावादी जीवन-दर्शन और कला का मूल मन्त्र है, भावोन्मेष। जिस स्वच्छन्दता और असंयम को लेकर कवि आगे बढ़े, वही इस काव्यधारा को शक्ति और दुर्बलता बन गए। स्वच्छन्दतावादी कवियों की कल्पना अप्रतिहत गति से समस्त विश्व पर छा गई और उसने जीवन के उपेक्षित और दुर्गम स्तरों में भी सौन्दर्यान्वेषण में सिद्धि प्राप्त कर ली। जहाँ भी उसे सौन्दर्य के दर्शन हुए, वहीं उसने अपरिसीम आनन्द और उल्लास का अनुभव किया। वास्तव में शताब्दियों से विश्व के वस्तु-जागतिक सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म और भावोन्मेषपूर्ण संकलन नहीं हुआ था। सौन्दर्य ही नहीं, विभ्रम और भय के प्रति भी रोमांटिक कवियों का आकर्षण था। स्वच्छन्दतावादी कल्पना सुदूरवर्ती, अद्भुत और असाधारण में रम गई। करुण, भयानक, अद्भुत, सभी रसों में उसने सौन्दर्य के दर्शन किये, यद्यपि शृंगार के प्रति वह सबसे अधिक संवेदित थी।

स्वच्छन्दतावादी काव्य का कल्पना-जगत् वस्तु-जगत् से इसलिए भिन्न है कि उसमें आत्यन्तिकता और असाधारणता के तत्त्वों की प्रधानता है। कभी-कभी स्वच्छन्दतावादी कवि और पाठक जीवन की विषमता तथा कटुता से भागकर इस शीतलच्छाय प्रमोद-वन में विहार करने लगा है और कदाचित् इसीलिए रोमाण्टिकों पर 'पलायन' का आरोप लगाया जाता है। परन्तु महत्तम स्वच्छन्दतावादी कवियों ने जीवन को भ्रामक न बनाकर उसे अप्रतिभ सौन्दर्य से मण्डित किया है और एक नई ही परिभाषा सामने रखी है।

कवि-स्वातन्त्र्य के स्वच्छन्दतावादी सिद्धान्त ने छन्दों के क्षेत्र में भी प्रयोग किया, क्योंकि स्वच्छन्दतावादी भावनाओं और परम्पराओं को परम्परागत रूढ़ छन्दों में ढालना असम्भव बात थी। फलतः काव्यभाषा और छन्दों के सम्बन्ध में समस्त प्रतिबन्ध अमान्य हुए और कवियों ने इन क्षेत्रों में नई-नई उद्भावनाएँ आरम्भ कीं। भाषा-शैली के क्षेत्र में दो दृष्टिकोण हमारे सामने आरम्भ में ही आते हैं। एक दृष्टिकोण वर्डस्वर्थ का सरल बोलचाल की भाषा का था। वर्डस्वर्थ के अनुसार गद्य-पद्य की भाषा में अन्तर नहीं होना चाहिए। उनका कहना था कि छन्द आरोपित वस्तु है, कविता की मूलभूत आवश्यकता नहीं है। परन्तु कॉलरिज का विश्वास था कि काव्य-कृति में भावना और धारणा, तात्कालिक स्फूर्ति और बोधमय लक्ष्य के ताने-बाने अनिवार्य रूप से बुने होते हैं और इसीलिए कवि की विशिष्ट और असाधारण भाषा-शैली तथा चुने हुए छन्दों का उपयोग करना होता है। अन्य रोमाण्टिक कवियों को कॉलरिज का पक्ष ही ग्रहीत हुआ।

रोमाण्टिक काव्यधारा की कुछ त्रुटियाँ भी क्रमशः स्पष्ट होने लगीं। उनमें से कुछ ये हैं—

(१) चेतन लक्ष्य की अपेक्षा भावानुभूति को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(२) कवि बुद्धि या तर्क को काव्य-प्रक्रिया में स्थान देने को तैयार नहीं है। उसका कहना

१. S. T. Coleridge : Biographia Literaria, Pt. I, P. 200.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि इससे कवि की सहज काव्य-स्फूर्ति नष्ट हो जायगी। फलतः उस अनुभूति की अभिव्यक्ति की मार्मिकता में भी कमी हो जायगी।

(३) रोमांटिक काव्य में कलाकारिता को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है।

(४) रोमांटिक काव्य में वह वस्तु नहीं है जिसे क्लासिकल परिभाषा में 'डिस्पोज़ीशन' या आकृति-सौन्दर्य कहते हैं।[1]

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की विशेषताएँ हैं कवि-स्वातन्त्र्य, प्राचुर्य, कल्पना, बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता पर बल, कला-जागरूकता और विन्यास का अभाव। ये तत्त्व हमें विभिन्न कवियों में भिन्न-भिन्न रूप में मिलते हैं। भिन्न-भिन्न कवियों ने कवि-स्वातन्त्र्य और कल्पना से विविध बोध ग्रहण किए हैं और इस विभिन्नता के कारण विभिन्न कवियों के काव्य और कलागत दृष्टिकोण में धरती-आकाश का अन्तर है। वास्तव में रोमांटिक धारा को हम एक अत्यन्त विस्तीर्ण अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं।

यूरोपीय काव्य में रोमांटिक धारा का सर्वोन्मेष हमें अंग्रेजी काव्य में मिलता है। फ्रांसीसी रोमांटिक कवि अपेक्षाकृत असफल रहे हैं। अंग्रेजी कवियों में प्रमुख हैं ब्लेक, वर्ड्स्वर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स और बायरन। फ्रांसीसी रोमांटिक कवियों में सबसे अधिक महत्ता लामार्तीन, शेतूब्रियाँ, विक्टर ह्यूगो, जेरार्द द नर्वल, अल्फ्रेड द मुसे और विग्ने की हैं। ऐन्द्रे जीद ने इन कवियों में ह्यूगो को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। वास्तव में फ्रांसीसी रोमांटिक कवि रोमांटिक काव्य के किसी एक या अधिक तत्त्वों में सीमित हो गए। रोमांटिक धारा का जैसा विविध और सम्पूर्ण विकास हमें अंग्रेजी रोमांटिकों में मिलता है, वैसा हमें फ्रांस रोमांटिक कवियों में नहीं मिलता।

रोमांटिक काव्य-सिद्धान्तों का सबसे विशुद्ध रूप हमें ब्लेक के सिद्धान्तों में मिलता है। ब्लेक के काव्य-सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन के ही अंग हैं। ब्लेक के अनुसार कल्पना एक रहस्यमयी प्रवृत्ति है जिससे कवि वास्तविक और शाश्वत जगत् से, जिसकी यह दृश्यमान जगत् प्रतिच्छाया-मात्र है, परिचित होता है। कल्पना द्वारा कवि आत्मा जीवन में प्रवेश करता है, जो 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' है और इसी पृथ्वी पर, इसी जीवन में, जिसकी अनुभूति सम्भव है। प्रातिभ ज्ञान द्वारा इस आत्मा के जीवन से हमें जो प्राप्त होता है तर्क और इन्द्रिय-बोध को अधिक महत्त्व देकर हम उससे वंचित रह जाते हैं। विशुद्ध अनुभूति द्वारा मनुष्य प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित शाश्वत और अनन्त का आभास प्राप्त करता है। मनुष्य इन्द्रिय-ज्ञान और तर्क द्वारा एक बन्दीगृह का निर्माण कर लेता है। कल्पना द्वारा ही वह बन्दीगृह से बाहर झाँककर शाश्वत जीवन की झाँकी पा सकता है। ब्लेक की मान्यता है कि कल्पना में ही मनुष्य की सभी आत्मिक प्रवृत्तियों, जैसे प्रेम, आस्था, साहस, शक्ति, आकांक्षा आदि,

१. We are not surprised if study & imitation go to the winds, since "Knowledge of ideal beauty", in Blake's Phrase, "is not to be acquired; it is born in us."; Yet the fundamental discipline exerted by the poet on his own imagining that sense of structure & proportion which enhances the beauty of a work & makes it appeal as "whole & not only in fragments" —'disposition' in this sense, whether attained by study or by innate power, is too often rejected by the Romantics, to their great loss. (Jean Stewart : 'Poetry in France & England', P. 107)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निवास है। तर्क और कल्पना का विरोध है। तर्क और बुद्धि मानव की आत्मिक प्रगति को कुण्ठित कर देते हैं। कला द्वारा मनुष्य उस अनन्त से संस्पर्शित होता है और इसलिए कला शाश्वत जीवन की अभिव्यक्ति है। ब्लेक कला के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि इससे मनुष्य की आत्मा कुण्ठित हो जाती है। फलतः कवि के लिए छन्दों के बन्धन को तोड़ना अनिवार्य बात है। काव्य में मानव-मन की सम्पूर्ण और अबाध अभिव्यक्ति है, यह ब्लेक की मान्यताओं का मूलाधार है। प्रातिभ ज्ञान या प्रत्यक्षानुभूति द्वारा ही कवि और पाठक सौन्दर्य तथा परीक्षा से साक्षात्कार करते हैं और काव्य के विशुद्ध, आत्यन्तिक और चिरनवीन रहस्यानुभवों में प्रविष्ट होते हैं। इन मान्यताओं में हम स्वच्छन्दतावाद और कवि के व्यक्तित्व की सबसे व्यापक तथा सबसे अधिक उन्मुक्त स्थिति पाते हैं।

वर्ड्सवर्थ के लिए भी कल्पना उतनी ही रहस्यमयी है जितनी ब्लेक के लिए। इसी कल्पना द्वारा वह सामान्य फूल में सम्पूर्ण जीवन को आत्मसात् करके देख लेता है, परन्तु वर्ड्सवर्थ की कल्पना उसे जीवन के स्थूल और ताथ्यिक संस्पर्श से अलग नहीं करती। उसकी अनन्त और शाश्वत जीवनानुभूति जीवन के दैनंदिन अनुभवों और प्रकृति के सर्वसुलभ स्पन्दनों पर ही आधारित है। रोमाण्टिक काव्य का भावातिरेक, कल्पना-प्राचुर्य और कलात्मक आत्यंन्तिकता वर्ड्सवर्थ के काव्य के तत्त्व नहीं हैं। उसमें अनुभूति की तीव्रता और आत्यन्तिकता हमें नहीं मिलती। वर्ड्सवर्थ ने कविता को प्रशान्त क्षणों में पुनर्जाग्रत रसात्मक अनुभूति माना है। इससे उसके काव्य में हमें गम्भीरता और संयम की तो पराकाष्ठा मिलती है, परन्तु बहा देने वाला भावोद्रेक और रोमाण्टिक उच्छ्वास उसकी विशेषता नहीं है। सरल अभिव्यञ्जना-शैली ने उसके काव्य को सर्वग्राह्य और मार्मिक बना दिया है। फिर भी वर्ड्सवर्थ में वैयक्तिकता की पराकाष्ठा है और विशुद्ध, ऐकान्तिक जीवनानुभूति के प्रति उसका आग्रह किसी भी अन्य रोमाण्टिक कवि से कम नहीं है। कल्पना उसके लिए प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है। सामान्य वस्तुओं का सौन्दर्य अतिपरिचय और स्वार्थ-भाव के कारण कुण्ठित हो जाता है। कल्पना द्वारा कवि उस सौन्दर्य से साक्षात्कार करता है और उसे विशुद्ध तथा विस्तीर्ण रूप से पाठक को देने का प्रयत्न करता है। कल्पना द्वारा उद्घटित इस वस्तु-सत्य या मूल सौन्दर्य में जो भी बाधक है, वह कवि को स्वीकार नहीं है। फलस्वरूप वर्ड्सवर्थ काव्य-रूढ़ियों, परम्पराओं, अलंकृतियों और दूरागूढ़ कल्पनाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। विशिष्ट एवं अभिजात भाषा-शैली का तीव्र और व्यापक विरोध हमें वर्ड्सवर्थ में मिलता है। इस प्रकार वैयक्तिकता और स्वच्छन्दतावादिता का एक नये तल पर प्रसार हमें वर्ड्सवर्थ के काव्य में उपलब्ध होता है।

कॉलरिज में हम वर्ड्सवर्थ के विपरीत असाधारण, अतिप्राकृतिक और अद्भुत के प्रति विलक्षण रूप से आग्रह पाते हैं। कल्पना-शक्ति द्वारा उसने असम्भाव्य को लेकर एक चित्र-विचित्र, सूक्ष्म और विविध जगत् का निर्माण किया है, जिसमें मध्ययुगीन गाथाओं, यात्रा-वृत्तान्तों, स्वप्न और सत्य की रूपरेखाएँ मिलकर एकाकार हो गई हैं। विचित्रालयों और संगीत के सूक्ष्म विधानों एवं भाषा की चित्रात्मक और व्यञ्जनात्मक सम्भावनाओं द्वारा कॉलरिज जादूगर की भाँति अद्भुत रहस्य और अप्रतिम को क्षण-क्षण पर जगाने में समर्थ है। रोमाण्टिक कल्पना की संश्लेषात्मक और अभिचारी विशेषताएँ हमें कॉलरिज में सबसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक मात्रा में मिलती हैं।

शेली और कीट्स के काव्य-सिद्धान्तों तथा काव्य-परिपाटियों में भी काफ़ी विभिन्नता है। शेली आदर्श की उस ऊँची स्थिति की कल्पना करता है कि वह उसके लिए रहस्यात्मक हो जाता है। वह कवि के जगत् को दृश्यमान जगत् से अधिक सन्तुलित, सुन्दर तथा ग्राह्य मानता है और उसके काव्य में एक प्रकार की पलायनशीलता हमें मिल जाती है। परन्तु साथ ही विश्व की अशान्ति और असन्तुलन के प्रति विद्रोह तथा पुनर्निर्माण की इच्छा भी हमें पूर्ण मात्रा में मिलती है। शेली सौन्दर्य को मानवात्मा की उन्मुक्ति की कुञ्जी मानता है और उसका विश्वास है कि सौन्दर्यानुभूति द्वारा ही संसार अन्ध-संस्कारों, रूढ़ियों और स्वार्थों के बन्धन से मुक्ति पा सकता है। सौन्दर्य की अन्यतम उपासना ही शेली का कवि-दर्शन है। काव्य सामाजिक साम्य, सन्तुलन और नैतिकता का उद्बोधक बनकर ही सफल है, ऐसा शेली का विश्वास है और इस प्रकार उसने रोमांटिकों की स्वच्छन्द और निरपेक्ष कल्पना को उपयोगितावाद से ग्रथित कर दिया, यद्यपि यह उपयोगितावाद सूक्ष्म और व्यापक है। ब्लेक के बाद रोमांटिक काव्यधारा का सबसे सुन्दर उदाहरण शेली ही है।

कीट्स के काव्य और उसके पत्रों में हम उसकी काव्य-प्रक्रिया तथा उसके काव्य-सिद्धान्त का विशद् विवरण पाते हैं। कलाकार की आत्मचेतना और कलाजागरूकता उसमें सब रोमांटिकों से अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्त्वों के प्रति विशेष आग्रह है और उसके लिए काव्य आत्मगत भावनाओं की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार कीट्स के काव्य में क्लासिकल तत्त्वों का सम्मिश्रण हो गया है। 'ओडज़' और 'हाइपीरियन' उसकी काव्य-कला के सर्वोच्च विकास हैं और उनमें हमें जिस कवि और कलाकार के दर्शन होते हैं, वह शेली और वर्ड्स्वर्थ से भिन्न है।

इंगलैण्ड की रोमांटिक काव्यधारा में हम जीवन और काव्य का पारस्परिक विरोध ही पाते हैं। कल्पना-जगत् और वस्तु-जगत् में जो अन्तर पड़ गया था, उसने काव्य को विशिष्टता देते हुए भी उसे जन-साधारण के लिए अग्राह्य बना दिया था। काव्य-रचना के लिए कवि का व्यक्तित्व ही काफ़ी समझा जाने लगा। कवि के स्वप्न, उसकी आकांक्षाएँ, उसकी संवेदनाएँ, उसके अपने मौलिक लय-ताल और वैयक्तिक कल्पना-चित्र ही काव्य के उपादान बने। जैसे जैसे समय बीतता गया, जीवन और काव्य में यह व्यवधान बढ़ता गया। अन्त में कवियों का आत्म-विश्वास डिग गया। भौतिकवादी संस्कृति के विकास और विज्ञान एवं बुद्धिवाद के आग्रह से भावना-जगत् में परिवर्तन होना आवश्यक था। आदर्शवाद, सौन्दर्यवाद, कल्पना और स्वच्छन्दता रोमाण्टिक काव्य के चार स्तम्भ थे। बुद्धिवाद, विज्ञानवाद, नैतिकता और सामाजिक रूढ़िवाद ने इन्हें एकदम हिला दिया। ढहे तो ये स्तम्भ नहीं, परन्तु जर्जर अवश्य हो गए। परवर्ती काव्य (विक्टोरियन युग के काव्य) में हम बार-बार कला को जीवन के पास लाने, या जीवन से भागकर कला की शरण जाने का प्रयत्न पाते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि कवि केन्द्रच्युत हो गया था और केवल-मात्र कल्पना के पंखों पर उड़कर सौन्दर्य के अतीन्द्रिय देश तक पहुँचना अब उसके लिए असम्भव बात थी। विक्टोरियन-युग के कवियों ने रोमांटिक काव्योद्भावनाओं और विचार-सरणियों के सूत्र का ही विकास किया और उन्हें अतिवाद तक पहुँचा दिया। पूर्व-वर्ती धारा के विभिन्न तत्त्वों के ग्रहण और त्याग द्वारा उन्होंने अपने काव्य में कुछ विशिष्टता तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखलाई, परन्तु किसी नये काव्य-सिद्धान्त को जन्म नहीं दिया। काव्य-सम्बन्धी धारणा में कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखलाई नहीं देता। अधिकांश कवि व्यक्तिवादी थे और वे स्वतन्त्र रूप से आगे बढ़े। केवल प्री-रेफ़लाइट वर्ग के रूप में एक विशेष 'स्कूल' के दर्शन हमें होते हैं।

विक्टोरियन-युग के कवियों में टेनीसन, ब्राउनिंग और आर्नाल्ड प्रमुख हैं। इनमें आर्नाल्ड ने एक बार फिर क्लासिकल सिद्धान्तों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। ब्राउनिंग और टेनीसन के काव्य में हम जिन तत्त्वों को पाते हैं वे मूल रूप से रोमाण्टिक काव्य-तत्त्वों का अवशेष होते हुए भी परस्पर दो विरोधी ध्रुवों को सूचित करते हैं। ये दोनों कवि दूसरी पीढ़ी के रोमाण्टिक कवियों से मिलते-जुलते हैं। वास्तव में वे उसी श्रेणी के कवि हैं। परन्तु वे मूलतः कवि हैं, उनके लिए काव्य-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कला और जीवन में सन्तुलन स्थापित करने में दोनों असफल रहे हैं। टेनीसन मूल रूप से गीति-कवि हैं, परन्तु उत्तर जीवन में वे कवि से अधिक उपदेशक बन गए हैं। शेली भी कवि को द्रष्टा मानते हैं, परन्तु टेनीसन से अधिक व्यापक दृष्टिकोण से। वास्तव में टेनीसन की उपदेशात्मक प्रवृत्ति और उनकी रूपात्मक कलाकारिता ने उन्हें 'क्लासिकल' कवि के निकट पहुँचा दिया है। ब्राउनिंग के काव्य में हमें रोमाण्टिक व्यक्तित्व का ही विकास मिलता है। ब्राउनिंग कवि-स्वातन्त्र्य का उपयोग करते हुए नये-नये काव्य-रूपों की सृष्टि करते हैं, जिनमें उनकी प्रवृत्तियाँ और अभिरुचियाँ पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हैं। पाठकों की बौद्धिक चेतना और सौन्दर्य-भावना की ग्राहक-शक्ति की उपेक्षा उनकी रोमाण्टिक विद्रोहात्मक प्रवृत्ति की ही सूचना देती है। भाषा की निरंकुशता और कलाकारिता के प्रति अन्यमनस्कता ब्राउनिंग की रोमाण्टिक कला की दो विशेषताएँ हैं। रोमाण्टिक कवि की उद्बुद्ध सौन्दर्य-भावना के विपरीत प्रतिक्रिया-रूप में ब्राउनिंग में कुरूपता और अभव्यता के प्रति आग्रह मिलता है। ब्राउनिंग शक्ति, स्वतन्त्रता और भावोन्मेष के पुजारी हैं और ये उनके जीवन-दर्शन के प्रमुख अंग हैं। उनमें उस आत्यन्तिक कल्पना का अभाव है जिससे ये विभिन्न तत्त्व मिलकर एकाकार हो जाते। लक्ष्यबहुलता, अनियन्त्रण और उपदेशात्मकता पर आग्रह होने के कारण उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता।

वास्तव में रोमाण्टिक धारा का पहला अग्रचरण हमें प्री-रेफ़लाइट काव्यधारा में मिलता है। रॉजेटी, मॉरिस, स्विनबर्न—इन्हें हम इस धारा का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं। रॉजेटी के अनुसार नई काव्यधारा (प्री-रेफ़लाइट काव्यधारा) का अर्थ है 'वस्तुवाद, भावप्रवण परन्तु साथ ही सूक्ष्म भी।' ('रियलिज़्म, इमोशनल बट एक्सट्रीमली माइन्यूट') रोमाण्टिक कवियों की भाँति इस वर्ग के कवियों में भी मतैक्य नहीं था। रॉजेटी को हम कीट्स और कॉलरिज के पास रख सकते हैं। तीनों में समान रूप से सौन्दर्य के प्रति ऐन्द्रिय आसक्ति है और तीनों ही रहस्य और स्वप्न के भयद संसार में विचरण करते हैं। मॉरिस अपने काव्य-विषयों और प्रतीकों के लिए मध्ययुग की ओर जाता है, जब जीवन दुर्दमनीय आकांक्षाओं और अप्रतिहत कर्तृत्व से भरा हुआ था। सच तो यह है कि प्री-रेफ़लाइट वर्ग के कवियों ने अपना लक्ष्य इतना ऊँचा रखा था कि वह उनसे सध नहीं सका। इन कवियों ने जीवन-स्थितियों से भागकर एक सुन्दर कल्पना-लोक का निर्माण किया और उसी के हो रहे। स्विनबर्न विशुद्ध काव्य का समर्थक था और उसने काव्य में नादात्मकता और संगीत-तत्त्व का इतना उपयोग किया कि वह कदाचित्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों के नाद-तत्त्व तक रह जाता है और इसी एक तत्त्व से अर्थ-बोध कराने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में रोमांटिसिज़्म का प्राधान्य रहा और उसकी प्रक्रियाएँ नये-नये रूपों में ग्रहीत होती रही।

: २ :

यहीं से प्रतीकवाद की धारा का आरम्भ होता है। इस धारा का सम्बन्ध फ्रांस से है जहाँ रोमांटिक आन्दोलन असफल रहा था और निर्बल था। फ्रेञ्च रोमांटिक काव्यधारा के दो रूप हमें मिलते हैं। एक में भावुकता को प्रधानता है, कवि अपनी भावधारा और संवेदना के आधार पर ही काव्य-भवन का निर्माण करता है और उसका विश्वास है कि मानवता के दुःखों का निराकरण उसका कर्त्तव्य है। दूसरा वर्ग कलात्मक प्रयोगों और सुन्दर शब्द-चित्रों को प्रधानता देता है। ह्यू गो में हमें इन दोनों वर्गों या दृष्टिकोणों का समुच्चय मिल जाता है। ह्यू गो के ही 'ले ओरियंतेले' के आधार पर गातियर ने एक विस्तृत कला-सिद्धान्त का निर्माण किया, जिसमें हमें प्रतीकवाद के परवर्ती विकास के चिह्न मिलते हैं। गातियर मूलतः चित्रकार था, रूपचित्रण और रंगलेखन के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक था। उसके लिए स्वच्छन्दतावाद स्थूल वस्तुओं के सौन्दर्यांकन तक सीमित था। कविता में वह इसी इन्द्रिय-गोचर सौन्दर्य को वाणी देना चाहता था और इस दिशा में कवि की सफलता ही उसकी सबसे बड़ी सफलता थी। स्वच्छन्दतावादी कवियों की आत्माभिव्यञ्जना के स्थान पर उसने निर्वैयक्तिक, वस्तुगत दृष्टिकोण को प्रधानता दी और रोमांटिक काव्य की अस्पष्टता तथा भावोन्मूलक धारावाहिकता के स्थान पर स्थूलता और आयास-सिद्ध सज्जा काव्य में आई। फलस्वरूप एक ऐसी काव्य-पद्धति का विकास हुआ जिसे पर्नासी काव्य-पद्धति का विकास कहा जा सकता है। कवियों का यह वर्ग काव्य को उपदेशात्मक या नीतिमूलक न मानकर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करता है। परन्तु यह निश्चित है कि इस कलावादिता के पीछे महत् विषयों की उपेक्षा है और कवि की भावुकता एवं महत् विषय का स्थान कलाकारिता कभी भी नहीं ले सकती। फिर भी इस नये सिद्धान्त का स्वागत हुआ। रोमांटिक काव्य की अतिभावुकता और समसामयिक समाज के भौतिक दृष्टिकोण के विपरीत इस धारा में जीवन से ऊपर उठकर, तटस्थ भाव से सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा थी। कला-जगत् का सौन्दर्य ही उसकी एकमात्र सार्थकता थी। इस पर्नासी साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला की एकनिष्ठ उपासना में जब कलाकार जीवन की वास्तविक और गम्भीर सम्भावनाओं से हट जाता है तब उसकी रचना अनिवार्य रूप से निर्बल हो जाती है। गातियर के बाद इस वर्ग के दूसरे कलाकार लेकान्ते द लिस्ले और जोसेमेरिया द हेरेदिया हैं। इन कलाकारों में हमें निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का पालन, कलात्मक संयम, अप्रतिहत आत्माभिव्यञ्जना के प्रति उपेक्षा-भाव, विवरणात्मकता, कलाकारिता अथवा कलात्मक सज्जा के प्रति आग्रह जैसे नये तत्त्व मिलते हैं जो उन्हें रोमांटिकों के विरोध में रख देते हैं। इन्होंने काव्य को जीवन से समीकृत करने की चेष्टा की है और सामयिक तत्त्व-चिंता तथा वैज्ञानिक प्रगति को काव्य में स्थान दिया है। विज्ञान और कल्पना के विभिन्न तत्त्वों को समीकृत करने का यह नया प्रयास निस्सन्देह अभिनन्दनीय था। इस प्रयास में कवियों को पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त नहीं हुई। इन कवियों में हम पहली बार प्रतीकों का निश्चित और सैद्धान्तिक प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखते हैं। परन्तु इन कवियों की रचनाओं में अन्ततः 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त की ही जय हुई है और जीवनगत गम्भीर आध्यात्मिक मूल्यों की बहुत-कुछ हानि या उपेक्षा भी हुई है।

पर्नासी और प्रतीकवादी कवियों के बीच में हम बोदलेर को खड़ा पाते हैं। वास्तव में बोदलेर अँग्रेज़ी और फ्रांसीसी समकालीन कवियों को जोड़ने वाली शृङ्खला है। अँग्रेज़ी के ह्रासोन्मुख (डिकेडेण्ट) काव्य पर बोदलेर का व्यापक प्रभाव दिखलाई देता है और परवर्ती फ्रेंच प्रतीकवादियों ने भी उनसे बहुत-कुछ ग्रहण किया है। बोदलेर में हमें रूपगत पूर्णता का तो आग्रह मिलता ही है, परन्तु उसने पर्नासी कवियों के विपरीत अपनी निजी और कदाचित् रोमाण्टिकों से भी अधिक गम्भीर एवं आत्यन्तिक अनुभूतियों को अपने काव्य में वाणी दी है। बोदलेर में हमें आदर्श तथा यथार्थ का संघर्ष बड़े मार्मिक ढंग से मिलता है और इस संघर्ष से टूटकर वह अपनी स्वप्न-यात्रा के लिए बराबर तैयार दिखलाई पड़ता है। अद्भुत गन्धों और विचित्र गीत-ध्वनियों के प्रति उसकी आसक्ति है। उसने अपनी अन्तरानुभूतियों और मनःछलनाओं को बड़े वैभव के साथ वाणी दी है। वस्तु-जगत् के पीछे परोक्ष जगत् को वह रहस्यवादियों की भाँति पकड़ने में सफल है। उसके काव्य में स्वप्न-भंग का महान् चीत्कार भी है। निराशा, विद्रोह और पीड़ा में आनन्द की विजुगुप्सक भावना ने उसके काव्य को लांछित परन्तु अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। सबसे बड़ी चीज़ यह है कि बोदलेर ने स्पष्ट रूप से अपने काव्य-सिद्धान्तों की घोषणा की और इस दिशा में प्रतीकवादियों का पथ-प्रदर्शन किया।

बोदलेर के प्रभाव का एक पक्ष उसके काव्य-सिद्धान्त हैं और दूसरा पक्ष उसका काव्य। सम्भवतः बोदलेर ने अपने काव्य-सिद्धान्तों के निर्माण में एडगर एलेन पो की समीक्षात्मक स्थापनाओं से सहायता ली है, जिनमें कॉलरिज और शेली के बहुत से तत्त्व हमें मिल जाते हैं। बोदलेर के अनुसार काव्य के माध्यम से कवि पीड़ा को आनन्द का रूप देता है और उसके द्वारा उसके मनःस्वप्न को स्थायित्व प्राप्त होता है। कला-जगत् में ही कवि के आदर्शों को स्थायित्व और स्थूलता मिलती है। प्रकृति में सौन्दर्य और प्रगति के तत्त्व बोदलेर को दिखलाई नहीं देते। कला (या कलाकारिता) में ही वह सौन्दर्य की प्रतिष्ठा मानता है। फलतः उसके काव्य में कविता के कला-तत्त्वों का व्यापक प्रसार है। काव्य के रूपात्मक, नादात्मक और मूर्तिमत्तात्मक पक्षों का सम्पूर्ण विकास हमें बोदलेर के काव्य में दिखलाई देता है। उसके काव्य में परवर्ती विकास के अंकुर स्पष्टतः अन्तर्निहित हैं। उसकी स्वप्निलता, उसके व्यञ्जनात्मक प्रतीक, विभिन्न इन्द्रिय-बोधों में रहस्यात्मक सम्बन्ध-कल्पना, विभिन्नता में आत्मिक एकता का आग्रह—ये सब प्रतीकवाद के ही तत्त्व हैं जो बोदलेर के काव्य में पूर्ण रूप से विकसित हैं। लाफ़ार्ग और इलियट के काव्य में व्यंग, परिहास, विशृंखलित रूपकों का उपयोग और इसी प्रकार के जो अन्य तत्त्व मिलते हैं वे भी बोदलेर के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं। वास्तव में बोदलेर के काव्य-सिद्धान्त स्वयं उसकी काव्य-प्रक्रिया और काव्य-संवेदना से उद्भूत हैं उसने और उसमें अपने लिए समाधान खोजने की चेष्टा की है। प्रतीकवादियों ने बोदलेर के सिद्धान्तों में तत्कालीन जीवन-चिन्ता का आभास पाया है और उनके आधार पर एक विस्तृत सौन्दर्य-शास्त्र ही खड़ा कर दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

प्रतीकवादी सिद्धान्तों के लिए हमें पाल वर्ले, मेलार्मे और रिम्बो की विचारधाराओं तथा काव्य-प्रक्रियाओं को देखना होता है। इस आन्दोलन का जन्म १८७० ई० के लगभग होता है। आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष बुद्धिवाद का विरोध है। पिछली पीढ़ी की मान्यता थी कि बुद्धि द्वारा सारी सृष्टि-प्रक्रिया को समझा जा सकता है और तटस्थ दार्शनिक दृष्टिकोण ही सर्वोपरि वस्तु है। पर्नासी कवियों की रचनाओं का मूलाधार यह वैज्ञानिक बुद्धिवाद ही था। परन्तु १८७० ई० के लगभग स्पेन्सर, हार्टमां और शोपनहार की नई मान्यताओं ने बुद्धि के प्रति इस आस्था को डावांडोल कर दिया। इन तत्त्ववेत्ताओं का यह कहना था कि जीवन-प्रक्रिया में रहस्यमय, बुद्धि द्वारा अग्रहीत और अवचेतन, अज्ञात शक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है और तत्त्व वस्तुतः मरु-मरीचिका की भाँति अग्राह्य छलना-मात्र है। इस नई विचारधारा ने फ्रांस के कला-चिन्तकों को भी प्रभावित किया और उन्होंने जीवन के रहस्यावर्तों को हटाकर उससे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया। कला के माध्यम से जीवन की अपरिमेयता, अपराजितता और रहस्यमयता को प्रकट करना ही सच्चा कला-धर्म है, यह मान लिया गया। अतिप्राकृत, स्वप्न और कल्पना-जगत् को वस्तु-जगत् से अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर कवि इन्हें ही उद्घटित करने में लगे। यह कहा गया कि काव्य में जो तत्त्व बौद्धिक तर्क-सिद्धता और ऐन्द्रिय ग्राह्यता की अपेक्षा करते हैं वे वस्तु-सत्य को देने में असमर्थ हैं। काव्य हमारे उस रहस्यमय अन्तर्बोध का प्रकाशन हो जहाँ विचार, अनुभूति और ऐन्द्रिक संवेदनाओं एवं प्रतिक्रियाओं में विभाजन-रेखाएँ नहीं रहतीं—इनमें परस्पर आदान-प्रदान सम्भव है। स्वप्न और आकांक्षा का एक नया संसार कवियों के प्रयोगों के लिए खुल गया और वस्तु जगत् से हटकर इस नये आत्म-जगत् में केन्द्रित होने वाले कवियों को अधिक मान्यता मिली।

प्रतीकवादी काव्यधारा की विशेषताएँ, जैसी वे वर्ले, मेलार्मे और रिम्बो के काव्य में दिखलाई देती हैं, इस प्रकार हैं—

(१) अनुभूति की आन्तरिकता (इन्टिमेसी)।

(२) व्यञ्जना (सजेशन)।

(३) ध्वनियों और आयोजित कल्पना-चित्रों के माध्यम से परोक्ष व्यञ्जना।

(४) कवि द्वारा भाव-भूमि के निवेदन का प्रयत्न, जिसके लिए वह स्वप्न और सत्य, अनुभूति और इन्द्रिय-बोध को विचित्र ढंग से संयोजित कर देता है, जिससे वर्णित वस्तु कवि के भावोन्मेष का आत्यन्तिक प्रतीक बन जाती है।

(५) कविता के परम्परागत रूप-विधान और लय-विधान की उपेक्षा और उन्हें लोकवाणी और संगीत-तत्त्व के निकट लाने का प्रयत्न।

(६) तुकान्त के प्रति विद्रोह और छन्द-मुक्ति के लिए आग्रह।

(७) बौद्धिक सूक्ष्म और परिपाटी-बद्ध शैली के प्रति अनादर-भाव।

(८) यह विश्वास कि काव्य में तथ्य-कथन महत्त्वपूर्ण नहीं है, ध्वनि और व्यञ्जना महत्त्वपूर्ण हैं, उसमें भड़कीले रंगों की अपेक्षा सूक्ष्म तरल रंग अधिक उपादेय हैं। काव्य की पहली शर्त यह है कि वह संगीतात्मक हो और उसमें दिवा-स्वप्न तथा भावुक स्पन्दन को जगाने की शक्ति हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९) प्रतीकवादी आन्दोलन में बुद्धि का बाध है और काव्य-प्रक्रिया को सहज अन्तस्फूर्ति (अथवा मनोवैज्ञानिक शब्दावली में) अन्तश्चेतन का विस्फोट माना जाता है। रिम्बो का विश्वास था कि सर्वोत्तम काव्य-कृति में काव्य-भाषा तर्क और अर्थ-संगति के सम्पूर्ण अभाव में ही हमें प्रभावित करने में सफल होती है। बाद में रिने गिल ने रिम्बो के इन सिद्धान्तों को और भी विस्तार दिया और उसने भाषा को तर्क-सन्दर्भ से अलग ही संगीतात्मक मूल्य देने की चेष्टा की, जिसका आधार संगीत-शास्त्र की भाँति नाद-सन्तुलन का सिद्धान्त था, परन्तु जिसमें साथ-साथ रंगों की निश्चित व्यञ्जना भी रहती थी। प्रयोग की यह दिशा बोदलेर में भी हमें दिखलाई देती है।

(१०) प्रतीकवादियों, विशेषतः रिम्बो के काव्य में उपचेतन तत्त्वों का अत्यधिक उपयोग हुआ है और उसका साहित्य मनोविश्लेषकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके काव्य में उसके अवचेतन की सम्पूर्ण और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। सुर-रियलिस्ट आन्दोलन के समर्थक कवियों ने रिम्बो की काव्य-प्रक्रिया का व्यापक उपयोग किया है। वे अन्तश्चेतन-मूलक लेखन में विश्वास करते हैं और उनके काव्य में अद्भुत कल्पनाओं तथा विचित्र स्वप्नों का प्राधान्य है। उनके कल्पना-चित्र स्वतन्त्र, परम्परा-विच्छिन्न और तर्कविरहित रहते हैं। वास्तव में एक वर्ग प्रतीकवादी काव्य की फ्राइडीय व्याख्या उपस्थित करता है, यद्यपि दूसरा वर्ग (जिसका प्रमुख प्रवक्ता पाल क्लादेल है) उसे सौन्दर्य और दृश्य जगत् की आध्यात्मिक एवं रहस्यमय अनुभूति मानता है। इसमें सन्देह नहीं कि रिम्बो के काव्य में रहस्यानुभव की अनेक प्रतिध्वनियाँ हैं। आधुनिक काव्य पर रिम्बो की विचारधारा और काव्य-प्रक्रिया का व्यापक प्रभाव है।

(११) प्रतीकवादी काव्य का एक नया विकास हमें मेलार्मे और पाल वेलेर में मिलता है। रिम्बो का काव्य उसके अन्तर्जगत के ऐश्वर्य और उसकी विचित्र कल्पनाओं तक सीमित था। मेलार्मे शाश्वत सत्य और सम्पूर्णता की भावना से त्रस्त था। उसके अनुसार यह असम्पूर्ण जगत् सम्पूर्ण और सत्य जगत् की छाया-मात्र है। मेलार्मे की सबसे आकर्षक कल्पना अनस्तत्त्व की है और उसके काव्य का मूलाधार ही नकारात्मक है। अभाव, मौन, मरण—ये उसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं। बोदलेर की भाँति मेलार्मे का भी विश्वास है कि बौद्धिक और कलात्मक सर्जन द्वारा ही मनुष्य दृश्यगत सत्ता से अधिक विशुद्ध और आदर्श सत्ता तक पहुँच सकता है। कवि का कर्तव्य यही है कि वह परोक्ष सत्य और सौन्दर्य की इसी अनुभूति को शब्दों के व्यञ्जनात्मक एवं ध्वन्यात्मक सौन्दर्य से पाठकों में जाग्रत करे। बड़े परिश्रम से मेलार्मे ने इस सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए एक नई परिपाटी का निर्माण किया। काव्य-परिपाटी में कल्पना-चित्रों का उपयोग कोई नई चीज नहीं है। दृश्यमान जगत् से सम्बन्धित और संवेदना जाग्रत करने वाली वस्तुओं एवं प्रक्रियाओं से कवि अपनी आत्मानुभूति की व्यञ्जना के लिए कल्पना-चित्रों को चुनता है। ये कल्पना-चित्र उसके लिए स्वयमेव महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वे इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे आदर्श के प्रतिरूप या प्रतीक हैं। शेली जैसे रोमाण्टिक कवियों में हम इस धारणा का प्राचुर्य पाते हैं, किन्तु रोमाण्टिक काव्य में इस धारणा और तज्जन्य प्रयोग के प्रति उतना निरन्तर और जागरूक आग्रह नहीं जितना हमें मेलार्मे के काव्य में दिखलाई देता है। बोदलेर की भाँति मेलार्मे भी विभिन्न इन्द्रिय-बोधों के पारस्परिक सम्बन्ध और ऐक्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वासी है और वह अन्ततः उस मूलभूत आध्यात्मिक या परोक्ष अनुभव तक पहुँचना चाहता है जो सभी पार्थिव संवेदनाओं का उद्गम है अथवा सभी इन्द्रियानुभूतियों में जिसका मात्र प्रसार है। इस मूलभूत अनुभव को वह इन्द्रियगम्य कल्पना-चित्रों के सूक्ष्म और अबाध उपयोग द्वारा पाठक तक पहुँचाने में प्रयत्नशील है। वह तथ्य-कथन और निश्चित सामान्य अर्थबोध की उपेक्षा करता है। फलस्वरूप उसकी काव्य-कला में वक्रता और सूक्ष्म अगम्यता की प्रधानता है। वह वस्तु-जगत् के प्रति अपनी संवेदनाओं और अपनी रसात्मक अनुभूतियों को वर्णित या सूचित किये बिना ही पाठक के प्रति निवेदित होना चाहता है। इसके लिए वह ध्वन्यात्मक व्यञ्जनाओं और शब्दों एवं कल्पना-चित्रों के अनेकानेक सन्दर्भों का उपयोग करता है। तथ्य-कथन द्वारा वह विचार या अनुभूति को सीमाओं में बाँधना नहीं चाहता। इसीलिए वह सहज-ग्राह्य नहीं है। उसकी विचार-प्रक्रिया सूक्ष्म, वक्र तथा उलझी हुई है और अनेकानेक सन्दर्भों से पुष्ट होने के कारण वह सहज ही पकड़ में नहीं आती। कविता के बहिरंग में भी नवीनता का आग्रह है। मेलार्मे काव्य की भाषा को स्थूल, ग्राम्य और तथ्यवादी तत्त्वों से अलग कर विशुद्ध भावमूर्ति बनाना चाहता है। वह शब्द-समूहों के चुनाव और उपयोग के प्रति इतना जागरूक है कि वह उनके द्वारा व्यञ्जना की अनन्त सीमाएँ उद्घटित करता है और वे शब्द-समूह संश्लिष्ट भावनाओं या विचारों के वाहक बनकर एक नई ही इकाई बन जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मेलार्मे के काव्य में बौद्धिकता का आग्रह अधिक है और प्रतीकवाद को दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि देकर उसने उसे एक आकर्षक और निश्चित 'वाद' का रूप दिया है। शब्द-शक्ति के रहस्यों के प्रति उसकी निरन्तर जागरूकता और काव्यानुभूति के प्रति ईमानदारी उसके काव्य की विशेषताएँ हैं। काव्य का एक नया आत्मचेतन और निश्चित ढंग से प्रयोगवादी रूप हमें प्रतीकवादियों में मिलता है। रोमाण्टिक कवियों में हम सिद्धान्तों के प्रति उतना आग्रह नहीं पाते और उनका काव्य-प्रक्रियाओं एवं कला-तत्त्वों का बोध भी उतना जागरूक नहीं है। परन्तु रोमाण्टिक काव्य में भी हमें कल्पना की आत्यन्तिकता, छन्द-मुक्ति और शब्द-शक्ति के व्यञ्जनात्मक प्रयोग का आग्रह उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार प्रतीकवादी काव्य में। वास्तव में फ्रांस का प्रतीकवादी आन्दोलन इंगलैण्ड के रोमाण्टिक आन्दोलन से अनन्यतः प्रभावित था। एक प्रकार से हम उसे रोमाण्टिसिज़्म का ही परवर्ती विकास कह सकते हैं। प्रतीकवाद के दो प्रमुख उन्नायक बोदलेर और मेलार्मे अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य से पूर्ण रूप से परिचित थे और उन पर एडगर एलन पो के काव्य-सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव था। प्रतीकवादी ही नहीं, बाद के सुर-रियलिस्ट कवि भी पो से प्रभावित हैं और अर्द्ध-जाग्रत चेतना में व्याप्त कल्पनाओं तथा मनः-स्वप्नों के विश्लेषणात्मक और प्रतीकात्मक प्रयोग उन्होंने वहीं से सीखे हैं। पो के काव्य-सिद्धान्तों और उसकी काव्य-प्रक्रिया को हम अंग्रेजी रोमाण्टिकों (कॉलरिज और प्री-रेफ़लाइट) के सिद्धान्तों तथा काव्य-प्रक्रियाओं से निकटतम रूप से सम्बन्धित कर सकते हैं। इस प्रकार चाहे सीधे, चाहे परोक्ष में, प्रतीकवाद रोमाण्टिसिज़्म का ही विकास सिद्ध होता है और इलियट एवं नवीन कवियों के काव्य में अब भी उसीकी जय-भेरी बज रही है। यह अवश्य है कि इलियट में क्लासिकल तथा दार्शनिक तत्त्वों का भी संश्लेष है और नूतनतम काव्य में और भी अनेक धाराएँ तथा प्रक्रियाएँ आकर मिल गई हैं और काव्यचेतना मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से पुष्ट होकर और भी वैज्ञानिक एवं जागरूक हो गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४ :

प्रतीकवादी दर्शन जहाँ एक ओर बुद्धि की महत्ता को अस्वीकार करता है, जो क्लासिकल दृष्टिकोण के विपरीत है, वहाँ दूसरी ओर वह रामाण्टिकों की भावना की प्रधानता की बात को भी अस्वीकृत कर देता है। प्रतीकवादी जीवन-दर्शन के अनुसार दृश्यमान जगत् परोक्ष जगत् की असम्पूर्ण प्रतिच्छाया है। इस परोक्ष जगत् तक पहुँचना असम्भव बात है। काव्य और साहित्य का मूल लक्ष्य ही वस्तु-जगत् के दृश्यगत, श्रवणगत और स्पर्शगत ज्ञान के ऊपर उठ कर अतिवास्तव, चिर-सत्य और शाश्वत की झाँकी देना है। मेलार्मे के काव्य में हम स्पष्ट देखते हैं कि वह इन्द्रियानुभूतियों से सम्पन्न बहिर्जगत् को अपनी परीक्षा का केन्द्र बनाता है और उसके 'पार' देखना चाहता है। बाद के कवियों ने अन्तर्जगत् (आत्मा) को अपने अन्वेषण का केन्द्र बनाया है। उनके लिए यह अन्तर्जगत् (आत्मा) भी एक शाश्वत विश्व-मन की असम्पूर्ण प्रतिच्छाया है और असफलता, पीड़ा एवं दुःख के पीछे हमें शाश्वत का बोध प्राप्त होता है। इस जीवन-दर्शन के अनुसार आत्मा, प्रेम, सौन्दर्य सब भ्रम-मात्र हैं और इनकी उपादेयता यही है कि हम इनके 'पार' शाश्वत जीवन-तत्त्व को देख सकें।

परन्तु इस शाश्वत जीवन-तत्त्व को बुद्धि, भावना अथवा इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। केवल संवेदन-मात्र रह जाते हैं। प्रतीकवादियों का कहना है कि ये संवेदनाएँ ही सत्य हैं, शेष सब भ्रम है, भ्रान्तिपूर्ण और अवास्तव है। हमारी इन्द्रियों पर जो आघात होते हैं, वही सत्य हैं, वास्तविक तथ्य हैं। इस आघात से जिन विचार और भावनाओं का जन्म होता है, वे सत्य नहीं है, आधारहीन और भ्रामक हैं। फलतः संवेदना ही सब-कुछ हो जाती है। बुद्धि और भावना के संयम द्वारा जब हम अपने व्यक्तित्व को ठीक रूप से संयोजित कर लेते हैं, तब हम उस अनन्त से संस्पर्शित हो जाते हैं। ये क्षण अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं, परन्तु इसीलिए मानव के लिए अमूल्य भी हैं। कलाकार इन्हें ही खोजता है। मेलार्मे से वेलेर तक हम इसी खोज का इतिहास बनता पाते हैं।

प्रतीकवाद स्वच्छन्दतावाद का ही परवर्ती विकास है। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि प्रतीकवादी काव्यधारा के आरम्भ में जिन दो कवियों का नाम आता है (बोदलेर और वर्लें) उन्हें हम स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत भी ले सकते हैं। वास्तव में उनमें नई धारा की अपेक्षा पुरानी धारा के तत्त्व ही अधिक हैं। रिम्बो (१८५४-६१) के काव्य में हमें नये काव्य-तत्त्व पूर्ण विकसित रूप में ही मिलते हैं। रिम्बो का प्रारम्भिक काव्य विक्टर ह्यूगो के काव्य से भिन्न नहीं है, परन्तु 'ले इलूमिनेशन' नाम की उत्तर-रचना में वह एकदम अभिनव धरातल का निर्माण करता है। इन्हीं अभिनव तत्त्वों ने बाद में मेलार्मे और वर्लें को प्रभावित किया। रिम्बो कलात्मक सम्पूर्णता को भंगिमा-मात्र मानता है। वह स्पष्टता और तथ्य-कथन का विरोधी है। दृश्य जगत् को छोड़कर उसने रहस्यमय परोक्ष का अंचल पकड़ा है। उसने भाव और अभिव्यञ्जना में केन्द्रीयता लाने का प्रयत्न किया और नवीन काव्य-भाषा की सृष्टि करनी चाही। भाषा-शैली के क्षेत्र में वह किसी भी रूढ़ि को मानने को तैयार नहीं था। मौलिकता के इस अति-आग्रह ने कहीं-कहीं रिम्बो के काव्य को असन्तुलित बना दिया है। वहाँ कवि को कुछ नवीन या विशेष कहना नहीं है, वहाँ काव्य-क्षेत्र में अव्यवहृत शब्दों का प्रयोग ही एकमात्र ध्येय है। मेलार्मे (१८४२-६८) ने रिम्बो के इस काव्य-प्रयोग को उपयुक्त चिन्ताभूमि दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेलार्मे के काव्य-दर्शन को हम १८७०-१९४० के काव्य का मेरु-दण्ड मान सकते हैं। यह काव्य-दर्शन इतना सूक्ष्म और ऊँचा है कि कोई भी रोमांटिक कवि इस मानदण्ड पर पूरा नहीं उतरता, यद्यपि लगभग सभी रोमाण्टिक कवियों में ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जो नई काव्यधारा के उदाहरण के रूप में उपस्थित की जा सकती थीं। सर्जन के अप्रतिम क्षणों में कवि जहाँ पहुँच जाता है, वे सिद्धान्तों में बहुत बाद में बँध पाते हैं। वास्तव में ब्लेक और पो के काव्य में नई धारा का पूर्व विकास मिलता है, और बोदलेर एवं मेलार्मे ने स्रोतों से पर्याप्त लाभ उठाया है। परन्तु नई काव्यधारा का सुस्पष्ट, शृङ्खलित और निश्चित रूप हमें मेलार्मे में ही मिलता है। 'वर्स ए प्रोज' में हमें मेलार्मे का काव्य-चिन्तन इस प्रकार मिल जाता है :

Abolished, the intention, aesthetically an error, although it directs nearly all masterpieces, of enclosing into the subtle paper of a book anything else than, for instance, the horror of the forest, or the silent thunder diffused in the leaves; not the intrinsic & dense wood of the trees. A few jets of intimate glory truthfully trumpted, evoke the architecture of the only inhabitable palace; not any stone. (Verse et Prose. P. 184)

यह स्पष्ट है कि मेलार्मे 'वस्तु' और कला में भेद मानता है। कथा-कहानी, उपदेश, भावनाओं का प्रकाशन, ये काव्य नहीं हैं। काव्य होने के लिए कुछ होना आवश्यक है। कुछ होने के लिए या काव्य होने के लिए कवि को यथार्थ के पार जाना होगा और शाश्वत रूपरेखाओं को संवारना होगा। इस परिभाषा के अनुसार काव्य कही जाने वाली चीज बहुत कम रह जाती है—कुछ पृष्ठ या कुछ पंक्तियाँ।

काव्य की जो धारणा मेलार्मे ने उपस्थित की है उसमें वह संगीत के अनेक तत्वों को ग्रहण कर लेता है। संगीत द्वारा हमें अनन्त के बोध की प्राप्ति होती है, बुद्धि के परे के अरूप जगत् तक हमारी पहुँच उसीके माध्यम से है। काव्य और संगीत में विशेष अन्तर यही है कि संगीत जिन नादात्मक ध्वनियों का उपयोग करता है अपने-आपमें उनके कोई अर्थ नहीं होते। अर्थ का बाध होने पर भी हम अतीन्द्रिय जगत् में प्रवेश कर पाते हैं। काव्य को संगीत से यही व्यञ्जनात्मकता सीखनी है। अर्थ-बोध तक सीमित रखकर हम काव्य को छोटा करते हैं। कवि को अर्थ से बड़ी, हो सके तो अर्थ से परे की वस्तु हमें देना है।

कवि के पास और भी बहुत-कुछ है जिससे काव्य संगीत से कहीं अधिक अभिव्यञ्जक बन जाता है। गन्ध, रंग, रूप, स्वाद, भावोद्रेक, ये कुछ संवेदनाएँ हमें परोक्ष-जगत् से सम्बन्धित करती हैं। शब्द इन संवेदनाओं के (जो स्वयं अनन्त और शाश्वत जीवन की प्रतीक हैं, आभास-मात्र हैं) प्रतीक होने के कारण द्विधापूर्ण, अस्पष्ट और रहस्यमय हैं। ये न हों तो वे प्रतीक ही कैसे ? इस प्रकार शब्दों के रूप, रंग, गन्ध, स्पर्श और नाद-सम्बन्धी उपकरणों से कवि रहस्यमय अतीन्द्रिय परोक्ष जगत् में प्रवेश करने की अलौकिक शक्ति प्राप्त करता है।

यह विचारधारा काव्य को अलौकिक और एक तरह से आध्यात्मिक बना देती है। यह चेतन बौद्धिक तत्वों पर आधारित न होकर दुर्गम्य भाव-संवेदनाओं पर आश्रित हो जाती है। फलतः कवि-कर्म सामान्य कर्म न रहकर एक अत्यन्त विशिष्ट कर्म बन जाता है। वर्लें ने 'आर्ट पोइटीक' (१८७४) में काव्य की सीमाएँ बाँधते हुए (जिनमें क्रमशः अर्थ, व्याकरण आदि का बाध हो जाता है) यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रेष्ठ काव्य व्यक्तिगत प्रतीकों और कल्पना-चित्रों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण कूट-काव्य से कम दुर्बोध और रहस्यमय नहीं होता। वस्तुतः काव्य के उन आकाश-चुम्बी शिखरों पर पहुँचना बड़ा कठिन है और वहाँ देर तक ठहरना और भी दुस्साध्य है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीकवादी विचारधारा में मानव-जीवन और काव्य-प्रक्रिया को अत्यन्त गम्भीरता से देखा गया है और कवियों एवं पाठकों की अन्तर्दृष्टि को उससे अपरिसीम विस्तार मिला है। अब भी उसके समर्थक कम नहीं हैं। मेलार्मे के बाद पाल वेलेर (१८७१-१९४५) में इस काव्य-शैली का हम सर्वोच्च विकास पाते हैं। यह अवश्य है कि वह मेलार्मे से कहीं अधिक निराशापूर्ण है, परन्तु निराशा आधुनिक काव्य का प्रमुख अंग है।

परन्तु प्रतीकवादी विचारधारा प्रमुखतः निराशावादी होते हुए भी एकमात्र निराशावादी नहीं है। उदाहरण के लिए जुले सपरवे केवल काव्यात्मक संवेदनाओं तक सीमित रहता है और अपने लिए अथवा पाठक के लिए किसी भी सत्य-सिद्धान्त के आविष्कार का दावा नहीं करता। पिछले प्रतीकवादी कवियों के लिए हमें एक प्रकार का अतिवाद मिलता है। वे सामान्य जीवन के अनुभवों से भागते हैं, सम्भवतः उनके अनुभव असामान्य हैं। परन्तु इस कवि में हम जीवन को अखण्डित और व्यापक रूप में देखने की चेष्टा पाते हैं। काव्य का जीवन-समीक्षा का रूप हमें यहाँ पूर्ण विकसित मिलता है। उसने घृणा, प्रेम आदि मानवी संवेदनाओं को उपयुक्त परिवेश में देखा है। रोमाण्टिकों के काव्य में जिस व्यक्तिवाद (ल मुए : 'मैं—शैली') का प्राचुर्य है, वह सपरवे में नहीं मिलता। उसका भोक्ता कवि अधिक गम्भीर, तटस्थ, फलतः निर्वैयक्तिक है। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रतीकवादी काव्यधारा में नये विकास को सूचित करता है।

प्रतीकवादी धारा का एक तर्कसिद्ध परन्तु अतिवादित विकास हमें सुर-रियलिस्ट आन्दोलन में मिलता है जो १९१४ के बाद प्रेम-काव्य में एक नया फैशन है। इस धारा के कवियों ने गद्य-पद्य में कोई भेद नहीं रखा। एक नई काव्य-शैली के निर्माण के प्रयत्न में सभी काव्य-रूढ़ियों के प्रति विद्रोह उठाया गया और काव्य-विषय को ऐसे सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक रूप से उपस्थित किया गया कि गद्य-पद्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। तर्क-संगीत के अभाव में यह गद्यात्मक पद्य कूट-काव्य बन गया है जैसे ईलुअर्द की यह कविता—

Nous approchous.
Dans Les forets.
Prenez la me du matin.
Montez les marches de la brume.
Nous approchous.
La terre en a le coeur crispe.
Encore un jour a' mettre an monde. (Sans Age)[१]

इन पंक्तियों में गद्य-पद्य का कोई भेद ही नहीं रह गया है। अपालिने, अरागों, त्रीतों, सोपाल,

---

१. We approach
Within the forest.
Come with me at the dawn.
Let us march in the mist.
We approach.
The earth gives the heart a thrill.
(for we have) Still to enjoy & to stake a day in this world. (The Ageless)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काचो, इलुअर्द आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं। इस काव्यधारा ने हमें काव्य नाम की चीज़ कम दी। सुर-रियलिस्ट कवियों ने पाठकों से बहुत चाहा। जब कविता विशेष प्रकार के पाठ या नादात्मक संगीत-तत्त्व अथवा स्वयं पाठक के कल्पना-जगत् पर आश्रित हो जाती है, तो वह अपनी व्यापक संवेदना खो देती है और कविता नहीं रह जाती। सुर-रियलिस्ट कवियों का काव्य निःसन्दिग्ध रूप से कूट-काव्य बन गया है और उसमें कवि की संवेदना उसकी अभिव्यञ्जना-शैली में उलझकर रह गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमाण्टिक काव्यधारा, प्रतीकवादी धारा, दादाइज़्म और सुर-रियलिस्ट धारा विचारों, भावनाओं और प्रयोगों की एक उत्तरोत्तर विकसित और सूक्ष्म शृङ्खला का निर्माण करती हैं। कविता की अतीन्द्रिय और अबौद्धिक उपचेतनमूलक कल्पना के प्रति कवियों का आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और काव्य अन्त में एक बन्द गली में पहुँच गया है। फ्राइड और अन्य मनोवैज्ञानिकों की मान्यताओं ने इन धाराओं की मान्यताओं को ही पुष्ट किया है और अन्तश्चेतनमूलक काव्य अथवा प्रपद्यवादी काव्य की एक नई धारा ही प्रवाहित हुई है। प्रतीकवादी विचारधारा और काव्य की जैसी गहरी जीवन-दर्शन की मिति इस नई धारा के पास नहीं है, परन्तु कवि के व्यक्तित्व का स्वप्न-प्रतीकों और यौनमूर्त-विधानों द्वारा उद्घाटन इसकी विशेषता है।

प्रतीकवादी आन्दोलन प्रमुखतः फ्रांस तक सीमित रहा और उसने काव्य को विशद रूप से प्रभावित किया, परन्तु बाद में वह सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप पर छा गया और साहित्य की अन्य कोटियों में भी उसका प्रवेश हुआ।[1] उसका सबसे विकृत रूप हमें जरट्रूड स्टेन के काव्य में दिखलाई पड़ता है, जिसमें प्रतीकवादी सिद्धान्तों को इतनी दूर तक खींचा गया है कि काव्य हास्यास्पद हो गया है।[2] कदाचित् प्रतीकवाद के आविष्कर्ताओं ने भी ऐसी दूरागूढ़ कल्पना नहीं की होगी। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अत्याधुनिक काव्य का सम्पूर्ण इतिहास प्रतीक-वाद के विकास का इतिहास है।

: ५ :

आरम्भिक प्रतीकवादी कवियों ने अपनी धारणा का निर्माण प्रकृतिवाद के तथ्य-कथन और बुद्धिवाद की तर्कसंगिता के विरोध में किया था। उन्होंने ध्वनि या व्यञ्जना के सिद्धान्त का आविष्कार किया और उसे साहित्य का सबसे बड़ा तथ्य माना। उनका अतिवाद यह था कि वे समझते थे कि व्यञ्जना एवं अर्थ दो एकदम भिन्न और विरोधी वस्तुएँ हैं। वेलेरे, इलियट और ईट्स में हम व्यञ्जना के पक्ष का पूर्ण समर्थन पाते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि कोई भी शब्द केवल वाच्य ही नहीं है, उसमें व्यंग्य भी अन्तर्हित है। यह कहना कठिन है (कदाचित् गणित और

---

1. जर्मनी में प्रतीकवादी आन्दोलन के प्रमुख कवि हैं रेनर मेरिया रिल्के (१८७५—१९२६) और स्टेफ़न जॉर्ज (१८६८-१९३३) और रूस में अलेक्ज़ेण्डर ब्लॉक (१८८०-१९२१)। सी० एम० बाउरा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The Heritage of Symbolism' में इन कवियों का विशद विवरण उपस्थित किया है।
2. देखिए एडमण्ड विल्सन का ग्रन्थ 'Axel's Castle' (प्रतीकवाद पर निबन्ध और जरट्रूड स्टेन सम्बन्धी ८वाँ अध्याय), पृ० २५-५६ और पृ० २३७-२९६)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भौतिक विज्ञान को छोड़कर) कि एक प्रकार का लेखन आर्थी-मात्र है, दूसरी प्रकार का लेखन व्यञ्जना-मात्र। वास्तव में प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना में विचार, भाव और संवेदन तीनों मिलकर चेतन मन की प्रक्रिया का निर्माण करते हैं। श्रेष्ठ रचना की प्रभावोत्पादिता सूक्ष्म अन्तर्ध्वनियों, अन्तर्सन्दर्भों और रहस्यमय अर्थों पर आधारित होती है, जिनमें अर्थ के साथ लक्षणा और व्यञ्जना का पूरा-पूरा समारम्भ रहता है। वह हमारी प्रकृति और हमारे मन के सहस्त्रविध आलोड़न-विलोड़न का फल है। वास्तव में हमारे शब्द मूल रूप से प्रतीक ही हैं और प्रतीकवादियों को यदि श्रेय दिया जा सकता है तो वह यह है कि उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता (ध्वन्यात्मक या व्यञ्जनात्मक शक्ति) की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित किया और कविता को हृदय—मन की गम्भीरतम अभिव्यक्ति बना दिया। विशुद्ध या कोशीय अर्थों में शब्दों की कल्पना ही असम्भव है। प्रत्येक शब्द प्रयुक्त होते ही पूर्वापरता, परम्परा, विशिष्ट भाव-संवेदना और नवीन उद्बोधनों का एक बृहद् संसार सामने लाता है। पूर्व सन्दर्भों या पूर्वानुभूत संवेदनाओं को उभारकर वह तात्कालिक अनुभूतियों या संवेदनाओं को अपरिसीम गम्भीरता और मार्मिकता प्रदान करता है। इस चिन्तन-भूमि से देखें तो यह स्पष्ट है कि प्रतीकवाद सदैव ही काव्य और साहित्य का अंग रहा है और विशेषकर रोमांटिक काव्य और साहित्य में उसका व्यापक रूप से उपयोग हुआ है।

प्रतीकवादी स्कूल की सीमाओं का विवरण देते हुए ऐन्द्रे जीद ने इस प्रकार लिखा है—"प्रतीकवादी धारा की एक बड़ी लांछा यह है कि उसमें जीवन के प्रति कुतूहल का अभाव है। एकमात्र वे ग्रिफ़िन को छोड़कर (और इसीसे ग्रिफ़िन की रचनाएँ ऐसी विशिष्ट हैं) शेष सभी निराशावादी, वीतरागी, भाग्यवादी 'इस धरती के दुःखद अस्पताल से ऊबे' (लेफ़ार्गो के शब्दों में) हैं। यह सरस और असार्थक पितृदेश है। काव्य में उनके लिए एकमात्र आश्रय है, जीवन की भयावह यथार्थता से पलायन के लिए विश्राम-स्थल। उन्होंने सब ओर से आश्रय छोड़कर इसीकी शरण ली। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को छलना समझा और निष्प्राण माना। प्राण धारण करने योग्य है, इसमें उन्हें सन्देह ही बना रहा। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने हमें कोई नया नैतिक दृष्टिकोण नहीं दिया। उन्होंने विग्नी के दृष्टिकोण से ही सन्तोष कर लिया, यद्यपि उसे भी वे परिहास का रूप ही दे सके। उनकी नैतिकता सौन्दर्योन्मुखी थी। इस कथन की समीक्षा करते हुए 'एक्जिलस केसिल' का लेखक लिखता है—"**कल्पनात्मक रसानुभूति मात्र के प्रति आग्रह होने के कारण बहिर्जगत् के प्रति वीतरागिता का आदर्श, व्यक्ति का समाज से यह पलायन-भाव एक ऐसे दृष्टिकोण को जन्म देता है जो विग्नी के निराशावाद से भिन्न है।**" (पृ० २५७-२५८)।[1]

एक प्रश्न प्रतीकवादी काव्य के भविष्य के सम्बन्ध में भी उठता है। नई-नई खोजों के कारण कवि के लिए बहिर् अथवा अन्तर्जगत् को सीधी-सादी रेखाओं में बाँधना कठिन हो गया है। परन्तु कवि के लिए निवेदन की समस्या और भी कठिन हो गई है। क्या वह धीरे-धीरे कूट लिखने लगेगा? अथवा, क्या विज्ञान कवि की भाषा या जीवनदृष्टि को इतना प्रभावित

१. This ideal of renunciation of the experience of the outside world for the experience of the imagination alone, this withdrawal of the individual from society, did, however, give rise to an attitude quite distinct from the stoicism of Vigny. (वही, पृ० २५७-२५८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर देगा कि उसके लिए अन्तर्प्रान्तीय और पारिभाषिक शब्दों की भीड़ में से उपयुक्त शब्दों को निकालकर उन्हें प्रतीक के रूप में प्रयोग में लाना असम्भव ही हो जायगा? इसमें सन्देह नहीं कि १८५२ ई० के बाद से यूरोपीय काव्य सूक्ष्म, अन्तर्मुख और दुर्ग्राह्य के प्रति आग्रही रहा है और उसका शैलीगत विकास भी इतना जटिल और व्यक्तिगत रहा है कि वह कुछ ही मनुष्यों के रसोद्रेक की वस्तु रह गया है। धीरे-धीरे उसने अपनी रहस्यमयी कूट-शैली का निर्माण कर लिया है और वह उसीमें कुण्डली मारकर बैठ गया है। परन्तु यह स्थिति बराबर नहीं बनी रहेगी। यह स्पष्ट है कि जीवन के सामाजिक पक्ष से निरपेक्ष होकर अन्तर्जगत् के रहस्यों में कवि काफ़ी डूब लिया और कदाचित् वहाँ उसे अब अधिक कुछ शेष नहीं रह गया है। ज्वॉइस और प्रूस्त के उपन्यासों में हम प्रतीकवाद को प्रकृतिवाद से समझौता करते पाते हैं और नये कवियों में अन्तर्मन के साथ बहिर्जगत् को देखने की भी प्रवृत्ति है। देह और मन की भूख का अनन्य सम्बन्ध है जो फ्राइड और मार्क्स को जोड़ता है। नये कवि ने इस सत्य को समझ लिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीकवादियों ने काव्य को बहुत-कुछ दिया है। वास्तव में विज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है उसने काव्य-क्षेत्र में नये अध्याय जोड़े हैं और नई सम्भावनाओं को जन्म दिया है। नये काव्यान्दोलनों में प्रतीकवाद के तत्त्व उसी तरह आत्मसात् हो जायँगे जिस प्रकार प्रतीकवाद में रोमांटिसिज़्म के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश हो गया था, अथवा टेनीसन और आरनाल्ड के काव्य में रोमांटिसिज़्म के साथ क्लासिकल तत्त्वों का विकासमान मिश्रण हमें दिखलाई पड़ता है। यदि प्रतीकवाद मानव की संवेदना को बढ़ाता है और उसे अपने प्रति अधिक-से-अधिक ईमानदार बनने की प्रेरणा देता है, तो भी उसका महत्त्व कम नहीं है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो बना रहेगा ही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या और चिन्तन

श्रीनारायण मिश्र

कवि-प्रेरणा का स्वरूप और काव्य-प्रक्रिया

साहित्य के उत्कर्ष और उसकी प्रतिष्ठा के लिए सबसे अधिक हानिकारक धारणा यह है कि महान् साहित्य अथवा उत्कृष्ट साहित्य का सर्जन कष्टकर साधना के बिना सम्भव है। यदि साहित्य का अर्थ सूक्ष्म संवेदनाओं और उदात्त भावनाओं को सुन्दर भाषा में वाणी देना है तो यह प्रक्रिया सरल कदापि नहीं हो सकती। शब्द स्फटिक-खण्ड के सदृश होते हैं तथापि साहित्यिक कलाकार को उनके ही माध्यम से विशद जीवनानुभूति को सप्राण बनाना पड़ता है। सभी माध्यम कठोर रहते हैं और कलाकार का आधा जीवन इसीमें बीत जाता है कि वह माध्यम की कठोरता पर शासन कर सके। तब कहीं जाकर वह अपनी सौन्दर्यानुभूति को रूपों में ढालने में सफल हो सकता है।

उस प्रचलित धारणा में मूलतः कुछ भ्रान्ति है जो कवि को नैतिक जीवन से छुट्टी ही नहीं दे देती, वरन् उसे उस आत्मानुशासन से भी अवकाश दे देती है जिसके द्वारा वह शक्ति अर्जित करता है। पूर्ण संयोजित जीवन के अभाव में चरम अभिव्यञ्जना-शक्ति सम्भव ही नहीं है। जिन कहानियों और किंवदन्तियों के अनुसार लेखकों ने महान् ग्रन्थों की रचना पत्र-लेखन की त्वरा से की है उन्हें हम हानिकारक और अविश्वसनीय मानते हैं, क्योंकि ऐसी सम्भावना एक प्रतिशत से अधिक नहीं है। शेक्सपियर, ब्लेक, जॉनसन, स्टॉक, शेली और कुछ अन्य लेखकों के विषय में यह चमत्कार-सिद्धि उल्लिखित है और उनमें से कुछ के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे अपनी पाण्डुलिपियों में जरा भी काट-छाँट नहीं करते थे। प्रेरणा होने पर कोई भी ऐसा कर सकता है और साहित्य का सर्जक बन सकता है। कवि की तुलना वीणा से की जाती है, जिसके तारों को छेड़कर अनुभूति का पवन संगीत की सृष्टि करता है। उसे केवल प्रेरणा की प्रतीक्षा करनी होती है और उसके प्रभाव के प्रति अपने को सम्पूर्ण रूप से निवेदित कर देना पड़ता है। जब प्रेरणा का स्फुल्लिंग सुलग उठता है तो वह अग्निशिखा का रूप धारण कर लेता है, जब भावना की बाढ़ आती है तो वह सतत प्रवाहित, अप्रतिरोधित धारा के रूप में वेगमान हो उठती है। यह अग्निशिखा और धारा-प्रवाह स्वतः प्रसूत हैं। सर्वोत्कृष्ट काव्य भावोन्माद से निष्पन्न होता है और अनिवार्यतः वह रूप धारण करता है जिससे हम बाद में परिचित होते हैं। सामान्यतः यह समझा जाता है कि ज्वालामुखी के तरल अग्निप्रवाह की तरह कविता सीधी अनुभूति की अंगीठी से गर्म निकलती है और उत्तापहीन हो जाने पर अपना सुनिश्चित और शाश्वत रूप ग्रहण कर लेती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं कवियों ने प्रेरणा-सम्बन्धी इस धारणा का समर्थन किया है। उन्होंने बार-बार एक नियामक शक्ति की चर्चा की है, जिस पर उनका कोई वश नहीं और जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं की संचालिका कहकर स्वीकार किया है। प्रत्येक सच्चे कवि की यह क्षमा-प्रार्थना अथवा गर्वोक्ति रही है कि 'गीत किसीके गाता हूँ मैं।' उनमें से सर्वोत्तम कवियों ने बार-बार किसी शक्ति के हाथ में पड़कर ऐसी असमर्थता का अनुभव किया है जैसी यहूदी पैग़म्बर की इन स्मरणीय पंक्तियों में है—"तब मैंने कहा, मैं न उसका नाम लूँगा, न आगे कभी उसे प्रमाण के रूप में उपस्थित करूँगा। परन्तु प्रज्वलित अग्नि की भाँति उसका शब्द मेरे अस्थि-पिंजर में बन्द होकर जलता रहा और मैं उस असहनीय को सह न सका, मौन न रह सका।" इस प्रकार अपने मस्तिष्क पर छा जाने वाले प्रवाह की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए कवियों ने अपनी प्रतिभा के दैवी उद्गम की ओर संकेत किया है और कुछ सीमा तक अपनी मनःप्रक्रिया को इस प्रकार रहस्यमण्डित रखा है कि उसमें बुद्धि का प्रवेश ही निषिद्ध है। इस दृष्टिकोण ने काव-चेतना के इलहामी स्वरूप पर बल देकर, कि कवि को किसीका संदेशवाहक होना है, प्राचीन साहित्य के स्तर को ऊँचा रखने में सहायता दी है और इस प्रकार मानव-जाति की बड़ी सेवा की है। परन्तु जहाँ तक उसने काव्य-प्रक्रिया को रहस्य बनाकर उस वस्तु को, जिसे सभी साहित्य-निर्माताओं के अध्ययन का प्राथमिक विषय बनाना था, गूढ़ बनाया है, उसने कवि-शिक्षा-सम्बन्धी वास्तविक साधना में बहुत बड़ी बाधा भी उपस्थित की है।

कवि-प्रेरणा के प्रकृत रूप के सम्बन्ध में भ्रामक धारणा ने आधुनिक युग में कविता के मानदण्ड को नीचा किया है। विज्ञान के विकास ने आज मनुष्य को इस योग्य बना दिया है कि वह उस अध्यात्म-जगत् का परिचय पा सके जिससे कवि दैवी सन्देश प्राप्त करता है। जिन भेद-प्राचीरों के ध्वंस से प्रजातन्त्र का जन्म हुआ है उसकी प्रक्रिया में कवि का प्रेरणा-लोक भी कट-छुट गया और शीघ्र ही ऐसा कुछ भी न रहेगा जिसके लिए हमें नक्षत्रों की ओर ताकना पड़े। आज कवि भवभूति के समान यह नहीं कहता कि "कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।" वह भावी पीढ़ियों को कुछ ऐसी वस्तु देने का आकांक्षी नहीं है जिसे वे चिरकाल तक धरोहर बनाकर रखें। वह नव्य चेतना को तथातथ्य रूप देकर सन्तुष्ट है, जिससे वह संवेदनशील आधुनिकों को अस्वीकृत हो सके। कवि-प्रेरणा के दैवी रूप के प्रति आस्था आज के समाज में उतार पर है। आज के कवि से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तात्कालिक क्षण के प्रति उसी प्रकार जागरूक रहे जिस प्रकार पत्रकार अथवा दल-नेता रहता है। यह कहा जाता है कि कवि उस समय तक सुन्दर रचना प्रस्तुत नहीं कर सकता और अपने समीक्षकों को रसानुभूति नहीं दे सकता जब तक वह अपने युग की हलचलों का पूर्णतया जानकार न हो। ये युगनिष्ठ समीक्षक उदार शिक्षा की उपज हैं और ऐसे नर-नारी हैं जिन्हें कुछ भी पढ़ना है, चाहे वह सूचीपत्र ही क्यों न हो। यह विशाल और सब-कुछ पढ़ने की दावेदार जनता, जिसे कवि को प्रत्यक्षतः संवेदित करना है, मुख्य रूप से तात्कालिक वर्तमान के लिए अर्थबोध चाहती है। विषय की अपेक्षा 'रूप' उसके लिए महत्त्वहीन तथा अप्रधान है और रहेगा। इसीसे आधुनिक कवि को एक प्रकार से पत्रकार बन जाना पड़ा है और किसी भी विषय के सम्पूर्ण सत्य के स्थान पर उसे सत्य का वह प्राथमिक पक्ष प्रस्तुत करना पड़ा है जो आज के देश-काल को अनुप्राणित करता रहे। उसने सामयिकता और स्पष्टता को लक्ष्य बनाया है, अपनी आँखों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से देखा है और परम्परा के अन्तिम अवशेषों से भी अपने को मुक्त कर लिया है।

जहाँ प्राचीन युग का कवि प्रेरणा के क्षणों में एक ऐसी शक्ति से आन्दोलित होकर, जो उसकी अपनी नहीं है, विश्वप्रपञ्च के नियति-चक्र के सपने को देखता था, वहाँ आज का कवि अपनी सीमित व्यक्तिमत्ता को उन कविताओं पर आरोपित कर देता है जो उसकी 'रचना' हैं। प्राचीन कवि निर्वैयक्तिक था और सच्चे योगी की भाँति व्यक्तिमुखी चिन्तन एवं व्यक्तिगत पूर्वग्रहों से अलग तथा तटस्थ रहकर अपनी अभिव्यञ्जना को शाश्वत सत्य का रूप देकर सन्तुष्ट था। आधुनिक कवि मौलिकताग्राही है, यहाँ तक कि उसमें अभिव्यञ्जना के ऐसे साधनों और शैलियों के आविष्कार का हठ है जो निःसन्देह व्यक्तिनिष्ठ हैं।

आधुनिक युग की स्वीकृति के लिए काव्य की दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त को नई व्याख्या देनी होगी। हम मन की अन्तर्निष्ठा अथवा आन्तरिक जीवन को तथ्यरूपेण मानते हैं। हमारी यह धारणा है कि मनुष्य अपनी अन्तर्वृत्तियों से प्रभावित होकर अज्ञात रूप से उन लक्ष्यों की ओर बढ़ता है जो चेतन मन में ज्ञात रूप से स्वीकृत नहीं होते। अवचेतनमूलक अन्तर्वृत्तियों का आग्रह इतना सशक्त होता है कि उसकी अवज्ञा का अर्थ है असफलता के दुर्दमनीय अभिशाप की निरन्तर पीड़ा से ग्रस्त रहना, जैसे हमने अपना भवितव्य स्वयं बिगाड़ लिया हो और अपने उच्च स्वरूप के प्रति मिथ्या सिद्ध हुए हों। उसकी स्वीकृति असन्तोष का आह्वान है, मन में नई आकांक्षाओं का द्वार उन्मुक्त करना है, निरन्तर ऊर्ध्व लोकों की ओर संक्रमण है, दूरातिदूर क्षितिज को हमारी भाव-परिधि में ले आना है। जो शक्ति व्यक्ति को आगे ढकेलती है वह इतनी 'पर' नहीं है कि वह न उसकी गति को नियमित कर सके, न उसके स्रोत और गन्तव्य को पहचान सके। अन्तर्प्रवृत्तियों से उद्भासित होने के कारण वह नितान्त व्यक्तिगत है, परन्तु साथ ही वह ऐसी बहिर्भूत शक्ति के समान है जो उसकी चेतना से बाहर किसी बिन्दु पर आसन जमाकर ध्रुवतारा की भाँति उसके जीवन का दिशा-निर्देश करती है।

कवि अपनी आभ्यन्तर प्रकृति से भावित और आन्दोलित होता है। एक ऐसी शक्ति उस पर हावी हो जाती है और उसे उँगली पकड़कर चलाती है जो अतिप्राकृत नहीं तो असामान्य तो है ही। अन्तर्वृत्तियों के माध्यम से प्रकृति कवि पर इतना दबाव डालती है कि वह स्वयं को उसके हाथों में देता है और उसके लक्ष्यों एवं प्रस्तावों को अपना भाग्यादेश मान लेता है। इस प्रकृतिगत प्रभाव के बलारोप को हम कवि की नियति अथवा उसकी 'प्रतिभा' कह सकते हैं। हम उसे चाहे जो नाम दें, इस शक्ति की अपरिहार्यता का तथ्य उसकी चेतना के नियन्त्रण से बाहर रहेगा और इस अनिवार्यता को हमें मानकर चलना होगा। हमें सदैव यह स्मरण रखना होगा कि कवि-प्रतिभा से सम्बन्धित गुप्त तथ्यों में से एक यह भी है कि उसकी बलि पर उसके दावों का अन्त नहीं है और सम्पूर्ण समर्पण से भी चरम शान्ति की उपलब्धि नहीं होती। अपनी आभ्यन्तर प्रकृति के दबाव को कवि भावना के रूप में प्रत्यक्ष करता है जो इतनी गम्भीर और शक्तिमती होती है कि उसकी सम्पूर्ण प्रकृति को आत्मसात् कर लेती है और आनन्द की अपेक्षा पीड़ा ही अधिक बनकर अनुभूत होती है। उसकी गम्भीरता और शक्तिमत्ता में पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती है और यह द्वन्द्व उसे विस्फोट-मात्र अथवा स्वप्न-मात्र बनने से रोकता है। फलस्वरूप, कवि भावुकता के उन क्षणों में उस ज्वलन्त ज्योति से ओत-प्रोत हो जाता है जिसे प्रेरणा कहते हैं और जिसके द्वारा वह विश्वान्धकार को भेदता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसीलिए ब्राउनिंग को इस लोक-भावना के विरोध में पुकार कर कहना पड़ा—

A Poet never dreams :
We prose folks do : we miss the proper duct.
For thoughts on things unseen.

कवि स्वप्न नहीं देखता। स्वप्न हम साधारण जन देखते हैं। अदृश्य को आत्मसात् करने वाली शक्ति-धारा ही हमें नहीं मिल पाती।

कवि-प्रतिभा अथवा कवि की आभ्यन्तर प्रकृति को, जिसके द्वारा दैव उसे अनुशासित करता है, हम इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत के बीच में पड़े आवरण-पट की छेदन-शक्ति कह सकते हैं। जिस अन्तःस्फूर्त्ति द्वारा यह परदा क्षीण होता है, प्रकृति का वह अंकुश जो उसे निरन्तर ऊर्ध्वाकाशों को स्पर्श करने की चुनौती देता है, उसे हम स्वयमेव लक्ष्य नहीं कह सकते। वह उसे ऐसे उद्देश्य के प्रति चैतन्य प्रदान करता है जो आनन्द, स्वार्थ अथवा सौन्दर्य से बड़ा है।

कवि की आन्तरिक प्रकृति से जिस घनीभूत भावना का जन्म होता है, वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उसके वस्तु-सत्य से संपर्कित होने का फल है। वह कवि के व्यक्तित्व और उसके परिवेश के विभिन्न धरातलों का मिलन-बिन्दु है। इस माध्यम से वह जिसे हम 'वस्तु' कहते हैं, प्रतिभासित और अन्तर्बोधित हो उठता है। जिस प्रकार भाव-बोध अनेक हैं, उसी प्रकार वस्तु-सत्य, अस्तित्व-पक्ष और प्रत्यक्षानुभूति के स्तर भी अनेक तथा विभिन्न हैं। यह अनुभूति का विषय है कि हमारी कुछ भावनाएँ उच्चतर हैं क्योंकि वे उच्चतर वस्तु-सत्य से प्रसूत हैं। उदाहरणस्वरूप किसी महान् संगीतज्ञ से हम जिस रसानुभूति की प्राप्ति करते हैं, वह सुस्वादु भोजन की रसानुभूति से उच्चतर एवं शुद्धतर है और हम यह सोचें तो ठीक ही है कि यह वस्तु चाहे जो हो, वस्तु-स्तर पर उस चीज से ऊँची है जिससे हमारी रसना तृप्त होती है। अपने चारों ओर की वस्तुओं से जो स्तर हमें प्राप्त होते हैं उनके अनुरूप हमारे भीतर भाव-बोध के स्तर का जन्म होता है और यह भाव-बोध हमें भीतरी वास्तविकता के लिए ऐसा मापदण्ड दे देता है जिसे हमें अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होता है।

सच तो यह है कि जिस शक्तिमती और गम्भीर संवेदना की अभिव्यक्ति कविता के रूप में होती है वह मानव-व्यक्तित्व के उच्चतर पहलुओं से सम्बन्धित है और उसका वस्तुगत प्रति-पक्ष वास्तविक जीवन में प्रतिभासित है। यहाँ वास्तविकता को हम गम्भीरतम अर्थों में लेते हैं। जहाँ तक कवि की ये भावनाएँ सामान्य मनुष्य की सतही भावनाओं से अधिक शक्तिमान और गम्भीरतर हैं, वहाँ तक उन भावनाओं द्वारा उद्घाटित वस्तु-सत्य जीवन और प्रकृति के सतही पहलुओं से अधिक वास्तविक होगा। अपनी शक्ति के बल पर कवि भावना के इस अन्तरंग तक पहुँचने में समर्थ होने के कारण चेतना के निगूढ़ स्तरों पर पहुँच जाता है और उस 'अव-रुद्ध जीवन' का अन्वेषण करता है जो कला में अभिव्यक्ति पाने वाली संवेदनाओं का मूल उत्स है। उस गहराई तक पहुँचकर, जो हममें से बहुतेरों के लिए अज्ञात देश है, कवि उस निरुद्ध जगत् से साक्षात्कार प्राप्त करता है जो हमारे सामान्य जगत् के पीछे और परे की वास्तविकता है। इस प्रक्रिया में वह ऐसे वस्तु-क्रम की उपलब्धि करता है, जो हमारे दैनंदिन अस्तित्वमय संसार के सौन्दर्य और सत्य को अतिक्रम कर जाता है। कवि का सच्चा कार्य यह है कि वह अपनी असाधारण संवेदनशीलता द्वारा इस भाव-जगत् को उद्घाटित करे और उद्दीप्त भाव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकाय के माध्यम से उसको दूसरों पर उजागर करे।

यह वास्तविक वस्तु-क्रम, यह 'गुहा-निहित' जीवन, जिसे कवि ऊपर लाता है, अप्राकृत नहीं है। सच्चे कवि के लिए कोई द्विधा नहीं होती, उसके लिए अस्तित्व के अन्तर्बहिर् पक्षों में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। जो कुछ उसे इंद्रियगोचर है, उसके प्रति उसकी घनीभूत सहानुभूति प्रतिबिम्बित प्रकाश की भाँति उसके बहिर्बोध को उसके आन्तरिक जीवन का अंग बना देती है। शिशिर के तूफ़ान की भयंकरता कवि शेली के उर-अन्तराल को आच्छादित कर लेती है और उसके विरुद्ध जीवन की रहस्यमय गहराइयों में प्रतिध्वनित होती है। शेक्सपियर की पंक्तियाँ हैं—

> Night's candles are burnt out, and jocund day
> Stands tip-toe on the misty mountain-tops.

इन पंक्तियों में कवि के सरल शब्द हमारे वसन्त-स्वप्न को जगा देते हैं और साथ ही हमारे दृष्टिपथ में सौन्दर्य का सजीव आकार खड़ा कर देते हैं। हमारी स्मृति और कल्पना-शक्ति एक बार फिर बदलते हुए रंगों के वैभव को, मुखरित मौन को, उषा की हिमधौत निर्मलता और ताजगी को लौटा लाती हैं। हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है। शीघ्र ही यह अर्द्ध-ऐन्द्रिक आनन्द गम्भीरतम संवेदना में बदलने लगता है, हमारे आभ्यन्तर जीवन की गहराइयाँ उषा की गुलाबी किरनों से उद्भासित हो उठती हैं। जिस समय यह सूक्ष्म संवेदना हमारे भीतर जाग उठती है, हम वस्तुओं के विशुद्ध शाश्वत स्वरूप के प्रति अपनी एकात्मता का अनुभव करने लगते हैं और जीवन-मरण, पूर्व-पश्चिम के धुँधले प्रकाशबिन्दु अपरिसीम दिवस-ज्योति में घुल-मिल जाते हैं।

कविता का जादू सिर पर चढ़कर बोले, इससे पहले कवि के लिए आवश्यक है कि वह अखण्ड, अद्वय स्थिति का अनुभव करे और सृष्टि के गम्भीरतम जीवन-स्रोतों तक पहुँच जाय। प्रकृति की आत्मा से तादात्म्य प्राप्त करके ही कवि अपने अहं को व्यक्तिमत्ता के पाश से मुक्त कर सकता है। छविगृह में जलती हुई निष्कम्प दीपशिखा की भाँति उसे ऐसी चरम शान्ति की अनुभूति हो जाती है जो तर्क-वितर्क के परे स्वयंसिद्ध है। या यों कहिए कि उसके सामने से चेतन-अविचेतन के बीच का अन्तर्पट हट गया हो और उसकी आँखें उस कालातीत एवं सार्वभौम सत्य से प्रत्यक्षीभूत हो उठी हैं जिसे मनुष्य-मात्र पर उद्घाटित करना उसका अनन्य धर्म है। कवि अपनी अन्तरंग प्रकृति की उच्छृंखल शक्ति द्वारा शासित होकर भावमयी अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हो जाता है। इस तथ्य से उसकी प्रतिभा का रूप बदल नहीं जाता। प्रेरणा के क्षणों में उसका मन प्रकृति के गम्भीर और सूक्ष्म प्रभावों के प्रति खुला रहता है। इन प्रेरक क्षणों में कवि-प्रकृति की सहकारिणी मनःस्थिति को हम 'रसोल्लास' कह सकते हैं जिसमें आध्यात्मिक किरणों के प्रवेश के लिए चेतना पारदर्शक माध्यम बन जाती है। इस स्थिति में मन स्वीय धारणा और स्वीय चिन्तना से हटकर परे खड़ा हो जाता है और कल्पना की सघनता द्वारा खण्ड के स्थान पर अखण्ड और सम्पूर्ण बनकर तोष की प्राप्ति करता है। इस प्रकार सन्नद्ध मन में विचार एवं प्रेरणा सामान्य चेतना से बाहर से आते लगते हैं और कवि उन्हें अन्तर्ज्योति की अखण्डता में सौन्दर्यानुभूति के रूप में ग्रहण करता है।

इस साक्षात्कार की यह विशेषता है कि उसे मन के सम्मुख बहुत समय तक दृढ़ नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा जा सकता। वह लपट की तरह झपटता चला जाता है और कालानुभूति एवं कालान्तर को ध्वंससात् कर देता है। फल यह होता है कि मनुष्य का चञ्चल मन उसे आत्मभूत नहीं कर पाता। वस्तुतः कवि भयार्त्त रहता है कि उसकी चेतना इस साक्षात्कार से मुद्रित हो, इससे पहले ही वह लुप्त न हो जाय। उसका प्राथमिक प्रयत्न यह होता है कि वह तुरन्त समाधि द्वारा उसके प्रतिचेतन को, प्रस्तुत किए जाने वाले इस विस्तृत आलेख को, सुरक्षित कर ले। भावात्मक सहज-बोध की यह आभ्यन्तरिक अभिव्यञ्जना एक ऐसी प्रक्रिया से प्रभावित होती है जो फोटो-पट पर बिम्ब उभारने के समान है। कवि जब अपने भंगुर स्वप्न को अपनी चेतना पर मुद्रित करने में सफल हो जाता है, जब वह प्रेरणा के अश्व पर सवार हो जाता है, तब सर्जन का प्रारम्भिक अध्याय समाप्त होता है। परन्तु ससीम के अंचल में बँधकर भी कवि का मनःस्वप्न अनुशासित और साकार होता है। जब तक कवि का मनःकल्प छाया-नीहार अथवा स्वप्न के समान रहता है, तब तक वह उसको सम्पूर्ण विस्तार से ग्रहण नहीं कर पाता। जब तक प्रेरणा के अश्व को वल्गा नहीं लगती, कवि को यह खतरा रहता है कि वह अपने मनःकल्प को खो देगा। यदि यह मनःकल्प सर्जनात्मक प्रेरणा की परिसमाप्ति पर अतीन्द्रिय लोकों में अरूप बना रहता है तो सम्भव है कवि उसे कभी रूप नहीं दे सके। वास्तविक सर्जन की अन्तिम प्रक्रिया अंशतः कल्पना द्वारा, अंशतः भाषा की सहायता से सम्पूर्णता को प्राप्त होती है।

प्रत्येक सच्चे कवि में कल्पना-शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वह अमूर्त्त को मूर्त्त करता है, वस्तुओं को नये योगायोग देता है—ऐसे योगायोग जो मन को यथातथ्य एवं सम्भाव्य की सीमा से दूर, बहुत दूर ले जाते हैं। उसके द्वारा कवि अपने मन के भाव-सत्य और दृश्यमान जगत् के यथार्थोन्मुख सत्य में शृङ्खला स्थापित करता है। वह अपनी प्रकृति को इतनी सचाई से जानता है और विश्व-प्रकृति की एकात्मता एवं तारतम्यता का उसे इतना स्पष्ट आभास रहता है कि उन परिपार्श्वों में उसकी कल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि विकसित हो जाती है जो उसकी साधारण अनुभूति के क्षेत्र के बाहर पड़ते हैं। इस अन्तर्दृष्टि से निर्दिष्ट हो वह प्रकृति के अर्द्धोन्मीलित रहस्य को पढ़ सकता है और जिस दिशा में वह परिचालित होती है उससे उन आदर्शों की परिकल्पना कर लेता है जिन्हें मूर्तिमान् करने में वह असमर्थ है। जिसे सामान्यतः प्रकृति कहा गया है उसके सम्बन्ध में उसके दो भाव हैं। जिस लक्ष्य की ओर वह प्रयत्नशील है उसे देखते हुए प्रकृति एक साथ सफल-असफल है और कवि न उसकी सफलता को श्रेय देता है, न विफलता से त्रस्त होता है। उसकी कल्पना स्फुट तत्त्वों का उस अखण्डता में पुनर्निर्माण करती है जो साधारण अनुभव के क्षितिज से बाहर है। जिस प्रकार हृदय की आकांक्षा अप्राप्य की ओर धावित होती है, उसी प्रकार अकल्पनीय में ही कल्पना का मुक्त प्रसार है। उसमें स्वप्न-तन्तुओं और आत्मप्रकाश से गढ़े हुए अनेक अस्तित्व समाहित रहते हैं। इसके लिए वह प्रकृति के दुष्प्राप्य और वाष्पीय अमृत-सार का उपयोग करता है, उसे तरतमता के नियमों में आबद्ध करता है। इस प्रकार गढ़ा हुआ प्रतिमान उसकी जाग्रत चेतना पर मुद्रित हो जाता है और सर्जनात्मक स्फूर्त्ति के निःशेष हो जाने पर भी उसकी पुनरुपलब्धि सम्भव है।

जब एक बार आवेशमय सहजानुभूति कवि की सर्जनात्मक कल्पना में मूर्तिमान् हो उठती है; जब एक बार सौन्दर्य-स्वप्न इस प्रकार आभ्यन्तर अभिव्यञ्जना प्राप्त कर लेता है, तो वह प्रसूत होना तथा स्रष्टा से स्वतन्त्र अपनी सत्ता से जीना चाहता है। स्वतन्त्र अस्तित्व के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधनों के अभाव में वह जो हो सकता है नहीं हो पाता, न वह स्रष्टा की मृत्यु के सहस्रों वर्षों बाद दूसरों की अनुभूति में जीवित रह सकता है। वह शरीर माँगता है जिसमें वह अपना व्यक्तित्व भर सके और रह सके। जब तक कलाकार कोई स्थायी वस्तु नहीं पा लेता, जिसमें वह अपने स्वप्न को मूर्त कर सके और उसे अमरता दे सके, तब तक सर्जन का अन्तिम अध्याय समाप्त नहीं होता। उसे अभिव्यञ्जना का माध्यम खोजना होगा—स्फटिक खण्ड, ताम्रपत्र, स्वर-प्रवाह अथवा रंग-पट—जिसमें उसका स्वप्न बन्दी होगा और जिसके द्वारा वह सहस्रशः नक्षत्रों के सौन्दर्य से आवृत्त रूप-वैभव के दर्शन कर सकेगा अथवा उस प्रभात की देवी का रूप धारण करेगा जो गुलाबी परिधान पहनकर

प्राची के उत्तुंग शिखर पर तुहिन बिन्दुओं पर पग धरती मन्द उतरती दीखती है।

माध्यम द्वारा अपने मनःस्वप्न को अभिव्यञ्जित करने की प्रक्रिया में कलाकार उसकी वास्तविकता से परिचित होता है। इमरसन ने कहा है—"मैं जो अपने से नहीं कह सकता, उसे तुमसे भी नहीं कह सकूँगा।" इस 'कहने' के प्रयत्न में, भाषा के माध्यम से गम्भीर विचार अथवा भावानुभूति की अभिव्यक्ति में मन उसे अखण्डतः ग्रहण कर लेता है। अन्य किसी भी प्रकार यह सर्वग्रहण असम्भव है। भाषा के ससीम क्षेत्र में चिर वृद्धिमान वस्तु-चक्र को बन्दी करने की प्रक्रिया में, जिसमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूति का साधारणीकरण हो जाता है, कवि अपने स्वप्न की महतीयता का अनुभव करता है। अभिव्यक्ति के प्रयत्न में पीड़ा अनिवार्य है—असीम के प्रति आकांक्षी हृदय की पीड़ा, परन्तु इस प्रयत्न में सफल होने पर मानव-जीवन के चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि हो जाती है। जिसे 'कवि की पीड़ा' कहा गया है वह वस्तुतः अभिव्यक्ति के माध्यम में वस्तु-सत्य के न समा सकने की पीड़ा है।

माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया दूरदर्शक अथवा अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा 'फोकस' करने के समान है। कष्टकर प्रयत्नों के बाद ताल इस स्थिति में आता है कि दृश्य दृष्टि-पथ में तीव्रतम रेखाओं में उभर आता है। शिल्पी के मन में एक ऐसा चित्र होता है जिसे वह स्फटिक में प्रत्यक्ष और अमर करना चाहता है। छैनी-हथौड़े से वह प्रस्तर-खण्ड को काटने-छाँटने लगता है और कभी इधर, कभी उधर पत्थर को तराशता है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगेगा कि हथौड़े के प्रहारों में कोई संगति नहीं है। परन्तु उसकी आँख उस 'मूर्ति' पर लगी है जो प्रस्तर-खण्ड के केन्द्र में विराजमान है और जिस तक पहुँचने में वह प्रयत्नशील है। जैसे-जैसे वह केन्द्र के पास आता जाता है, वैसे-वैसे उसकी तराश सूक्ष्म होती जाती है। जब स्फटिक में से मूर्त्ति साकार होगी तो क्या वह अपनी आभ्यन्तर चेतना में प्रसुप्त 'मूर्ति' को आकार धारण करा सकेगा अथवा क्या वह कोई अपर या ओछी चीज होगी और उसकी विफलता का प्रतीक बनेगी? हथौड़े का अन्तिम प्रहार कलाकार के लिए आत्मोपलब्धि का अतिक्रान्त क्षण है जब वह अपनी मानसी सृष्टि से साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार संगीतज्ञ के लिए मुक्ति या आत्म-लब्धि का क्षण उस समय आता है जब अनेक यत्नों और निरन्तर प्रयोगों के बाद वह अपनी प्रिय रागिनी के स्वरूप तक पहुँच जाता है। गायक की मनःमूर्ति और रागिनी के स्वरूप में तादात्म्य स्थापित होने पर ही उसकी आत्मा संगीत के लोकोत्तर रस से उद्दीप्त हो पाती है। राग चमक उठता है, स्वर लौ लेने लगता है।

कलात्मक सर्जन की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए कविताओं और चित्रों के लिए प्रयुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रचना' शब्द निराशाजनक और भ्रांतिपूर्ण है। एक प्राचीन कहानी है कि ग्रीस के एक कलाकार से हेलेन का एक चित्र तैयार करने को कहा गया था और उसे यह अनुमति प्राप्त थी कि वह नगर की सुन्दरतम कुमारिकाओं का 'मॉडल' के रूप में उपयोग कर सकता था। अपनी चेतना में हेलेन की छवि को मूर्त्तिमान न कर उसने बौद्धिक चुनाव द्वारा दृश्यमान परिपूर्ण सौन्दर्य से चित्र की 'रचना' करनी चाही। इस प्रकार की जोड़-तोड़ वाली कृति में एकान्विता असम्भव है। सर्वद्रुत् भावावेश के ताप से गले बिना विभिन्न अंग कलात्मक ढंग से एकीकृत नहीं हो सकते। सच्चा कलाकार अपने चित्र को अखण्ड 'देखता' है और अपनी आभ्यन्तर चेतना में उसकी प्रतिकृति समस्त अंगोपांगों के साथ उतारता है। वह उसी समय चित्र बनाना आरम्भ करता है जब यह मनःचित्र सम्पूर्ण रूप से आलेखित हो जाता है।

अन्य कला-माध्यमों की भाँति भाषा भी कवि-स्वप्न की अभिव्यञ्जना के मूर्त्तिमान होने की प्रक्रिया में बाधक है। कवि की अनुभूति अपने लिए कुछ शब्द खोज लेती है और ये शब्द मिले-जुले कुछ अन्य शब्द घसीट लाते हैं तथा ये नये शब्द अनुभूति को प्रभावित करते हैं जो कालान्तर में, काव्य-सर्जन की प्रक्रिया में, स्वयं रूपान्वित होती है और रूप की व्यञ्जनाओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार नई गहराइयों तथा नई सूक्ष्मताओं का अन्वेषण करती है। जैसे-जैसे 'रूप' अनुभूति के उपयुक्त ढाँचे में बँधता चलता है, वैसे-वैसे केन्द्रीय विचार अथवा भाव के नये पहलू मन में उभरते जाते हैं। फलस्वरूप ऐसे शब्दों और वाक्यांशों के नये आरोहावरोह वांछनीय होते हैं जो कविता में आवश्यक प्रवाह एवं गतिशीलता उत्पन्न कर सकें। अनेक महाकवियों ने एक ही छन्द के साधने में अनेक दिन व्यतीत किए हैं और अकेली कविता पर वर्षों लगाए हैं। ग्रे को एकमात्र कविता में अनुभूति और 'रूप' की पटरी बिठाने में चौदह वर्ष लगे। टेनीसन को अपनी अभिव्यञ्जना को बार-बार बदलना पड़ा, यहां तक कि प्रत्येक संस्करण में पाठ बदला हुआ है। राजेटी ने उन्नीस वर्ष की आयु में 'Blessed Damosel' की रचना की, परन्तु इस रचना का पाठ आज के संस्करण से नितान्त भिन्न है। बीसियों बार उसमें संशोधन किये गए हैं और अन्त में जब कवि के मन में सुन्दरतम 'रूप' प्रादुर्भूत हुआ तो वही पहली वस्तु-सत्य की झांकी थी जिससे कवि ने आरम्भ किया था। आज तक उपलब्ध कोई भी महान् काव्य भावोद्रेक की पहली अभिव्यक्ति नहीं है। प्रारम्भिक तात्कालिक पाठ सम्पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हो सकता, क्योंकि जिस भाषा द्वारा अपरिसीम को वाणी देनी है वह जड़ और ससीम है।

तथ्य यह है कि भाषा सदैव अनुभूति के सामान्य धरातल पर चलती है और इसीसे कवि के लिए अपने असाधारण स्वप्न को वाणी देना कठिन हो जाता है। कवि की भावमय अन्तरानुभूति या तो सामान्य तल पर इतनी उतर आए कि सामान्य भाषा में उसका प्रकाशन हो सके या कवि शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग कुछ इस तरह से करे कि उनके द्वारा उसका स्वप्न चरितार्थ हो। कवि धारणातीत को धारणा में बाँधना चाहता है, अकल्पित की कल्पना करना चाहता है। वह अनभिव्यक्त को सामान्य भाषा की निश्चित रूपरेखा में अभिव्यञ्जित करना चाहता है। यदि वह असीम की अभिव्यक्ति नहीं कर सका तो उसका लक्ष्य अपूर्ण रह जायगा। चूँकि उसका उत्तरदायित्व अपने ही प्रति है, चूँकि उसकी सर्वप्रमुख आकांक्षा यही है कि वह अपने स्वप्न को मूर्त्त करे और उसे विस्मृति के अभिशाप से बचाए, इसीसे जो अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महानता के कारण स्पष्ट एवं संहृत अभिव्यक्ति का अधिकारी बन जाता है वही सफल कवि कहा जा सकता है। भाषा के व्यञ्जनात्मक प्रयोग से कवि कल्पना-शक्ति के तकाज़े पूरे करता है जो अंश से अंशी तक, प्रतीक से प्रतीत तक और कल्पना से धारणा तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। जब वह अपने इस आदर्शपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह कर चुकता है, तब वह यह प्रयत्न करता है कि उसकी वाणी बुद्धिगम्य हो जिससे उसका गान अरण्य-रोदन न हो जाय।

अन्य द्वारा बोधगम्य होने की उसकी सफलता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी अपने आदर्श उत्तरदायित्व के निर्वाह की सफलता। उसकी सफलता का स्रोत इसमें है कि उसे जो भावनाएँ संवेदित करती हैं वे मानव-हृदय की सामान्य सम्पत्ति हैं। उसके पाठक इन संवेदनाओं में अपनी संवेदनाओं की अनुभूति प्राप्त करते हैं, जैसे वह मानव-प्रकृति की अन्तर्भूत आत्मा हो। यदि ये संवेदनाएँ एकांततः उसीकी चीज़ होतीं, यदि उसकी प्रतिभा लोकोत्तर या विचक्षण होती तो वही अपने गीत का आनन्द ले सकता। उसके लिए गाना असम्भव हो जाता, क्योंकि वह सामान्य धरातल ही उसे प्राप्त नहीं होता जो अन्य मनुष्यों के लिए मिलन-बिन्दु बनता। कवि और अन्य मनुष्यों में अन्तर यह है—जबकि कवि में ये भावनाएँ प्रत्यक्ष हो उठी हैं, चेतना के प्रकाश में आ गई हैं, वहाँ सामान्य मनुष्यों के हृदयों में उनका अस्तित्व सम्भावना की भूमि पर ही है। निरुद्ध जीवन के अन्धकार में वे उस क्षण की प्रतीक्षा करती हैं जब वे प्रत्यक्ष होंगी। हम जब कविता से अनुप्राणित होते हैं तो कवि की संवेदना हम तक नहीं पहुँचती। होता यह है कि हमारे संजात संचारीभाव तीव्र से तीव्रतर होते जाते हैं और संवेदना-स्तरों को भेदकर अन्त में निरुद्ध जीवन की गहराई में उतर जाते हैं। कवि द्वारा हम एक भाव की सिद्धि में समर्थ होते हैं और तब हमें दूसरे और अधिक गम्भीर भाव का पता चलता है जो और भी गहरे भाव-बोध से निवेदित है। जो भावनाएँ कवि के लिए अर्द्धोन्मीलित हैं उनके सम्बन्ध में हम अचेत रहते हैं और कवि जिनके प्रति चेतन है उनका हमें धुँधला आभास-भर रहता है। कवि सचेतन रूप से आभ्यन्तर जीवन के अग्राह्य को मूर्त करने में सहायक होता है और इस प्रकार हमारी निरुद्ध भावनाओं को स्वरूप देता है। चाहे कितने ही असम्पूर्ण रूप में अभिव्यञ्जित हो, प्रत्येक अर्थ-बोध हमें आभ्यन्तर जीवन के अन्ध-रहस्यों में उतार देता है और हमें वही देता है जो उसने कवि को दिया है। इस तरह शब्दों की अभिव्यञ्जना-शक्ति उतनी ही महत्त्वपूर्ण और यथार्थ हो जाती है जितनी स्पष्ट बोध की शक्ति। अपने मन की मूर्ति को निखारने के सिलसिले में कवि हमारे मन की उन गहराइयों को व्यञ्जित करता है जहाँ से प्रेरणा उद्भूत हुई है। व्यञ्जना की असम्पूर्णता के कारण ही यह सम्भव है कि कविता उस अगाध वास्तविकता को प्रकट कर सकती है जिसके सम्मुख कवि, हममें से सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की तरह ही, समाधि के मौन में खो जाता है। गीतकार जब चिरन्तन के प्रति अपने गीत उठाता है तो उसे तर्क-संगति एवं अर्थ-बोध की स्पष्टता को तिलाञ्जलि देनी होती है। काल-शैल पर चढ़कर कवि कालातीत कैलाश-शिखरों की उस मेघाकार रूपरेखा की झांकी पाता है जहाँ शब्द अर्थ की बोधगम्यता और ससीम के बन्धन से मुक्त हो जाता है। केवल इसी प्रकार कविता उस असीम तक पहुँच सकती है एवं उसे ग्राह्य बना सकती है जो मन की चिरन्तन जिज्ञासा का विषय है। केवल इसी प्रकार कवि हमें उस बिन्दु की अनुभूति दे सकता है जिसकी ओर उसकी कल्पना संक्रमित है। अभिधा के विपरीत व्यञ्जना पाठक अथवा श्रोता के मन में अपरिसीम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सम्भावना विकसित करती है। अपनी शक्ति के अनुसार हम उसके सहारे कवि के साथ खोज-यात्रा पर निकल चलते हैं। वह कवि को हमारे लिए मुक्ति-दूत बना देती है और काव्य मानव-जाति की स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। वह ऐसा कोश हो जाता है जिससे प्रत्येक उत्तर पीढ़ी समाज के विकास के साथ धन-संचय करती है, सर्वश्रेष्ठ कवि का स्वप्न और उसे व्यञ्जित करने वाले शब्दों के अर्थ समाज-विकास के साथ उत्तरोत्तर अधिक सुन्दर रूप से आत्मसात् होते जाते हैं और मनुष्य-मात्र के लिए अनन्त काल तक ज्ञान के अक्षय-स्रोत बने रहते हैं।

अध्ययन : भारतीय लेखक

रामलालसिंह

साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल

स्वस्थ मन वाले मनुष्य की प्रकृति में पूर्णता, संगति, अभेदत्व तथा समष्टि की ओर जाने की प्रवृत्ति बीज रूप में छिपी रहती है, इसीलिए वह किसी स्थान, काल की उपाधि से सीमित विशिष्ट वस्तु की सामयिक अथवा स्थानीय विशेषताओं का उतना आदर नहीं करता, जितना वह उसके सार्वभौम अथवा चिरन्तन गुणों का आदर करता है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह विशेष से सामान्य की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है। इसी प्रवृत्ति का दर्शन हमें साधारणीकरण की प्रक्रिया में दिखाई पड़ता है। इस मानवीय प्रवृत्ति को पकड़ने के कारण भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी-न-किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे यहाँ आते रहे हैं। भाव-क्षेत्र के बीच हमारी वाणी सदा भेदों को चीरकर अभेदों को ऊपर करती रही है। इसीलिए यहाँ के शास्त्रीय ग्रन्थों में साधारणीकरण की चर्चा बहुत अधिक मात्रा में मिलती है।

इस निबन्ध की प्रथम समस्या साधारणीकरण की परिभाषा, प्रक्रिया, तत्त्व और महत्त्व का विवेचन तथा तत्सम्बन्धी प्राचीन मतों का उल्लेख है, तदनन्तर उसके विषय में शुक्लजी के मत का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन है।

साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है—व्यक्तित्व का विलयन, निर्वैयक्तीकरण, सम्बन्ध-विशेष का त्याग, असाधारण का साधारणीकरण। इस प्रकार साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है, जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में दिखाई पड़ती हैं। इसमें साधारणीकरण की प्रक्रिया वह प्रक्रिया है, जिसमें सहृदय अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य या जीवन के विभावादि को सामान्यीकृत अथवा मानवीय रूप में ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया से सहृदय तथा अनुकार्य दोनों कालगत तथा स्थानगत विशिष्ट उपाधियों को छोड़कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। साधारणीकरण का व्यापार विशिष्ट भावों की वैयक्तिक अनुभूति को रस-रूप में परिणित कर देता है। यह क्रिया पाठक, श्रोता, दर्शक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि, सबके हृदय में घटित होती है। इसीको भट्टनायक भावना-व्यापार, साहित्य-दर्पणकार विभावन व्यापार, अभिनव गुप्त बीत-बिघ्न-प्रतीति व्यापार या कभी-कभी साधारणीकरण भी कहते हैं। विभावन व्यापार ही रस-प्रक्रिया की सुदृढ़ भूमिका तैयार करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधारणीकरण की प्रक्रिया में पाँच अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं। वे क्रमशः–पूर्वज्ञान (Apperception), इन्द्रियसन्निकर्ष (Preparation), अनुभूति (Perception), तुलना (Comparison) और सामान्यीकरण (Abstraction) हैं।

प्रथम अवस्था में सहृदय में काव्य-शास्त्रादि के अध्ययन तथा लोक-निरीक्षण श्रवणादि से काव्य अथवा जगत् की अनुभूतियों को समझने की शक्ति आती है। इसके बिना कोई भी सहृदय साधारणीकरण की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। भरत मुनि इसी को 'बुध' शब्द से अभिहित करते हैं।[1] उनकी दृष्टि से 'बुध' का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञानयुक्त व्यक्ति नहीं वरन् विविध अनुभवजन्य ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति है। अभिनव गुप्त निरूपित सहृदयों के लक्षण व्यासंग (अध्ययन), विकसित मन, तथा समरस होने की चित्तवृत्ति में साधारणीकरण की प्रथम स्थिति की आवश्यक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

द्वितीय अवस्था में सहृदय काव्य, नाटक अथवा प्रत्यक्ष जीवन का दृश्य रागात्मक रूप में देखता है, निज सुख-दुःखादि विवशी भावों से मुक्त होता है, क्योंकि सहृदय जब तक अपने वैयक्तिक सुख-दुःखों से आबद्ध रहेगा, तब तक वह तन्मयता की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता।

तृतीय अवस्था में सहृदय काव्य पढ़ते समय या नाटक देखते समय पात्रों को अपने दृष्टि पथ के सामने घूमता हुआ पाता है। इस समय वह उन्हें विशिष्ट देश, काल, नाम आदि उपाधियों से मुक्त रूप में देखता या अनुभव करता है।

चतुर्थ अवस्था तुलना की है। इस अवस्था में सहृदय अपने मन में आये हुए विशिष्ट उपाधियों से युक्त पात्रों को अपनी कल्पना द्वारा अपनी पूर्वोपार्जित अनुभूतियों तथा संस्कारों से बार-बार तुलना करता है। यही स्थिति तन्मयता की होती है।

अन्तिम स्थिति में उन पात्रों में पूर्वार्जित अनुभूतियों, आदर्शों तथा संस्कारों की अनुरूपता पाकर उनको उपाधिमुक्त रूप में निरूपित करता है, जिसे साधारणीकरण की स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में पात्रगत् अनुभूतियों की व्यक्तिनिष्ठता दूर हो जाती है।

साधारणीकरण का कारण मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति है, मानव-सुलभ सहानुभूति है, अथवा किसी वस्तु को एक साँचे में देखने की प्रवृत्ति है, या इसीको दार्शनिक पदावली में भेद में अभेद की ओर जाने की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

साधारणीकरण में मुख्यतः तीन तत्त्व हैं—१. कवि का लोकधर्मी व्यक्तित्व, जिससे वह अपनी अनुभूति अथवा विभावादिकों को विश्वात्मक बना देता है; २. भाषा का भावमय प्रयोग और ३. पर-प्रतीति से भरा व्युत्पन्न स्वस्थ सहृदय।

यदि कवि का व्यक्तित्व लोकधर्म का अनुकरण नहीं करता, लोकसाधारण भावों को नहीं अपनाता, तो साधारणीकरण सम्भव नहीं। कवि की रसवत्ता ही काव्य की जननी होती

---

१. षडङ्गनाट्यकुशलाः प्रबुद्धाः शुचयः सभाः।
चतुरातोषकुशला नेपथ्यताः सुधार्मिकाः॥ 'नाट्यशास्त्र'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, और कवि की रसवत्ता का अर्थ है—साधारणीकरण की क्षमता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारणीकरण की शक्ति के बिना काव्य-सृष्टि नहीं हो सकती। साधारणीकरण के व्यापार से ही कवि अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर साक्षात् रूप से जगत् के पदार्थों से रसमयी अनुभूति प्राप्त कर कलात्मक रूप में उसकी अभिव्यक्ति करता है। साधारणीकरण के व्यापार को अपनाये बिना जो कविता या साहित्य रचा जायगा वह वाग्जाल, शब्द-कारीगरी, अलंकार-चमत्कार कहा जा सकता है, पर काव्य नहीं। वह विस्मय, कुतूहल की सृष्टि कर सकता है पर रस नहीं उँडेल सकता। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों, हजारों क्या लाखों आदमी ग्रहण करें। जब किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता ही न रहेगी तब उसे कोई पढ़ने या सुनने क्यों जायगा? जिस कवि का स्वान्तःसुखाय सबका सुख नहीं बन सकता; जिसका चित्त, भाव, विचार, आदर्श, कल्पना, धारणा सार्वजनीन नहीं हो सकती, उसके साथ साधारणीकरण नहीं हो सकता। अतः यदि कवि को अपनी आत्मानुभूति को विश्वानुभूति बनाना वाञ्छनीय है तो उसे साधारणीकरण का व्यापार अपनाना पड़ेगा। इसी प्रकार सहृदय के भावमय व्यापार को संचालित करने के लिए भाषा का भावमय प्रयोग आवश्यक है। तीसरे, यदि सहृदय पर-प्रतीति से भरा नहीं है; किसी निजी सुख-दुःख के वेग में है, तो उसका हृदय साधारणीकृत अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता।

साधारणीकरण के कारण रस चिन्मय, लोकोत्तर चमत्कार-ज्ञानस्वरूप, सत्त्वोन्द्रेकयुक्त, अखण्डानन्दमय, अस्मितास्वादन रूप बन सका। इसी कारण वह भग्नावरणाचित अथवा अलौकिक कोटि का माना गया। इसी कारण रस की प्रकृति लोक-सत्तात्मक कोटि की हुई। इसीसे साहित्य साध्य-परम सामाजिकता के रूप में स्वीकृत हुआ। इसी साधारणीकरण के व्यापार को अपनाने के कारण सहृदय अपनी पृथक् सत्ता का परिहार कर संसार के द्वन्द्वात्मक भावों की अनुभूति स्वार्थमुक्त रूप में करता है; अपने वैयक्तिक स्वार्थों की संकुचित सीमा से उठकर लोक-सामान्य भावभूमि में विचरण करने लगता है, जहाँ वह जाति, देश, काल की सीमा से ऊपर उठकर मानव-मात्र के सुख-दुःख, हर्ष-क्लेश, विजय-हार का स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करता हुआ अपने हृदय को विश्व-हृदय में परिणत कर देता है। जिस मनुष्य में साधारणीकरण की जितनी अधिक शक्ति सामान्य जीवन में आ जायगी, उसके हृदय का बन्धन उतना ही अधिक खुल जायगा; उसका हृदय संकोच उतना ही नष्ट हो जायगा तथा उसे मनुष्यता की उच्चभूमियों के दर्शन भी उतनी ही अधिक मात्रा में प्रतिक्षण होने लगेंगे। किसी कलाकृति में साधारणीकरण की जितनी अधिक क्षमता रहेगी, उसमें उतना ही अधिक सच्चा समन्वय, सच्ची संगति एवं सच्चे सौन्दर्य का दर्शन होगा। कलाकृति में इसी साधारणीकरण की विशेषता होने के कारण अनेक युद्धों, पराभवों एवं अवनतियों के बीच भी सहृदय जनता रंग-रथी की रंगीन स्मृतियों को कई पीढ़ियों तक सँभालकर रखती आई है; इसी विशेषता के कारण कवि के शब्दों का खिलवाड़ पीढ़ियों का पोषण एवं उत्तरादायित्व बनता आया है; इसी विशेषता को धारण कर कलाकृति सहस्र-सहस्र मानवों को नवीन जन्म देती आई है; अस्तित्ववान के अस्तित्व की साँस बनती आई है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि साधारणीकरण का सिद्धान्त तत्त्वमसि को प्रयोगात्मक रूप में चरितार्थ करता है। इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हमारे आचार्यों ने लोक-हृदय की सामान्य अन्तर्भूमि परखकर की है। यह सामान्य अन्तर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-रचना की रूढ़ि या परम्परा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन-व्यापार के बदलने वाले बाहरी रूप-रंग पर स्थित नहीं है। इसकी नींव बहुत गहरी है। इसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूल देश से है; उसकी सामान्य वासनात्मक सत्ता से है, जो देश, काल की उपाधियों से मुक्त है। साधारणीकरण का महत्त्व काव्य के प्रत्येक अंग में समाया है। इसका अभाव कवि, भावना, भाषा, कल्पना, अलंकार, सहृदय आदि जहाँ कहीं भी हुआ कि काव्य-सौन्दर्य विकृत हो जायगा।

साधारणीकरण-सम्बन्धी सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए उसके विषय में प्राचीन आचार्यों का मत संक्षेप में नीचे विवेचित किया गया है।

भट्टनायक इसके आविष्कारक हैं। इनकी दृष्टि में काव्य-सौन्दर्य, गुण, शक्ति आदि से भावकत्व व्यापार उद्भूत होता है। इसी भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण व्यापार सम्भव होता है। इसीसे विभावादिकों का रूप साधारणीकृत कोटि का हो जाता है[1], अर्थात् आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, स्थायीभाव, अनुभाव, संचारीभाव का साधारणीकरण होता है। वस्तुतः भावना-व्यापार का सम्बन्ध कवि-कर्म से है। कवि-कर्म से ही काव्य में सौन्दर्य, प्रभाव, शक्ति आदि का समावेश होता है, जिससे भावना-व्यापार सम्भव होता है। भावना-व्यापार प्रकारान्तर से कवि-कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि-कर्म का साधारणीकरण अन्तर्निहित है। भट्टनायक के साधारणीकरण में विभावादिक, विशेषतः आलम्बन के साधारणीकरण पर अधिक बल है। विभावादिक कवि की पूरी अनुभूति के प्रतीक हैं, अतः विभावादिक के साधारणीकरण में कवि की अनुभूति या कवि-कर्म का साधारणीकरण प्रकारान्तर से निहित है। विभावादिक खड़ा करना कवि-कर्म के अन्तर्भूत है। इस प्रकार साधारणीकरण में आलम्बन पर अधिक बल देकर भट्टनायक साधारणीकरण में कारयित्री प्रतिमा पर अधिक बल देते हैं।

भट्टनायक के साधारणीकरण-विवेचन में सहृदय का, कवि-निरूपित विभावादिक को सामान्यीकृत रूप में अपनी अनुभूति का विषय बनाना, उसके हृदय में सत्वोद्रेक होना, संविद्-विश्रान्ति की अवस्था उत्पन्न होना, इस बात का प्रमाण है कि उसका भी साधारणीकरण होता है।

इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि, सहृदय, विभावादि सबका साधारणीकरण निहित है—यह दूसरी बात है कि वे विभावादिक के साधारणीकरण पर सर्वाधिक बल देते हैं।

इसके पश्चात् अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत साधारणीकरण में कवि, सहृदय, आलम्बन सबके साधारणीकरण की स्पष्ट चर्चा करते हैं।[2] अभिनव गुप्त के साधारणीकरण में विभाजन-वादियों के साथ सहृदय, कवि, सबका साधारणीकरण माना गया है। भट्टनायक या भट्टतौत से

१. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय-संविद्विश्रान्ति सत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः। (मम्मट के अनुसार)—'काव्यप्रकाश', चतुर्थ उल्लास

२. कवेरन्तर्गतं भावं भावयन भाव उच्यते। —भट्टतौत
नायकस्य कवेः श्रोतुः समानानुभवस्तथा ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर यही है कि इनके साधारणीकरण में सहृदय के ऊपर अधिक बल है, इसीलिए वे साधारणीकरण-व्यापार को 'वीतविघ्न प्रतीति व्यापार', साधारणीकरण से उपलब्ध अनुभव को 'वीतविघ्न प्रतीति' तथा रस को 'सर्वथा वीतविघ्न प्रतीति ग्राह्यो' अभिहित करते हैं; तथा साधारणीकरण में बाधक विघ्नों में अधिकांश का सम्बन्ध सहृदय से स्थापित करते हैं।

दशरूपककार की दृष्टि में साधारणीकरण में सभी सामान्य हो जाते हैं। कवि कर्णपूर भी रसानुभूति में सबके संश्लेष पर बल देते हैं। मम्मट के मत में सम्बन्ध-विशेष का त्याग, निर्वैयक्तीकरण अथवा असाधारण का साधारणीकृत होना ही साधारणीकरण है। ये भी भट्टनायक का अनुसरण करते हुए साधारणीकरण में विभावादिक के साधारणीकरण पर अधिक बल देते हैं।

विश्वनाथ अपने साधारणीकरण-विवेचन में विभावादिक,[1] स्थायीभाव[2] तथा सामाजिक का साधारणीकरण बताते हुए आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य[3] की भी चर्चा करते हैं। साधारणीकरण में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात अलग रूप से विश्वनाथ में ही मिलती है। इसी तथ्य पर गम्भीरता से सोचने के कारण ही आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति-मात्र के साथ सहृदय का तादात्म्य होने पर शुक्लजी को भाव-विवेचन में शील दशा की बात सूझी और सहृदय को शील द्रष्टा में निरूपित कर उन्होंने साधारणीकरण की मध्यम कोटि का आविष्कार किया।

पण्डितराज जगन्नाथ साधारणीकरण को प्रत्यक्ष रूप से नहीं मानते, किन्तु रस को भग्नावरणाचित कहकर अभेद की बात द्वारा साधारणीकरण को प्रकारान्तर से मान लेते हैं।

शुक्लजी की कृतियों में साधारणीकरण की व्याख्या एक स्थान पर पूर्णरूपेण नहीं मिलती; इसीलिए उनके आलोचक किसी एक वाक्य को लेकर उड़ पड़ते हैं और उसे एकाङ्गी, संकुचित अथवा अशास्त्रीय घोषित करने का प्रयत्न करते हैं, और कुछ उसे किसी आचार्य के अनुकरण का फल बतलाने का प्रयत्न करते हैं।

रस-मीमांसा के 'काव्य का लक्ष्य' नामक निबन्ध में शुक्लजी ने साधारणीकरण में कवि, विभावाद तथा सहृदय तीनों के साधारणीकरण की बात कही है, वह उन्हीं के शब्दों में देखिए—"**जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है, वहाँ तीनों हृदयों का समन्वय चाहिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।**"[4] अर्थात् काव्य में साधारणीकरण की स्थिति लाने के लिए शुक्लजी सर्वप्रथम कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर बल देते हैं। इसे भी उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट रूप से देखिए—"**विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह साधारणीकरण हो सकता है।**"[5] अर्थात् विषय

१. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
२. साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।
३. प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। —'साहित्यदर्पण'
४. 'रस मीमांसा', पृष्ठ ६७-६८।
५. " " " ६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सामान्यत्व की ओर दृष्टि जाते ही कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होने लगता है, और जब तक वह सामान्यत्व का चयन तथा निरूपण करता रहता है, तब तक उसकी अनुभूति का साधारणीकरण होता रहता है। कवि की अनुभूति अथवा कवि-कर्म के साधारणीकरण पर बल देने के कारण ही वे सच्चे कवि की कसौटी, लोक-हृदय की पहचान, लोक-धर्म का निरूपण, अनेक विशेषताओं एवं विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय का चित्रण मानते हैं।[1] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कवि की अनुभूति का सामान्यीकरण कौन करता है ? शुक्लजी का उत्तर है—आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित सामान्य धर्मवाला व्यक्ति या वस्तु। जब तक आलम्बन सार्वजनीन या मानवीय कोटि का नहीं होगा, सामाजिक स्तर का नहीं होगा, तब तक वह कवि या सहृदय की सहानुभूति आकर्षित नहीं कर सकता; उसमें समानुभूति उत्पन्न नहीं कर सकता; सत्त्वगुण का उद्रेक नहीं कर सकता; सामान्य कोटि का भाव उत्पन्न नहीं कर सकता। शुक्लजी का कहना है कि जब तक किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता नहीं रहेगी, तब तक उसे कोई पढ़ने या सुनने क्यों जायगा ? फिर वे आगे कहते हैं—"**जब तक किसी भाव का विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया** जाना हमारे **यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।**"[2] अर्थात् किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता, आलम्बन रूप में साधारणीकृत धर्म की प्रतिष्ठा से आती है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।[3]

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। यदि शुक्लजी केवल आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण का उल्लेख-मात्र करके रह गए होते, साधारणीकरण के स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में और कुछ चर्चा न करते, तब भी इस प्रसंग में उनके ऊपर यह आरोप लगाना ठीक नहीं होता कि उनका साधारणीकरण सम्बन्धी विवेचन एकाङ्गी है; उसमें कवि की अनुभूति अथवा पूरे कवि-कर्म का साधारणीकरण विवेचित नहीं है। वस्तुतः जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है ; उसकी मानसी सृष्टि का प्रतीक है; वह पूरे कवि-कर्म से निर्मित हुआ है। काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं; वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं, किन्तु वे विशेष या व्यक्ति सामान्य के प्रतिनिधि होकर आते हैं।[4] इस सामान्य के प्रतिनिधियों के निरीक्षण, पहचान तथा निर्माण-काल में कवि ही नहीं, सहृदय-मात्र की अनुभूति का साधारणीकृत हो जाना स्वाभाविक है। इस तथ्य का समर्थन काव्य-शास्त्र ही नहीं, मनोविज्ञान भी कर रहा है। शुक्लजी ने कवियों की उच्चता साधारणीकृत अनुभूति के तारतम्य से निरूपित की है। उन्होंने वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी की श्रेष्ठता उनकी साधारणीकृत अनुभूति की मात्रा के आधार पर स्थापित की है; रीतिकालीन अधिकांश कवियों की निन्दा उनमें साधारणीकृत अनुभूति के अभाव के कारण की है। भारतीय काव्य की विशेषता

१. **'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृष्ठ ३०८-३०९।**
२. " " पृष्ठ ३०८।
३. " " पृष्ठ ३१३।
४. " " पृष्ठ ३०९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरूपित करते समय भी उनकी दृष्टि कवि की साधारणीकृत अनुभूति पर सर्वाधिक मात्रा में स्थित है, यह तथ्य उनकी निम्नाङ्कित पदावली से स्पष्ट है—"भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है; किसी-न-किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार को झंकार सुनाने में ही सन्तुष्ट रहे, जो मनुष्य-मात्र के भीतर से होता हुआ गया है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, स्पष्ट-अस्पष्ट रूप से अनेक बार, अनेक बातें, बलपूर्वक अनेक प्रसंगों में कही हैं।

अब शुक्लजी के साधारणीकरण सिद्धान्त के द्वितीय तत्त्व आलम्बन के साधारणीकरण पर विचार करना चाहिए, जिस पर वे सबसे अधिक बल देते हैं।[2] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शुक्लजी के आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर सबसे अधिक बल देने का कारण क्या है और वह कहाँ तक ठीक है?

समीक्षक रूप में शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे किसी भी सिद्धान्त के निरूपण में मूल तथा केन्द्रीय वस्तु तुरन्त पकड़ लेते हैं। यह बात साधारणीकरण के विषय में भी सत्य है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो यही अवगत होगा कि जीवन तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में किसी तरह की अनुभूति उत्पन्न करने में आलम्बन की सत्ता मुख्य है।[3] कवि अथवा श्रोता, पाठक आलम्बन के ही माध्यम से अपनी अनुभूति साधारणीकृत करने में समर्थ होते हैं। हमारे हृदय में प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों के सामाजिक रूप की प्रतिष्ठा सामाजिक कोटि के आलम्बनों के दर्शन, सम्पर्क, प्रत्यभिज्ञान आदि से ही होती है। कवि में भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान ये ही हैं।[4] उदात्त कोटि की सौन्दर्य-भावना जगने का अर्थ है—मन में उदात्त कोटि के आलम्बन का चित्र आना।[5] तात्पर्य यह है कि सामाजिक कोटि का भाव उत्पन्न करने के लिए सामाजिक कोटि का विभाव आवश्यक है। इसी कारण शुक्लजी भी सच्ची सहानुभूति के लिए भाव-विभाव का सामञ्जस्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं।[6] रसात्मक बोध के विविध रूप नामक निबन्ध में आलम्बन के सामाजिक स्वरूप की महत्ता पर विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष जीवन अथवा साहित्य में सामाजिक कोटि के आलम्बनों से रुचि नहीं रखता; उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ नहीं होता, वह काव्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण नहीं कर सकता; वह सच्ची कविता में रुचि नहीं ले सकता।[7] यदि साधारणीकरण में शुक्लजी के मुख्य सिद्धान्त आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण को न मानें तो फिर किसी भी प्रकार की कविता से सहृदयों का साधारणीकरण

१. 'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृष्ठ ३२४।
२. " " " ३१३।
३. " " " ३२८।
४. " " " ३२१।
५. " " " ३३०।
६. " " " ३३८।
७. " " " ३३१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुरन्त सम्भव हो जायगा।

रामवनवास के पश्चात् भरत, रामवनगमन में कैकयी को मूल कारण समझकर, उन पर बिगड़ते हैं, उन्हें भला-बुरा कहते हैं। इस आधार पर तुलसी ने कैकयी को राम-विरोधी दिखाकर उनमें आलम्बनत्व धर्म का समावेश कर दिया है, अन्यथा भरत से पाठक या श्रोता का तादात्म्य न हो पाता। साधारणीकरण में केन्द्रीय वस्तु आलम्बन का लोक-धर्मी स्वरूप है, अन्यथा सहृदय-मात्र के साथ उसका साधारणीकरण नहीं हो सकता; वह सबके भावात्मक सत्त्व पर समान प्रभाव नहीं डाल सकता; उसके आश्रय के साथ सभी सहृदयों का तादात्म्य नहीं हो सकता, फलतः रसानुभूति-प्रक्रिया में सहृदयों के व्यक्तित्व का परिहार नहीं हो सकता। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से अभिज्ञ होने के कारण शुक्लजी ने अपनी साधारणीकरण की परिभाषा में आलम्बन के लोक-धर्मी स्वरूप पर सर्वाधिक मात्रा में बल दिया है। इस तथ्य की स्पष्टता के लिए उनकी परिभाषा का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। **"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"**[1] आगे इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस तथ्य को और स्पष्ट किया है—

साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही अपने सामान्य धर्मों के कारण सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।[2]

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है, व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।[3] तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं', इसका तात्पर्य यही है कि रस-मग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है, या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है, उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।[4]

'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं', यह पदावली स्पष्ट कर देती है कि शुक्लजी साधारणीकरण में विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन), अनुभाव, संचारीभाव तथा आश्रय का साधारणीकरण मानते हैं, अन्यथा विभाव के पश्चात् आदि न जोड़ते। **"थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक-हृदय हो जाता है, उसका अपना हृदय नहीं रहता।"** ये दोनों वाक्य स्पष्ट करते हैं कि उन्हें सहृदय पाठक तथा श्रोता के हृदय का साधारणीकरण भी मान्य है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि शुक्लजी के साधारणीकरण में कवि, आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन तथा श्रोता अथवा पाठक—सबके साधारणीकरण का तत्त्व विद्यमान है। किन्तु

१. 'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृ० ३०८।
२. " " " ३१२।
३. " " " ३१३।
४. " " " ३१३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यात्मक रसानुभूति में कवि, सहृदय तथा विभावादि तीनों तत्त्वों का साधारणीकरण सम्भव होता है, उसीको शुक्लजी उत्तम कोटि की रसावस्था मानते हैं। जहाँ पाठक या आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होकर कवि की भावना या अनुभूति के साथ साधारणीकरण होता है वहाँ शुक्लजी मध्यम कोटि की रसावस्था मानते हैं।[1] जैसे कोई क्रोधी प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराधी दीन पर क्रोध की प्रबल व्यञ्जना कर रहा है, तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रागात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा, आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होगा; उसके भाव में वह लीन नहीं होगा, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शीलद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा; उसकी भावव्यञ्जना की स्वाभाविकता-मात्र का अनुमोदन करेगा। शुक्लजी के अनुसार यह प्रभाव भी रसात्मक ही है।[2] पर उनकी दृष्टि में यह रसात्मकता मध्यम कोटि की मानी जायगी। फिर इसी प्रसंग में आगे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया है कि जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित रहता है,[3] वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई-न-कोई भाव अवश्य जगा रहता है। अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, उस पात्र के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होता, वरन् वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन[4] हो जाता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य या साधारणीकरण होता है, पर यह तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।[5] शुक्लजी इसे भाव की शील-दशा मानते हैं। शील-दशा के विषय में उनकी मान्यता है कि "वह अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है।"[6] इसकी अनुभूति पात्रों के चरित्र-चित्रण अथवा चरित्रानुशीलन के अवसर पर होती है। इस प्रकार भाव की शील-दशा को वे मध्यम कोटि की रसानुभूति मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की स्थितियाँ हमारे यहाँ भाव अथवा भावाभास की स्थिति के भीतर विवेचित हैं। किन्तु साधारणीकरण के प्रसंग में इसका विवेचन शुक्लजी के अतिरिक्त उनके किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं किया है। अतः साधारणीकरण के प्रसंग में उनकी इस विवेचना को मौलिक मानने में किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिए। शुक्लजी की यह विवेचना साधारणीकरण की दृष्टि से मौलिक होते हुए भी अशास्त्रीय नहीं कही जा सकती। जैसा ऊपर के विवेचन से स्वयं शुक्लजी भी इसे अशास्त्रीय नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही सूक्ष्मता से विचार करने से मिलती है—(१) जिस भाव की व्यञ्जना हो उसीमें लीन हो जाना।[7] (२) जिस भाव की व्यञ्जना हो उसी भाव में लीन

१. 'चिन्तामणि' प्रथम भाग, पृष्ठ ३१५।
२. " " " पृष्ठ ३१४।
३. " " " पृष्ठ ३१४।
४. " " " पृष्ठ ३१५।
५. " " " पृष्ठ ३१४-३१५।
६. 'अभिभाषण', पृष्ठ ८४-८५।
७. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ५९-६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो न होना पर उसकी व्यञ्जना की स्वाभाविकता अथवा उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना। शुक्लजी द्वारा विवेचित उत्तम कोटि की साधारणीकरण की स्थिति लक्षण ग्रन्थों द्वारा अनुमोदित प्रथम प्रकार की रसानुभूति के भीतर आएगी तथा मध्यम कोटि की स्थिति द्वितीय प्रकार की रसानुभूति के भीतर।

साधारणीकरण की मध्यम स्थिति के आविष्कार में शुक्लजी के ऊपर दो पुस्तकों—विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' तथा शैण्ड के 'फाउण्डेशन ऑफ कैरेक्टर'—का प्रभाव जान पड़ता है। भाव-विवेचन में शील-दशा की बात उन्हें शैण्ड की उक्त पुस्तक से प्राप्त हुई। साधारणीकरण में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात उन्हें विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से मिली। 'साहित्य दर्पण' में पठित आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य वाली बात पर गम्भीरता से सोचने के कारण उसकी अपवादीय स्थिति का आविष्कार उन्होंने किया। आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली इस स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति-मात्र के साथ सहृदय के तादात्म्य होने पर तथा भाव-विवेचन में शैण्ड की शील-दशा का उपयोग करने के कारण, उक्त स्थिति में सहृदय को शीलद्रष्टा के रूप में निरूपित कर उन्हें साधारणीकरण की मध्यम कोटि की बात सूझी।

शुक्लजी की साधारणीकरण विवेचन-सम्बन्धी विशेषता के ज्ञान के लिए इस सम्बन्ध में पुराने आचार्यों से उनकी तुलना आवश्यक है। भट्टनायक साधारणीकरण का सामर्थ्य भावकत्व व्यापार में मानते हैं, अभिनवगुप्त व्यञ्जना-व्यापार में, किन्तु शुक्लजी लोकधर्म वाले आलम्बन में। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में साधारणीकरण में केन्द्रीय वस्तु आलम्बन का लोकधर्मी स्वरूप है, भट्टनायक के मत में भावना-व्यापार तथा अभिनवगुप्त की दृष्टि में सहृदयता। आचार्य भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण का मूलाधार कवि की कारयित्री शक्ति है, अभिनवगुप्त की दृष्टि में सहृदय तथा शुक्लजी की दृष्टि में आलम्बन। साधारणीकरण के स्वरूप-निरूपण में लगभग तीनों सहमत दिखाई पड़ते हैं, केवल बल में कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। कवि-सहृदय के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी, सभी का साधारणीकरण तीनों को मान्य है। इसमें भट्टनायक कवि की कारयित्री प्रतिभा पर सर्वाधिक बल देते हैं, शुक्लजी आलम्बन के लोकधर्मी स्वरूप पर तथा अभिनवगुप्त सहृदय पर। साधारणीकरण का प्रभाव—व्यक्तित्व का परिहार, सत्त्वगुणोद्रेक रसानन्द, संविदविश्रान्ति, रसास्वादन मानने में सभी सहमत हैं। सैद्धान्तिक रूप में भारतीय आचार्यों का साधारणीकरण सम्बन्धी मत मानते हुए भी, मध्यम कोटि के आविष्कार और काव्य तथा नाटक के अतिरिक्त अन्य साहित्य-रूपों के साथ इसके व्यावहारिक प्रयोग की विधि बताने में शुक्लजी की देन मौलिक कोटि की कही जा सकती है। पुराने आचार्यों ने प्रायः शृङ्गार-वीर अथवा कभी-कभी रौद्र रस को ही लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया था; शुक्लजी ने इससे आगे बढ़कर अन्य रसों के साथ इसके प्रयोग की विधि बताई। साधारणीकरण की पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए भी शुक्लजी ने आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेकर तथा उसमें अपने व्यक्तित्व का पुट देकर उसे मनोवैज्ञानिक तथा सामयिक बनाने का प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों दिशाओं में भी शुक्लजी का प्रयत्न साधारणीकरण-विवेचन के क्षेत्र में मौलिक कोटि का है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनन्त चतुर्वेदी

इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

जोशीजी का उपन्यास-साहित्य में आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उपन्यास-साहित्य में पात्रों की मनःस्थिति के आधार पर पूरे उपन्यास के सूत्र इकट्ठे करके सँजोना इसी प्रतिभाशाली कलाकार की विशेषता है। जोशीजी के उपन्यासों के पूर्व तक हिन्दी-उपन्यासों की स्थिति बाह्यार्थवादी रही है। कतिपय सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं को विभिन्न घटनाओं और चरित्रों के सहारे से खड़ा कर देना, यही इन उपन्यासों का उद्देश्य रहा है। किन्तु चरित्रों की आत्मचेतना और विकृतियों के आधार पर उपन्यास के एक पूरे ढाँचे को खड़ा कर देना शायद जोशीजी के पूर्व तक किसीने भी नहीं किया। सन् '३० के साहित्यिक परिवर्तन-काल में जिन प्रमुख प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहा, उनमें यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। आधुनिक उपन्यास-साहित्य को इस प्रवृत्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। प्रेमचन्द-युग में इस प्रवृत्ति के केवल दो ही विशिष्ट कलाकार थे—जैनेन्द्र और जोशीजी।

जैनेन्द्रजी के उपन्यास एक आदर्श से आच्छादित हैं, पात्र केवल इस आदर्श को प्राप्त करने में सहायक-मात्र हैं। उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व उतना महत्त्वपूर्ण नहीं लगता जितना कि जोशीजी के उपन्यासों के पात्रों का लगता है। इस मूल अन्तर का केवल एक प्रमुख कारण है। जैनेन्द्रजी वास्तव में एक दार्शनिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने सामाजिक समस्याओं को अपनी विशिष्ट शैली से आवृत्त कर एवं पात्रों को रहस्यात्मकता का आवरण डालकर प्रस्तुत किया है। मूल में उनके उपन्यास व्यवहारगत विषमता का आधार लिये हुए हैं। उनके पात्र इस विषमता को एक रहस्यवादी ढंग से प्रकट करते हैं। बीच-बीच में इन पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की झलक भी मिलती चलती है। लेकिन केवल पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अथवा अन्तश्चेतना के नग्न-रूप को प्रकट करना उनका उद्देश्य नहीं है। यह तो उनके उपन्यासों का सहायक-मात्र है। जैनेन्द्रजी के लिए मनोविज्ञान एक साधन है, साध्य नहीं।

वस्तुतः जोशीजी के उपन्यासों के आधार कुछ अन्य तत्त्व हैं। यह मन के अन्दर होने वाली क्रिया के रासायनिक तत्त्वों के प्रकटीकरण हैं। दूसरे रूप में, वे मन के अन्दर घटित होने वाली विभिन्न मनोवृत्तियों—विकृतियों—के इतिहास हैं। वे वास्तव में कोई सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य के पोषक नहीं हैं (हालांकि सामाजिक और राजनीतिक विचार भी प्रकट किये गए हैं, किन्तु वह गौण महत्त्व के हैं)। वे तो केवल मनुष्य की चित्तवृत्ति की जो विभिन्न स्थितियाँ हैं और उनके जो परिणाम हैं, उनके ही चित्रण करने वाले हैं। उनके उपन्यासों के यही आधार हैं। अतः जैनेन्द्रजी और जोशीजी के उपन्यासों के मूल अन्तर को प्रस्तुत किया जाय तो दो बातें सम्मुख आती हैं—

(१) जैनेन्द्रजी के उपन्यास उद्देश्य (आदर्श) के साथ पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं, किन्तु मूल में उद्देश्य को ही महत्त्व देते हैं। जोशीजी पात्र के अन्तर्जगत् को प्रथम महत्त्व और उद्देश्य को गौण महत्त्व देते हैं।

(२) जैनेन्द्रजी घटनाओं द्वारा पात्र की मनःस्थिति का चित्रण करते हैं और कथानक को आगे बढ़ाते हैं। जोशीजी के उपन्यास केवल चरित्रों की विभिन्न मनोवृत्तियों (या विकृतियों)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उत्पन्न घटनाओं के सहारे आगे बढ़ते हैं।

इन दोनों उपन्यासकारों के ये दो मूलगत अन्तर उनके उपन्यासों को दो अलग-अलग रास्तों पर ले जाते हैं और दो विभिन्न प्रवृत्तियों को सम्मुख रखते हैं।

जोशीजी ने अपने उपन्यास 'लज्जा' (घृणामयी) के साथ औपन्यासिक क्षेत्र में पदार्पण किया और आज तक वे इस क्षेत्र को सुशोभित किये हैं। 'लज्जा' के अतिरिक्त उनके अन्य प्रकाशित उपन्यासों के नाम हैं –'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'मुक्ति-पथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी'। इस लेख में उनके प्रथम उपन्यासों के आधार पर ही मूल्यांकन किया गया है।

लज्जा — यह उपन्यास मूलतः एक चरित्र को लेकर चलता है और उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए विरोध और उत्तोलक के रूप में राजू और डॉक्टर साहब के चरित्र आये हुए हैं। लज्जा का चरित्र बुद्धि-व्यापार से सम्बद्ध नहीं, प्रत्युत काम की अबाध और उन्मुक्त अन्तःप्रेरणा को लेकर चलता है। केवल इस एक मूल प्रेरणा को लेकर ही उसके चरित्र की योजना की गई है और उसके वास्तविक व्यक्तित्व को उद्घाटित किया गया है। वह एक सम्पन्न परिवार में पली है, माता बच्चों की ओर से उदासीन रही है और पिता निरन्तर व्यस्त रहने वाले हैं, किन्तु उसके प्रति उन्हें विशेष अनुराग है। लज्जा की काम-चेष्टाएँ स्वल्प अवस्था से ही आरम्भ हो जाती हैं और अपने रूप से पुरुषों को मन्त्रमुग्ध करने में उसे उल्लास मिलता है। किन्तु वह किसी विशेष व्यक्ति की ओर आकृष्ट नहीं हो पाती और पुरुषों पर अपने मायावी प्रभाव की सुखद अनुभूति के पश्चात् जब वह अकेली होती है तब एक गहरा अवसाद उसके मन को घेर लेता है, रोने को जी चाहता है किन्तु वह छटपटाकर रह जाती है।

उसकी कल्पना में ऐसा मायालोक घूमा करता है जो स्वप्निल और उन्मादक वातावरण की भूमिका में चिर-युवा स्त्री-पुरुषों की अनन्त प्रेमकेलि से परिपूर्ण है। उसीके दिवा-स्वप्नों और स्वप्नों में वह खोई रहती है।

डॉक्टर से मिलने पर एक नया ज्वार उसके तन-मन में उठता है और वासनामय प्रेम की ऐसी लीलाएँ वह करती है मानो इस कार्य में वह जन्म से ही दक्ष हो। इतनी ढिठाई, इतनी चपलता, पुरुष को फँसाने के ऐसे दांव-पेच एकाएक उसने कैसे सीख लिए, इसका एकमात्र उत्तर है उसकी आन्तरिक चेतना की प्रचण्ड शक्ति, जिसने वास्तव में उसे दीक्षित किया है।

अपने भाई राजू से उसे बहुत प्रेम है, किन्तु वह न जाने क्यों आरम्भ से ही डॉक्टर से घृणा करता है। उसके साथ अपनी बहन का हेल-मेल उसे तनिक भी सहन नहीं। डॉक्टर और लज्जा के बीच वह अनेक ऐसे अवसरों पर उपस्थित हो जाता है जो उनके लिए बहुत संकटमय सिद्ध होते हैं। उसकी बढ़ती हुई घृणा भी लज्जा को बदल नहीं पाती, बल्कि उसकी जलन को देखकर लज्जा एक प्रकार से सुखी होती है। इस स्थिति में संघर्ष अनेकमुखी हो जाता है।

लज्जा समझ जाती है कि अब अन्तिम निर्णय का क्षण आ गया है। अपने भाई और डॉक्टर के बीच से किसी एक का वरण उसे करना ही होगा। उसका अन्तर्मन इस सहसा ज्ञान से कांप उठता है कि उसके भाई के लिए भी वह अन्तिम निर्णय का क्षण हो गया है और यह निर्णय निश्चित रूप से बहुत भयंकर होगा। विनाश की इस सीमा पर वह भयभीत, आहत और कम्पित होती है, किन्तु उतनी ही शीघ्रता के साथ वह स्पष्ट निर्णय भी कर लेती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजू के प्रति बाल्यकाल से चले आने वाले गूढ़, गम्भीर और श्रद्धामिश्रित प्रेम के समक्ष डॉक्टर साहब के लिए पैदा हुआ नया उबाल नहीं ठहरता। उन्हें वह तत्काल स्वयं से दूर हटा देती है।

राजू यह नहीं जानता कि अपनी बहन और डॉक्टर साहब में उसने कैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी है। वह यही जानता है कि इतने दिनों तक खुले आम उसकी अवहेलना करते हुए लज्जा, डॉक्टर की ओर निरन्तर अधिकाधिक बढ़ती ही गई है! जो कुछ वह देखता है उसमें उसे अपनी अन्तिम पराजय दिखाई देती है और इस पूर्णतम हताशा में वह भी अन्तिम निर्णय कर लेता है—आत्महत्या।

इस प्रकार जो बातें उपन्यास के आरम्भ में सीधे-सादे रूप में उठी थीं, वे पुष्ट, अन्तर्गुम्फित और विकराल होती हुई एक निर्दय नियति का रूप धारण कर लेती हैं। इस नियति का चक्र अब स्पष्ट है। राजू को आत्महत्या करनी ही चाहिए, यह उसका अनिवार्य आदेश है और राजू आत्महत्या करता है। लज्जा को अपने भाई का वरण करना चाहिए और यह आत्महत्या इस वरण पर अपनी क्रूर मोहर लगा देती है और डॉक्टर साहब! यहाँ आकर उनकी कोई स्थिति नहीं रह जाती और वे परिस्थिति-विशेष से विच्छिन्न हो जाते हैं।

लज्जा और डॉक्टर के प्रेमालाप में मनोविश्लेषण (Psycho analysis) और मानसोपचार (Psychiarry) इत्यादि की बातें उठती हैं और लज्जा अपने रोग के वास्तविक मानसिक हेतु को व्यक्त करने के लिए भरपूर चेष्टाएँ करती है। उद्दाम कामावेग और इस सुख से वंचित होने का अभाव यह उसकी दो मूल प्रेरणाएँ हैं। अन्त में वह सबसे घृणा करती है—स्वयं से, समस्त नारी-जाति से, डॉक्टर से—जो नारी द्वारा सताई हुई पुरुष जाति का प्रतिनिधि होकर भी उसे छल गया। इस प्रकार उसके जीवन में हम सर्वत्र पराजय पाते हैं। कहानी के मनोवैज्ञानिक सूत्र इस प्रकार विकसित होते हैं कि उनका परिणाम एक ध्रुव नियति का रूप धारण कर लेता है—ऐसी नियति जिसकी प्रेरणा-शक्ति स्वयं लज्जा की आन्तरिक भावग्रन्थियों में प्रस्तुत है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राजू का चरित्र अधिक सूक्ष्म, गहन और रहस्यमय तन्तुओं से बना हुआ प्रतीत होता है। उसके अन्तर्मन की प्रेरणाएँ और ग्रन्थियाँ एक गहरे छद्मवेश में उपस्थित होती हैं, जबकि लज्जा की मूल प्रेरणाएँ अपेक्षाकृत स्पष्ट और खुली हुई हैं।

उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है।

संन्यासी—यह उपन्यास नन्दकिशोर (नायक) के आत्मवक्तव्य के रूप में लिखा गया है। इसमें विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों के अन्तर्गत नन्दकिशोर के चरित्र की एक झलक प्रस्तुत की गई है।

नन्दकिशोर भरपूर पैसा पाकर भी पंडितों के समान सादगी का जीवन व्यतीत करता है। उसकी कोई विशेष रुचि नहीं है; यथार्थ जीवन की प्रखरताओं और कटुताओं का उसे कोई अनुभव नहीं है; उसमें संकल्प अथवा दृढ़ निर्णय-शक्ति नाम की कोई शक्ति नहीं। जयन्ती के प्रति अपने मन में वह एक तीव्र आकर्षण का अनुभव करता है और अपने लिए उसे यह एक नई बात प्रतीत होती है। उपन्यास में जयन्ती नन्दकिशोर के मन में प्रेमाकांक्षा का उदय करके केवल अन्तिम विध्वंस के लिए ही लौटकर आती है।

किन्तु प्रेम का यह सूत्र पुनः आगे बढ़ता है—इस बार शान्ति को लेकर! शान्ति से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्दकिशोर की भेंट अत्यन्त विचित्र परिस्थितियों में होती है। शान्ति एक पाठशाला में अध्यापिका है। क्रमशः शान्ति के साथ नन्दकिशोर की घनिष्ठता बढ़ जाती है और परिस्थितियाँ उसे शान्ति के साथ इलाहाबाद पहुँचा देती हैं और वहाँ वे पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं।

प्रयाग में नन्दकिशोर बलदेव के सम्पर्क में आता है। नन्दकिशोर और बलदेव के चरित्र पूर्णतम विरोध को प्रस्तुत करते हैं। प्रथम निश्चिन्त जीवन, दायित्वहीनता, अस्थिर जीवन-गति, प्रावृत्तिक चरित्र, स्वप्नमय जीवन और अहं के पीड़न वाला व्यक्ति है। द्वितीय जीवन की कटुतम परिस्थितियों और अनुभूतियों द्वारा विद्रोह की ज्वाला से भरा हुआ, तीखी और क्रान्तिकारी विचारधारा का व्यक्ति है। बलदेव एक ओर वर्तमान कटु सामाजिक यथार्थ का ज्वलन्त प्रतिनिधि है, तो दूसरी ओर उसका चरित्र नन्दकिशोर की अस्थिरता, संकल्प-शक्ति के अभाव और घोर अयथार्थवादिता को सुस्पष्ट बनाता है। यह वैपरीत्य द्वारा दो चरित्रों और उपन्यास की भावभूमि में संतुलन भी स्थापित करता है।

नन्दकिशोर बलदेव और शान्ति के सम्बन्ध को लेकर अपने मन में अकारण शक कर लेता है। बलदेव के प्रति उसके हृदय में भीषण घृणा और ईर्ष्या के भाव उठते हैं तथा शान्ति के प्रति उसके प्रेम में भी विष घुल जाता है। इसके द्वारा उसके घोर अहंभाव की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में उसमें प्रेम करने की वास्तविक क्षमता नहीं है। प्रेम दो व्यक्तियों, दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है। किन्तु नन्दकिशोर दूसरी आत्मा, दूसरे व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं रहने देता, उसे मानता ही नहीं। केवल वह स्वयं रह जाता है। तब प्रेम कहाँ रहता है।

शान्ति नन्दकिशोर के भाई की बातें सुनकर नन्दकिशोर को छोड़कर चली जाती है। बलदेव द्वारा शान्ति का विदा-पत्र पाकर उसका यह निर्मूल सन्देह और भी दृढ़ हो जाता है कि वह बलदेव को चाहने लगी थी और उसके प्रेम के नितान्त अयोग्य है।

जयन्ती से नन्दकिशोर का विवाह हो जाता है। कैलास से उसकी भेंट होती है। उसकी बातें उसे रहस्यमय लगती हैं और सन्देह होता है कि उसके और जयन्ती के बीच अवश्य कोई गूढ़ सम्बन्ध रहा है। एक बार कैलास जयन्ती से पर्दे के पीछे मिलकर नन्दकिशोर के शक को विश्वास में बदल देता है। नन्दकिशोर जलन और आक्रोश से उन्मुक्त होकर उनकी कोई बात नहीं सुनता, कैलास को निकाल देता है और जयन्ती को प्रताड़ित करता है।

यह विस्फोट जयन्ती को भी अन्तिम निर्णय पर पहुँचा देता है। वह चूल्हे में बैठकर भस्म हो जाती है।

विफलता, जलन, अपनी शक्तिहीनता का उत्पीड़क ज्ञान, असन्तोष और हाहाकार—यही नन्दकिशोर के जीवन में शेष रहते हैं। उसके अहं ने जिस नारकीय ज्वाला में सदा जलने के लिए उसे छोड़ दिया है, उससे वह कैसे त्राण पाए? यथार्थ से उसका कभी कोई नाता नहीं रहा। अपनी मनोरथ-सृष्टियों में ही उसने अपना समस्त जीवन व्यतीत किया था—अब भी उसकी प्रतिक्रिया यथार्थमूलक नहीं रहती। वह संन्यासी बन जाता है, अपने नारकीय अन्तर्दाह से मुक्ति पाने के लिए, किन्तु साथ ही वह जानता है कि उसकी यह ज्वाला कभी न बुझ सकेगी।

पर्दे की रानी—इस उपन्यास की नायिका निरञ्जना चार व्यक्तियों के सम्पर्क में आती है। इनके सम्पर्क में ही उसका पूर्ण आन्तरिक व्यक्तित्व उद्घाटित किया गया है। यद्यपि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन चारों पात्रों के चरित्र की पर्याप्त झलक उपन्यास में प्रस्तुत की गई है, तथापि वे इस आवश्यकता से सीमित हैं कि उनके द्वारा निरञ्जना के चरित्र पर ही प्रकाश पड़े। इस प्रकार इस उपन्यास की वस्तु जोशीजी के अन्य उपन्यासों की वस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक एकरूप, एकान्वित और एक-लक्ष्यात्मक है। जिन अन्तःप्रवृत्तियों के संघर्ष को इसमें व्यक्त किया गया है वे परिणामतः अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, अमिश्रित और विकसित रूप में इसमें आई हैं। अतिरिक्त वस्तु को अलग रखकर इस प्रकार इस कृति में जो सतर्क चलन किया गया है और उसे आवश्यकता की सीमा के अन्तर्गत ही रखा गया है उससे जोशीजी ही के रचना-उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यह कृति अधिक एकान्वित, अतिरिक्त विस्तार से रहित और स्वयं में अधिक सम्पूर्ण बन पड़ी है।

इसमें दो अहंवादी चरित्रों की अन्तःप्रेरणाओं के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ ही उनके विनाशक संघात को भी अंकित किया गया है।

निरञ्जना एक भयानक हीनता के भाव से पीड़ित नारी है और इसकी उत्पत्ति उस आघात के फलस्वरूप होती है जो मनमोहन ने उसके अहं पर यह उद्घाटित करके पहुँचाया है कि उसकी मां वेश्या थी और उसके पिता हत्यारे थे। इस प्रकार चोट खाया हुआ उसका अहं अधिक विक्षुब्ध और भयानक हो जाता है तथा हीनता के इस भाव से निवारण के लिए वह निरन्तर लोगों को अपने जाल में फंसाकर उन्हें नष्ट कर देने की योजना बनाती रहती है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों को वह आत्मविश्लेषण द्वारा समझ भी लेती है और उनकी भयंकरता से चौंककर उनसे बचने की इच्छा भी करती है, किन्तु अपनी अन्तःप्रेरणाओं पर उसका कोई वश नहीं, वे कठपुतली के समान उसे चलाती हैं और अन्तिम सर्वनाश होकर रहता है।

उपन्यास में आये हुए चार पात्रों के साथ उसके सम्बन्ध इस प्रकार हैं—

(१) शीला के साथ उसका गहरा प्रेम है। शीला के अतुलित स्नेह को पाकर अपने मन में वह उसे अपनी स्नेहमयी माता का स्थान प्रदान करती है। शीला इस प्रकार उसकी माँ का प्रतीक बन जाती है। किन्तु निरञ्जना के मन में अपनी इस माँ के प्रति घोर घृणा और प्रतिहिंसा का भाव भी है, जो वेश्या थी और इस प्रकार निरञ्जना के जीवन पर कलंक और सामाजिक हीनता की एक अमिट छाप लगा गई है। यह घृणा और प्रतिहिंसा माँ की प्रतीक शीला के प्रति प्रवर्तित होती है और परिणाम होता है निरञ्जना के कुटिल निर्देशों के कारण इन्द्रमोहन द्वारा शीला की हत्या। इस प्रकार अपनी मृत माता से मानो वह बदला ले लेती है।

(२) इन्द्रमोहन भी उतनी ही दुर्धर्ष अन्तःप्रवृत्तियों का व्यक्ति है जितनी निरञ्जना। वह कामुक, धूर्त, मक्कार और अपनी लक्ष्यप्राप्ति के लिए कुछ भी न उठा रखने वाला ऐसा व्यक्ति है जो ऊपर से अत्यन्त सुन्दर, सुसंस्कृत और आकर्षक प्रतीत होता है। निरञ्जना और उसकी टक्कर में दोनों पक्ष समान बलशाली हैं, दोनों का नाश होता है, दोनों की विजय होती है और दोनों की हार भी। निरंजना इन्द्रमोहन को साधन बनाकर शीला को मिटा देती है, किन्तु इन्द्रमोहन निरंजना से जो चाहता था, उसे पाकर ही रहता है। इन्द्रमोहन शीला की हत्या भी करता है और इस प्रकार ट्रेन के सूने डिब्बे में निरंजना की सहमति से उसके कौमार्य को खण्डित करने का अवसर पा जाता है। यही उसके जीवन का ध्रुवतारा था और अब उसे पा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेने के बाद उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं। आत्महत्या करके वह यह सूचित करता है कि उसके जीवन की कुल एक प्यास थी—निरञ्जना के अहं को अपने अहं की ठोकर से तोड़ देना। वह मिटता तो है किन्तु निरञ्जना को मिटाकर।

(३) इन्द्रदेव के पिता मनमोहन भी निरञ्जना से प्रेम करते हैं। उनका प्रणय-निवेदन एक व्यंग्यात्मक और परिहासात्मक परिस्थिति की सृष्टि करता है। निरञ्जना उनकी मूल आकांक्षा को समझकर चौंक उठती है, किन्तु साथ ही प्रतिद्वन्द्विता में उनके पुत्र को रखकर उस वृद्ध के मन में घोर विकलता और जलन उत्पन्न कर देती है और उसमें भरपूर रस लेती है। मनमोहनजी वृद्ध हैं और निरञ्जना नवबाला, इसलिए उनका प्रणय-निवेदन भी सविशेष होता है। इसमें एक सामाजिक व्यंग्य भी सन्निहित है। मनमोहनजी हार गए, किन्तु वे इतने से ही चुप नहीं हो गए। प्रतिहिंसा की भावना से निरञ्जना के समक्ष उन्होंने उसके जीवन के एक ऐसे रहस्य को उद्घाटित कर दिया जिसकी काली छाया में वह चिरकलंकिनी बनी रहे, उसकी आत्मा निरन्तर विदग्ध होती रहे और अन्त में वह मिट जाय। वह सफल भी होते हैं।

(४) गुरुजी ने निरञ्जना के मन पर गहरा प्रभाव डाला था, किन्तु उसकी अन्तःप्रेरणाओं के उद्दाम वेग को रोकने में समर्थ न हुए। उपन्यास के अन्तिम भाग में निरञ्जना से भेंट होने पर वे उसकी और इन्द्रमोहन की अन्तःप्रवृत्तियों का स्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। लेखक का उद्देश्य इस विश्लेषण द्वारा पाठकों के समक्ष अपने पात्रों की अन्तःप्रवृत्तियों का उद्घाटन करना प्रतीत होता है।

निरञ्जना ट्रेन की घटना से गर्भवती हो गई है। इससे अपनी परिस्थिति को वह और अधिक संकटापन्न और निराशामय पाती है। किन्तु अन्त में गुरुजी इसी सत्य के आधार पर उसमें नई आशा का सञ्चार करते हैं। निरञ्जना के जीवन में प्रथम बार सुख, शान्ति और आशा के स्वर के साथ उपन्यास समाप्त होता है।

'लज्जा' और 'संन्यासी' में हम यही देखते हैं कि उनके केन्द्रीय पात्र अपनी उद्दाम अन्तःप्रेरणाओं के वशीभूत होकर और अपने अहं की असीम सत्ताकांक्षा के कारण अन्त में चूर-चूर हो गए हैं, किन्तु 'पर्दे की रानी' में यह स्थिति आने के बाद इसके विपक्ष का एक और भी सत्य प्रस्तुत किया गया है। 'पर्दे की रानी' में प्रेम के कल्याणमय पक्ष के उदय का आभास भी दिया गया है। एडलर के अनुसार मानव-जीवन का सूत्र होना चाहिए अपनी सत्ताकांक्षा को विश्व-बन्धुत्व द्वारा सीमित कर देना। यह उपन्यास में स्पष्ट नहीं, किन्तु निरञ्जना के व्यक्तित्व के लिए मोड़ में संकेतित अवश्य है। इस प्रकार एडलर का दृष्टिकोण अपनी तात्विक पूर्णता में प्रथम बार जोशीजी के इस उपन्यास में प्रस्तुत हुआ है। इस दृष्टि से भी यह उपन्यास उनके पिछले उपन्यासों से आगे बढ़ी हुई कृति है।

'प्रेत और छाया'—'प्रेत और छाया' की समस्या भी बहुत-कुछ 'पर्दे की रानी' की समस्या के समान है। पारसनाथ अपने पिता से यह सुनकर कि उसकी माँ व्यभिचारिणी है और वह जारज-पुत्र है, अपने व्यक्तित्व के समस्त सन्तुलन को खो बैठता है। हीनता के इस भाव से निवृत्ति पाने के लिए वह निरन्तर विकल एक स्थान से दूसरे स्थान घूमता फिरता है। वह पलायन करता है, अपने मन को अधिग्रस्त करने वाले प्रचण्ड उत्पीड़क भाव से दूर भाग जाना चाहता है, किन्तु सफल नहीं होता, क्योंकि कोई भी मनुष्य स्वयं से दूर कभी नहीं भाग सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज के प्रति उसका हृदय घोर प्रतिहिंसा के भाव से भर जाता है और उसकी नैतिकता पर आघात करने में अपूर्व पाशविक आनन्द प्राप्त करता है। अपनी माँ के प्रति उसके मन में गहरा क्रोध और हिंसाभाव है और इसीलिए वह विभिन्न स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित करके उनका सतीत्व लूटकर फिर उन्हें छोड़ देता है। इस प्रकार वह अपनी माँ के अन्याय का बदला चुकाता है। जो पतित, नीच, निपीड़ित और असहाय हैं उनके प्रति उसके मन में स्वाभाविक सहानुभूति और स्नेह उमड़ता है, क्योंकि स्वयं को भी वह उसी स्थिति में पाता है। उसकी मानवीय और संस्कृत प्रवृत्तियाँ उपयुक्त अवसरों पर उभरने लगती हैं, किन्तु अन्तिम क्षण में हर बार उसके अन्तर्मन में गहरा पैठा हुआ हीनभाव अपनी अबाध शक्ति का परिचय देता हुआ उसे कपट, आत्मपीड़न और अधःपतन के और गहरे गर्त में ढकेल देता है।

उपर्युक्त प्रायः समस्त तथ्य मंजरी के साथ उसके सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाते हैं। मंजरी को अपने ही समान वहिष्कृत और प्रताड़ित पाकर उसके साथ बन्धुत्व स्थापित कर लेता है। उसकी माँ से परिचय, माँ की मृत्यु और तत्पश्चात मंजरी के साथ सहवास के काल में मंजरी की पूर्ण समवेदना पाकर उसकी विकृतियाँ विलीन होती प्रतीत होती हैं, किन्तु उसके गर्भवती होने पर ज्योंही वह अनुभव करता है कि इस प्रकार मंजरी के साथ वह सदा के लिए बँध जायगा, त्योंही नारी-जाति के प्रति उसकी प्रतिहिंसा का पुनः विस्फोट होता है और अन्त में इस भाव के पूर्णतया वशीभूत होकर वह मंजरी को त्यागकर नन्दिनी के साथ भाग जाता है।

नन्दिनी वेश्या थी इसलिए उसे भगाने में उसका उद्देश्य विफल हो गया। इस विफलता से नन्दिनी के प्रति भी उसका मन प्रतिहिंसा और घृणा से भर गया। किन्तु नन्दिनी से ही प्रथम बार उसे अनुभव हुआ कि औरत भी उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकती है। इस पराजय से अपने अहं पर उसका विश्वास टूट जाता है। परिणामतः उसकी विकृति और भयंकर रूप धारण करके उसमें स्पष्ट विक्षेप उत्पन्न कर देती है। अब वह आत्म-सम्मान की बात करते हुए भी समस्त अपमान को चुपचाप पी जाता है। इस दयनीय स्थिति में भी उसके अन्तर्मन का कुटिल चक्र थमता नहीं। वह नन्दिनी की बहन हीरा को संगीत और शिक्षा द्वारा नन्दिनी के समकक्ष बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसे नन्दिनी के मन पर चोट पहुँचाने की आशा है। हीरा को नन्दिनी से अलग करके उसे उसका सब-कुछ लूटकर भाग जाने की पूरी योजना भी उसने तैयार कर ली। नन्दिनी हीरा से प्रेम करती थी और इस प्रकार हीरा को दी जाने वाली इस चोट का वास्तविक लक्ष्य नन्दिनी को चोट पहुँचाना था।

किन्तु घटनाचक्र उसे पुनः पिता के समक्ष उपस्थित कर देता है। उसकी माँ की मृत्यु हो चुकी है और पिता उसे अत्यन्त त्यागमयी आदर्श नारी घोषित करके स्वयं को अपराधी और पापी सिद्ध करते हुए अपने उस भयानक वक्तव्य को पूर्णतया मिथ्या करार देते हैं जिसके आघात से पारसनाथ की कहानी आरम्भ होती है। इस वक्तव्य के मिथ्या सिद्ध होते ही पारसनाथ तुरन्त अपना सन्तुलन पुनः प्राप्त कर लेता है, अपनी समस्त विकृतियों से तत्काल निवृत्त हो जाता है। रोग का मूल हेतु हटते ही वह तुरन्त स्वस्थ हो गया। अब अपने समस्त पाप-कर्मों के लिए प्रायश्चित की भावना उसे अभिभूत कर लेती है और इस दिशा में प्रथम कार्य वह हीरा को अपने पिता की स्वीकृति से अपनी पत्नी बनाकर करता है।

'प्रेत और छाया' का तात्पर्य अन्तश्चेतन के अन्धकारमय पाताल लोक में डोलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली भयंकर असामाजिक प्रवृत्तियों से है। ये प्रवृत्तियाँ कठोरता से मनुष्य का सञ्चालन तो करती हैं, किन्तु चेतना में आने का उन्हें साहस नहीं होता। चेतना के निर्बल क्षणों में यदि कभी अवसर मिला तो वह वहाँ पहुँच जाती है, किन्तु छद्मवेश में। इसी प्रकार पारसनाथ अपने को समाज से बहिष्कृत समझकर 'अपराध और पाप' के अन्धकारमय जगत् का अधिवासी समझने लगता है। उस जगत् में ही वह रह सकता है और सामाजिक जगत् में आने का उसे साहस नहीं। इस प्रकार 'प्रेत और छाया' एक रूपक है जो पारसनाथ के विकृत जीवन का निर्देश करता है। 'प्रेत और छाया' अन्धकार में ही बसती हैं। इसी प्रकार एक विशिष्ट भाव से प्रताड़ित पारसनाथ भी अधःपतन, अपराध और पाप के जगत् में ही बस सकता है। नन्दिनी से प्रेम करने पर वह कहता है कि मैं प्रेत हूँ, तुम छाया अर्थात् वह उन व्यक्तियों से ही प्यार करता है जिनकी स्थिति उसे अपने समान प्रतीत होती है। समाज से भागकर भी वह अकेला नहीं रहना चाहता। पाप की दुनिया में और साथी बनाकर उसे प्रसन्नता होती है।

निर्वासित—महीप कवि है—पहले सुकुमार भावनाओं का और अब क्रान्ति की आग उगलने वाला। वह सब तरह सुयोग्य है किन्तु कद और स्वरूप में बालक जैसा प्रतीत होता है। उसकी यह विशेषता हर क्षेत्र में उसे विफल बनाती है। कविता के क्षेत्र में क्रान्ति की आग उगलकर, प्रेम के क्षेत्र में नारियों पर विजय पाकर, जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक तुच्छताओं के परे उच्च आदर्शों को अपनाकर, प्रत्येक विधि से वह अपना बड़प्पन सिद्ध करना चाहता है। उसके इन रूपों और उनके पीछे संचित भावावेश की प्रचण्ड शक्ति का स्पष्ट परिचय पाकर कभी-कभी अन्य व्यक्ति—और विशेषतः नीलिमा—उसके व्यक्तित्व की महानता से प्रभावित हो उठते हैं और ऐसे क्षण महीप के जीवन के सबसे महान् उल्लास के क्षण बनते हैं। किन्तु ये क्षण ही रह जाते हैं और उसका अनिवार्य बबुआ रूप ही अन्य लोगों के समक्ष यथार्थ बना रहता है। परिणामतः रमा और सुषमा ने तथा नीलिमा ने भी उससे प्रेम किया, किन्तु अपने सहचर पुरुष के रूप में नहीं, प्रत्युत् उसे एक सुन्दर बालक समझकर।

ठाकुर साहब की दुर्धर्षता से टकराकर वह अपनी हीनता का, अपने छोटेपन का और गहरा अनुभव करता है। प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या उसके मन में उठती है किन्तु ठाकुर साहब का सामना करने की शक्ति वह स्वयं में नहीं पाता। केवल नीलिमा ही ठाकुर साहब को पराजित कर सकती है, किन्तु नीलिमा का मन भी दो विपरीत तत्त्वों से निर्मित प्रतीत होता है। जिसे वह प्रेम करती है वह उसे सहन नहीं और जो उसे सहन नहीं उसे वह प्रेम करती है। दो पुरुष उसे मिलते हैं, किन्तु दोनों अधूरे। वह किसे चुने? इस विकल द्वन्द्व में वह अनेक ऐसे कार्य करती है, जो उसे कभी ठाकुर साहब की ओर झुका हुआ दिखाते हैं और कभी महीप की ओर। वह चुन नहीं सकती, किन्तु उसे चुनना ही होगा और वह ठाकुर साहब का वरण करती है। इस वरण में उसकी माँ की प्रबल आन्तरिक इच्छा और अपनी माँ के प्रति उसके प्रबल प्रेम का भी महत्त्वपूर्ण योग है।

ठाकुर साहब के समक्ष नीलिमा और महीप दोनों पराजित होते हैं। वे दृढ़ संकल्पी, कठोर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी साधन का उपयोग करने वाले, निर्भय व्यक्ति, हत्यारे, स्त्रियों को अपनी भोगवृत्ति का साधन बनाकर नष्ट कर देने वाले, अपनी प्रजा के शोषक जमींदार हैं। वे एक वर्ग के प्रतीक हैं और उनका मनोविज्ञान उस वर्ग का मनोविज्ञान है, इसी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए नीच और दुश्चरित्र होने पर भी उनके चरित्र की रूपरेखा अत्यन्त स्पष्ट रूप में उभर आई है और उनके कार्यों में शोषक-वर्ग का चरित्र प्रतिबिम्बित है।

महीप, नीलिमा और ठाकुर साहब की प्रणय त्रिकुटी के नीचे एक ज्वालामुखी विद्यमान है और वह है शारदा देवी का चरित्र। शारदा देवी ऊपर से अत्यन्त शुष्क और दुर्बल प्रतीत होती हैं, किन्तु उनके मन में उतनी ही भयानक प्रतिहिंसा सुलग रही है। यह प्रतिहिंसा ठाकुर साहब के विरुद्ध है, क्योंकि वे उसकी बहन को अपने प्रेम-जाल में फँसाकर अन्त में उससे पीछा छुड़ाने के लिए उसकी चुपचाप हत्या कर देने वाले व्यक्ति हैं। दूसरी स्त्रियों के साथ भी उन्होंने ऐसा किया है। सब-कुछ जानते हुए भी स्वयं शारदा देवी उनके प्रेमजाल में फँसी हैं, किन्तु मानो प्रतिहिंसा के लिए ही वे जी रही हैं। अपने और ठाकुर साहब के बीच इस व्यक्तिगत सम्बन्ध को उन्होंने सामाजिक रूप दे दिया है और निम्न-मध्यम वर्ग की क्रान्ति का सिद्धान्त निर्मित किया है। क्रान्ति की यह धारणा वैयक्तिक अनुभव से उत्पन्न होती है और बाद में उसे तर्कयुक्त बनाया जाता है।

महीप अपने बबुआ रूप और तज्जनित हीनभाव से निवृत्ति पाने के लिए एकदम महान् महत्त्वाकांक्षा को ले बैठता है। शारदा देवी की प्रेरणा के आधार पर वह एक क्रान्तिकारी दल का संगठन करता है। वह जब निष्क्रिय था तब भी नीलिमा उसकी प्रेरणा थी और उसे पाने की आशा उसके मन में बनी हुई थी और क्रान्तिकारी बन जाने पर भी नीलिमा ही उसकी प्रेरणा है, यद्यपि उसे पाने की आकांक्षा अब मिट गई है।

इस उपन्यास की रूपरेखा जोशीजी के पिछले सभी उपन्यासों से अधिक जटिल है और उनके द्वारा उठाई गई मानव-जीवन की समस्याओं ने अधिक व्यापक रूप धारण कर लिया है। इसके पूर्ववर्ती उपन्यासों में वे मूलतः एक चरित्र को ही लेकर उसका विशद विश्लेषण प्रस्तुत करते रहे हैं। किन्तु 'निर्वासित' के पात्र तुलनात्मक महत्त्व में एक-दूसरे के अधिक समीप हैं। उनके आन्तरिक द्वन्द्व के साथ अनेक विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के बीच घात-प्रतिघात द्वारा औपन्यासिक वस्तु अन्तर्मन के अतल कूप से उठकर सामाजिक संघर्ष के धरातल पर उभर आई है और इस प्रकार यह उपन्यास वस्तु की दृष्टि से अधिक समृद्ध, द्वन्द्व एवं आरोह-अवरोह की दृष्टि से अधिक स्पन्दनशील तथा सजीव और विश्लेषण की दृष्टि से अधिक अर्थवाही हो उठा है। इतनी जटिल पृष्ठभूमि को सफलता के साथ एक सुदृढ़ और गतिमान रूप में गूंथ कर विशुद्ध कला-पक्ष में जोशीजी ने एक नया उन्नयन प्राप्त किया है।

मुक्तिपथ—इस उपन्यास के प्रकाशन से जोशीजी की औपन्यासिक कला में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित हुआ है। इसमें वे स्पष्ट रूप से एक आदर्श को, जो गांधीवाद से प्रभावित है, लेकर चले हैं। पात्रों में रहस्यात्मकता का कम होना, चरित्रों में सेक्स-भावना की न्यूनता, बुर्जुआ की क्रान्ति के विरोध में गांधीवादी सामूहिक सर्वोदय की भावना का आना ये इस उपन्यास की विशेषताएँ हैं, जिनसे यह आभास होता है कि जोशीजी में आन्तरिक परिवर्तन हो रहा है। इस बात के प्रमाण उनके अगले उपन्यास 'सुबह के भूले' और 'जिप्सी' भी हैं।

राजीव एक बी० ए० पास बेकार नवयुवक है। यह नवयुवक एक क्रान्तिकारी की हैसियत से अण्डमान जेल जाने के पश्चात् अब लौटा है और एक नौकरी की खोज में है। लखनऊ में दूर के रिश्ते के एक भाई उमाशंकरजी के यहाँ वह टिका हुआ है जो सरकार में उच्चपदाधि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारी भी हैं। इन भाई के परिवार में उनकी पत्नी के अतिरिक्त एक रिश्ते की विधवा बहन भी है, जिसने परिवार के समस्त बोझ को अपने कन्धे पर उठा लिया है। यह नारी सुनन्दा राजीव के जीवन के प्रति आस्था रखती है और अपनी सहानुभूति प्रकट करती है। एक दिन चर्चा में राजीव इसी सुनन्दा को परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा को ग्रहण करने के बाद सुनन्दा में एक परिवर्तन लक्षित होने लगता है—उसके स्वभाव में भी, कार्य में भी। उमाशंकरजी की पुत्री प्रमिला राजीव के प्रति उसके गहरे स्नेह को देखकर उसे एक दिन सदैव के लिए राजीव के साथ कर देती है। राजीव उसे लेकर एक शरणार्थी बस्ती में बस जाता है जहाँ वह सुधार की नई आदर्शवादी योजना पर कार्य प्रारम्भ कर देता है और बहुत हद तक सफलता भी प्राप्त करता है। किन्तु यह बाह्य सफलता सुनन्दा के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि उसका हृदय जैसा पहले सुना था वैसा ही अब भी है और अन्त में एक दिन इसीलिए उसे राजीव का साथ छोड़कर चल देना पड़ता है।

इस उपन्यास की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) इसमें व्यक्तिगत प्रश्नों की अपेक्षा एक सामूहिक विकास और उसकी महत्ता पर बल दिया गया है।

(२) इसमें प्रथम बार पुरुष एक दृढ़ व्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ है जो निरन्तर अपनी मन की भ्रान्ति से न लड़कर एक सुस्पष्ट विकास के लिए सचेष्ट है। वह केवल अपनी भावना में मग्न नहीं रहता, दूसरों की भी चिन्ता करता है।

(३) इसमें पुरुष और नारी की अकर्मण्यहीनता, आलस्य सभी के विरुद्ध प्रबल प्रयत्न है।

(४) इसमें मनोवैज्ञानिक ऊहापोह जोशीजी के सभी उपन्यासों से कम है।

(५) इसमें एक क्रियात्मक आदर्श की ओर मानवता को प्रेरित किया है जो अभी तक उनके किसी भी उपन्यास में इतने स्पष्ट रूप से नहीं आई।

नैतिकता, अहिंसा, सामूहिक विकास-योजना के साथ सर्वोदय की भावना में विश्वास इस उपन्यास की विचारधारा के अन्य तत्त्व हैं जिनसे वह प्रभावित है।

जोशीजी के उपन्यासों के विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि उनके छः उपन्यासों में से चार का सम्बन्ध पुरुष के मन का विकृत अहंवाद है और दो उपन्यासों का सम्बन्ध नारी के मन की विकृति से है। दूसरे रूप में यह भी अहंवाद का एक रूप है।

जोशीजी का विश्वास है कि चरित्र जिस रूप में जगत् के सामने आते हैं उनका वह रूप वास्तविक नहीं होता अर्थात् मनुष्य जैसा ऊपर से दीखता है, आन्तरिक रूप से वैसा नहीं होता। वह मूलतः चेतनबुद्धि से परिचालित नहीं होता, किन्तु उसे जीवन में प्रवर्तित करने वाली वास्तविक प्रेरणाएँ उसके अन्तश्चेतन में निवास करती हैं, इसीलिए ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्य अपनी समझ से कोई विशेष संकल्प ले चुका है, किन्तु उसकी आन्तरिक शक्तियाँ उसे उस संकल्प की ठीक विपरीत दिशा में प्रवर्तित कर रही हैं।

व्यक्तित्व के बाह्य स्तर को चीरकर उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करना अपने उपन्यासों में जोशीजी का प्रधान लक्ष्य रहता है। स्वभावतः उनके उपन्यास विश्लेषणात्मक, मनोवैज्ञानिक और चरित्रमूलक होते हैं। उपन्यास के प्रधान चरित्र को वे अनेक परिस्थितियों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनाचक्रों से पार होता हुआ दिखलाते हैं। पाठक उसके सम्बन्ध में अपनी एक प्रारम्भिक धारणा बना लेता है, किन्तु एक स्थिति पर आकर इस चरित्र की मूल मनोवृत्तियों का उद्घाटन आरम्भ हो जाता है और पाठक उसके विकल अन्तर्मन्थन की झाँकी पाता है। यह आन्तरिक विवशता बढ़ते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है और उस मनोवैज्ञानिक क्षण में नायक के वास्तविक व्यक्तित्व, उसकी मूल अन्तःप्रेरणाओं का पूर्ण उद्घाटन हो जाता है। यह उनके उपन्यासों की रचना और विकास की रीढ़ है।

जोशीजी के पात्रों की मूल प्रवृत्ति दो हैं—अहं और हीनता की भावना। हीनता की भावना के कारण ही अहं की उत्पत्ति होती है। सारे पुरुष एवं नारी-पात्र इसी हीनता ग्रन्थि और अहंवाद से परिचालित होते हैं। पुरुष पात्रों द्वारा इस अहं की अभिव्यक्ति प्रचण्ड रूप में हुई है। ये पात्र नारी पर अपना स्वत्व पूर्ण रूप से चाहते हैं। नारी के अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व जैसी किसी वस्तु की एक झलक भी उन्हें सहन नहीं हो सकती, मानो जिसे वे प्रेम करते हैं उसे पूर्णतया अपने अहं से आच्छादित किए बिना वे नहीं रह सकते और प्रिय पात्र के रूप में मानो उनका अहं ही अधिक विस्तार प्राप्त करता है। प्रिय पात्र उनके व्यक्तित्व का एक अंग-मात्र है, स्वयं में कुछ नहीं। वास्तव में प्रेम करने की इनमें क्षमता नहीं है। प्रेम दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है, किन्तु ये पात्र दूसरी आत्मा अथवा दूसरे व्यक्तित्व को मानते ही कहाँ हैं ?

सच तो यह है कि जिस अहं के वशीभूत हो पात्र दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न करते हैं, यहाँ तक कि दूसरे की सत्ता मिटा डालने पर भी तुल जाते हैं, उनका यह अहं अन्त में टूट-कर ही रहता है। कोई भीषणतम आघात उनके इस अहं को तोड़ देता है। जोशीजी ने एक स्थल पर लिखा है—"**मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंवाद की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', इन पाँच उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टि को अपनाया है।**"[1]

इस अहं के साथ ही ये पात्र भयानक हीनता-ग्रन्थि से पीड़ित होने वाले व्यक्ति हैं और वे निरन्तर इस हीनता के भाव से अपने-आपको छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं और रहस्यमय तथा अटपटे कार्य करते हैं। 'पर्दे की रानी' की निरञ्जना यह सुनकर कि उसकी मां वेश्या थी और पिता हत्यारा, इस भाव से अधिग्रस्त होकर तद्जनित हीनता की भावना से उत्पीड़ित होती हुई अपने आहत अहं की क्षतिपूर्ति के लिए विवश विकृतिमय जीवन में अग्रसर होती है। इसी प्रकार 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ भी अपने पिता से यह सुनकर कि उसकी मां व्यभिचारिणी है और वह जारज-पुत्र है, अपने व्यक्तित्व के समस्त सन्तुलन को खो बैठता है। हीनता के इस भाव से निवृत्ति पाने के लिए वह निरन्तर विफल एक स्थान से दूसरे स्थान घूमता फिरता है। अन्तर्मन में गहरा पैठा हुआ यह हीन भाव ही अपनी अबाध शक्ति का परिचय देता हुआ उसे कपट, आत्मपीड़न और अधःपतन के और गहरे गर्त में ढकेल देता है। 'निर्वासित' का महीप एक सफल कवि है और सब तरह योग्य है, किन्तु कद और स्वरूप में बालक जैसा प्रतीत होता है। यह पात्रहीनता की भावना से ग्रसित होकर, कविता के क्षेत्र में क्रान्ति की आग उगलकर, प्रेम के क्षेत्र में नारियों पर विजय पाकर, जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक तुच्छताओं के परे उच्च आदर्श को अपनाकर प्रत्येक विधि से अपना बड़प्पन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है,

१. इलाचन्द्र जोशी, 'विवेचना', पृ० १२४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु कहीं भी सफल नहीं होता। जोशीजी के अधिकांश पात्र इसी हीनता-ग्रन्थि से पीड़ित हैं।

'लज्जा' और 'संन्यासी' में हम यही देखते हैं कि उनके केन्द्रीय पात्र अपनी उद्दाम अन्तःप्रेरणाओं के वशीभूत होकर और अपने अहं की असीम सत्ताकांक्षा के कारण अन्त में चूर-चूर हो गए हैं, किन्तु 'पर्दे की रानी' में यह स्थिति आने के बाद इसके विपक्ष का एक और भी सत्य प्रस्तुत किया गया है। एडलर के अनुसार व्यक्ति के जीवन में दो मूल प्रेरणाएँ रहती हैं। शारीरिक अथवा अन्य किसी हीनता के कारण उसमें एक जन्मजात हीनता का भाव रहता है। उसके निवारण के लिए वह महत्ता का एक कल्पित लक्ष्य स्थापित करता है और उसकी समस्त जीवन-योजना उस लक्ष्य की प्राप्ति की ओर निरन्तर क्रियाशील रहती है। दूसरों पर हावी होकर, उन पर प्रभुत्व स्थापित करके वह स्वयं को यह विश्वास दिला देना चाहता है कि वह वास्तव में हीन और दुर्बल नहीं, किन्तु महान् और सर्वशक्तिमान है। यह है व्यक्ति का अनिवार्य अहंकार, किन्तु व्यक्ति यह भी अनुभव करता है कि समाज के बिना उसका अस्तित्व सम्भव नहीं और अस्तित्व की इच्छा प्रत्येक जीवधारी की मूल अन्तःप्रेरणा है। इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक सहयोग और सामाजिक प्रेमभाव की आवश्यकता भी अनुभव करता है। इस प्रकार व्यक्ति में एक ओर होता है उसे समस्त दुनिया के विरुद्ध स्थापित करने वाला दुर्धर्ष, ज्वलनशील, सत्ताकांक्षी और विनाशक अहं और दूसरी ओर सहयोग में सामाजिक त्यागमूलक और समाज से अनन्य बनाने वाली विश्वबन्धुत्व की भावना। अहं और प्रेम इन दो पक्षों में से 'संन्यासी' में हम केवल समाजविरोधी और विनाशक अहं की लीला ही देखते हैं। किन्तु 'पर्दे की रानी' में इससे आगे बढ़कर प्रेम के कल्याणमय पक्ष के उदय का आभास भी दिया गया है। एडलर के अनुसार मानव-जीवन का सूत्र होना चाहिए। अपनी सत्ताकांक्षा को विश्वबन्धुत्व द्वारा सीमित कर देना यह उपन्यास में स्पष्ट नहीं, किन्तु निरञ्जना के व्यक्तित्व के नये मोड़ में संकेतित अवश्य है। इस प्रकार एडलर का दृष्टिकोण अपनी तात्विक पूर्णता में प्रथम बार जोशी जी के इस उपन्यास में प्रस्तुत हुआ है।

उनके सभी पात्र सुगम्भीर होते हैं, उनका बौद्धिक स्तर सामान्य से ऊपर रहता है, अधिकांश में बढ़ी हुई आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति और क्षमता रहती है। प्रायः अपनी प्रवृत्तियों को पहचान लेने पर भी उनके विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर पाते और आत्मविश्लेषण के साथ उनमें बहुधा दूसरे व्यक्तियों को देखकर उनके अन्तर्मन की गोपनमूलक प्रेरणाओं को पहचान लेने की शक्ति भी पाई जाती है।

जोशीजी मूलतः व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं। प्रायः एक ही व्यक्ति—ऐसा व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व अनेक मानसिक और यौनवर्जनाओं से कुण्ठित और विघटित हो गया है—उनके उपन्यासों का केन्द्र रहता है। किन्तु जोशीजी "सामाजिक परिपार्श्व को और उसमें काम करने वाली जानी हुई पूर्वानुमेय शक्तियों को उचित महत्त्व नहीं देते। व्यक्ति महान् है तो इसलिए कि वह सर्वथा अननुमेय, स्वच्छन्द और अनियमित है, वरन् इसलिए कि वह एक अनुमेय और नियमित सामाजिक परिपार्श्व में रहते हुए भी उसे परिवर्तित करता है और नई दिशाएँ तथा नई गति दे सकता है। परिपार्श्व के साथ उसके अन्योन्याश्रय को न देखने का परिणाम सम्पूर्ण, पराजय और निराशावाद हो सकता है और वास्तव में इलाचन्द्रजी के उपन्यासों में यह परिणति हुई है। 'संन्यास' से 'निर्वासित'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक का विकास इसे सूचित करता है।"[१]

पुरुष पात्र—जोशीजी ने एक स्थल पर लिखा है—"वीर नायकों की गाथा लिखने वाले उपन्यासकारों की कमी नहीं है, पर दुर्बल-स्वभाव व्यक्तियों को कथानायक बनाने का सौभाग्य अकेले मुझे ही प्राप्त है।"[२] उनकी यह स्वीकारोक्ति अंशतः सत्य है। उनके प्रायः सभी पात्र निष्क्रिय हैं और अपने-आपमें डूबे रहने वाले, अकर्मण्य, आलसी तथा अस्वस्थ जीवन बिताने वाले हैं और आर्थिक रूप से दूसरों पर आवलम्बित हैं। यथार्थ से इन पात्रों का कोई नाता नहीं रहता। अपनी मनोरम सृष्टियों अथवा विकृत कुण्ठाओं में ही ये अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये पात्र प्रायः परिवार के बन्धन से मुक्त स्वच्छन्द विचरण करने वाले प्राणी हैं। प्रेम करना उनका मुख्य कार्य है। एक साथ वे तीन-तीन, चार-चार नारियों से प्रेम करते हैं। किन्तु वास्तव में वे नारियों को अपने व्यक्तित्व से आच्छादित कर देना चाहते हैं, अपने अहं की तुष्टि के लिए उनसे खेलते हैं, वास्तव में प्रेम वे नहीं करते। अन्त में वे अपनी प्रेमिकाओं को धोखा भी देते हैं।

पुरुष पात्रों की उपर्युक्त प्रवृत्तियों को देखकर ही एक आलोचक ने शिकायत के लहजे में लिखा है—"इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में कुण्ठाग्रस्त पात्रों के रुग्ण मानस को औचित्य प्रदान करके उनके जघन्य और असामाजिक कृत्यों को महिमा-मण्डित करने का प्रयत्न है। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' आदि उपन्यासों में पाठकों को ऐसे ही पात्रों का चित्रण मिलता है। जोशीजी के पात्र हीन-भावना, मातृरति, स्वरति, आदि मानसिक विकृतियों के शिकार होते हैं। इस अवस्था में वे नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करके पूर्ण स्वच्छन्दता से अपने पाशविक और हिंसक रूप में समस्त मानवीय सम्बन्धों को ठुकराते हुए केवल अपनी स्वार्थसिद्धि और भद्र-अभद्र नारियों के साथ काम-तृप्ति करते फिरते हैं।"[३]

नारी पात्र—जोशीजी के नारी पात्रों की अपनी विशेषताएँ हैं। वे जैनेन्द्र की नारियों की भाँति आत्महनन करने वाली नारी नहीं हैं और न वे पति की दासी ही प्रमाणित होती हैं, बल्कि पति या प्रेमी के पशुबल के विरुद्ध अपना विरोध स्पष्ट घोषित करती हैं। लज्जा अपने भाई की इच्छा के विरुद्ध भी डॉक्टर से प्रेम करती रही और भाई की मृत्यु का कारण बनी। 'प्रेत और छाया' में मञ्जरी और नन्दिनी दोनों ही पारसनाथ को उसके पशुबल के कारण आजन्म क्षमा नहीं कर पातीं। वे अन्त तक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किए रहती हैं। 'संन्यासी' की शांति का भी यही रूप है और 'निर्वासित' की नीलिमा तथा प्रतिमा भी आखिर तक पुरुष के सम्मुख नहीं झुकतीं। 'मुक्तिपथ' में सुनन्दा राजीव से अपने प्रेम की उपेक्षा या उसे छोड़कर चली जाती है, राजीव के अन्त में झुकने पर भी। कहने का तात्पर्य यह है कि जोशीजी के समस्त नारी-पात्र अपने में एक दृढ़ता रखे हुए हैं और वे जैनेन्द्र के नारी-पात्रों की भाँति निरीह नहीं हैं। वे कल्याणी की भाँति सड़क पर जूते खाने के बाद भी पति के साथ नहीं रहतीं, बल्कि वे शान्ति की भाँति नन्दकिशोर को छोड़कर जीवन के पथ पर निपट अकेली

१. अज्ञेय, 'साहित्य सन्देश', नवम्बर १९४९, पृष्ठ १९४।
२. 'जिप्सी', उपन्यास, पृ० ७०६।
३. शिवदानसिंह चौहान, 'नई धारा', अगस्त १९५३, पृ० २६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने साहस और विश्वास के सहारे बढ़ चलती हैं। अपने नारी-पात्रों को गढ़ने में जोशीजी का एक विशेष दृष्टिकोण रहा है जिसका स्पष्टीकरण एक लेख में उन्होंने किया है। उनका कथन है—"धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है अर्थात् वह शरत-युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटाना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही हैं। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है।"[1]

विचारधारा—जोशीजी की यह विशेषता है कि वे चरितार्थ जगत् की घटनाओं और सामाजिक तत्त्वों का सन्निवेश भी कुशलता के साथ अपने उपन्यासों में करते हैं। इसलिए उनकी कृतियों में एक यथार्थवादी व्याप्ति भी कुछ सीमा तक आ जाती है, किन्तु पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सांसारिक और सामाजिक पक्षों की उपस्थिति होते हुए भी लेखक का मूल उद्देश्य व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता का उद्घाटन रहता है।

वे अपनी कृतियों में विभिन्न विचारधाराओं का समावेश भी करते हैं, किन्तु उनमें से कोई ऐसी नहीं होती जिससे यह प्रतीत हो कि वह उनके द्वारा अपना ली गई है। विभिन्न विचार-धाराएँ विभिन्न पात्रों से सम्बन्ध रखती हैं और लेखक की दृष्टि से वे उन पात्रों के आन्तरिक चरित्र की यथार्थ बाह्य प्रतिच्छवि (प्रतिरूप) हैं।

जोशीजी का विश्वास है कि बाह्य जगत् का जो घटनाचक्र है, जो अव्यवस्था है, वह अन्तर्जगत् का प्रतिरूप है। 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास की भूमिका में उन्होंने इस विषय में अपना मत प्रकट किया है जो महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं—"आज का मनोवैज्ञानिक जब गहराई से सोचता है तो उसे यहाँ तक विश्वास करना पड़ता है कि समय-समय में जिन विभिन्न आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रकोप या प्रताप संसार में छाया है, उनके मूल में अज्ञात चेतना के भीतर अज्ञात रूप से ही कुलबुलाने वाली असंख्य रहस्य-मयी प्रवृत्तियाँ अथवा संस्कार हैं। मानव-जाति के सामूहिक अवचेतन मन में निहित आदिम-कालीन प्रवृत्तियाँ आज भी पूर्ण रूप से नये-नये स्वरूपों में—बेमालूम ढंग से अथवा स्पष्टतः—अपना कार्य करती चली जाती हैं, और राष्ट्रों के उत्थान-पतनों, अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तियों अथवा विश्वव्यापी युद्धों के पीछे मूलतः उन्हीं निहित प्रवृत्तियों की अज्ञात रहस्यमयी शक्ति का चक्र चलता रहा है, इस बात के असंख्य प्रमाण मिल सकते हैं।...."मेरा यह ध्रुव, निश्चित विश्वास है कि व्यक्तियों के अन्तर्जीवन के स्वरूप ही सामूहिक बाह्य जीवन के रूपकों के रूपों में—विश्वव्यापी, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के प्रतीक बनकर—प्रकट होते रहते हैं।"[2]

वर्तमान परिस्थिति, वैयक्तिक जीवन और समाज-व्यवस्था से जोशीजी को असन्तोष है। उनका विश्वास है कि वर्तमान समाज में मनुष्य अपना स्वाभाविक विकास प्राप्त नहीं कर

१. इलाचन्द्र जोशी, 'विवेचना', पृ० १२४।
२. इलाचन्द्र जोशी, 'प्रेत और छाया' की भूमिका से उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। उसकी विफल और कुण्ठित होने वाली प्रवृत्तियाँ अनेक कल्पित रूप धारण करके प्रकट होती हैं। व्यक्ति अपनी इन आन्तरिक भावनाओं की गतिविधि को पहचान नहीं पाता और मायाजाल में फँसकर अधिकाधिक विकल और विफल होता जाता है, किन्तु इसी विक्षुब्ध मनुष्य के अन्तर्मन में सृजन के तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं। आत्मविश्लेषण द्वारा अथवा दूसरों की सहायता से इन तत्त्वों को प्रकाश में लाकर और उनका विकास करके ही मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को पा सकता है। मनुष्य की समस्त भावनाओं एवं उनके उत्तर को वे उसकी मूल प्रकृति के रहस्योद्घाटन द्वारा समझना चाहते हैं। यह मूल प्रकृति अचेतन, अन्तर्मन के विश्लेषण से ज्ञात होती है। इसके द्वारा वे मनुष्य का वास्तविक स्वरूप समझ लेना चाहते हैं और उनका विश्वास है कि इसमें सफल हो जाने पर मानव-व्यक्तित्व की चरम-सिद्धि है। अतएव सामाजिक उथल-पुथल के मूल में भी मानवीय अन्तर्मन की शक्तियों को ही देखते हैं। समाज उनकी कृतियों में प्रस्तुत होता है, किन्तु उनका दृष्टिकोण मूलतः व्यक्ति-केन्द्रित है। मनोविज्ञान की इस स्वाभाविक योजना ने उनके उपन्यासों में कुछ विशेषताएँ उत्पन्न कर दी हैं। उनमें से निम्नलिखित विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) अन्तर्मन का विस्फोट।

(ख) अहंता और हीनभाव तथा सेक्स—ये तीन मनुष्य को विवश बनाने वाली और संचालित करने वाली प्रवृत्तियाँ हैं।

(ग) मनुष्य के अन्दर जो सृजन के बीच होते हैं उन्हें पहचानने वाले व्यक्ति मानो एक विशेष शक्ति से समन्वित हैं। अपनी मर्मवेधी अन्तर्दृष्टि द्वारा वे उसे देख लेते हैं जो दूसरों की दृष्टि से गोपन रहता है।

(घ) ऐसे चरित्रों की योजना, जो किसी निपीड़क भाव की छाया में कार्य करते हैं अपना-प्रकृत जीवन नहीं जीते।

(ङ) ऐसे चरित्रों की योजना, जिनके कार्यकलाप विचित्र होते हैं—व्यावहारिक दृष्टिकोण से नहीं समझाए जा सकते—जिनके कार्यों की व्याख्या उनके अन्तर्मन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उनमें सक्रिय ग्रन्थियों को खोजकर ही की जा सकती है।

उपसंहार—वस्तु-विन्यास, कथा-विकास, शिल्प और प्रकटीकरण की शैली—कला के इन बाह्य रूपों में जोशीजी बहुत-कुछ परम्परावादी हैं। उनका कथा-सौष्ठव प्रेमचन्द से समानता रखता है और उन्हीं की भाँति समृद्ध है। जोशीजी उपन्यास को सबसे पहले एक कहानी मानते हैं जिसे सुन्दर ढंग से कलात्मक सौष्ठव के पूर्ण निर्वाह के साथ कहा गया हो। जीवन की गहन समस्याओं से सम्बन्धित यह कहानी होनी चाहिए।[1] जोशीजी के उपन्यासों में उनकी यह परिभाषा पूर्णरूपेण चरितार्थ है।

१. इलाचन्द्र जोशी, 'निर्वासित' की भूमिका से उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन : विदेशी लेखक

गंगाधर झा

दस्तोएवस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ

दस्तोएवस्की का व्यक्तित्व और कृतित्व प्रतिध्वनियों से निर्मित धूमिल मायालोक के समान है। मानो वह एक ऐन्द्रजालिक दर्पण है, जिसमें प्रत्येक समीक्षक अपने आकांक्षित को प्रतिबिम्बित पाता है। नीति और अनीति, पाप और पुण्य, नास्तिकता और आस्तिकता, अपराध और मंगल, प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता में से प्रत्येक को विभिन्न समीक्षकों द्वारा उनके कृतित्व का मूल तथ्य निरूपित किया गया है। दब्रोल्यूबफ़ ने उनमें मानसिक विकार के लक्षण पाए और यह देखा कि समाज के दलित मनुष्यों के प्रति सहानुभूति दस्तोएवस्की के उपन्यासों का सार तत्त्व नहीं, किन्तु एक प्रकार के अपराधियों का चरित्र अंकित करने का नशा उनके मूल में है। टालसटॉय के अनुसार दस्तोएवस्की ने जिस जीवन का चित्र अंकित किया है वह असत्य, उद्भावित और छद्म निरूपित है। गोर्की उनमें मनुष्य के प्रति विश्वास का अभाव, मनुष्य की बुद्धिवृत्ति के प्रति आस्था का अभाव और मनुष्य के सुख और मुक्ति के प्रति प्रत्यय का अभाव प्रचारित पाते हैं। ऐसे ही दस्तोएवस्की की कृतियाँ महायुद्ध के उपरान्त इटली की धार्मिक पुस्तकों की दुकानों में अभूतपूर्व संख्या में बिकीं। फ्रायड ने उनमें यदि एक विफल व्याधिग्रस्त की कहानी देखी तो एडलर ने मानव-जाति के महान् मंगलसाधक मसीहा के दर्शन किए।

समीक्षा एक ओर यदि आलोचित कृति अथवा लेखक की व्याख्या करती है तो दूसरी ओर वह स्वयं समीक्षक के जीवन-दर्शन को भी प्रस्तुत करती है। इसीलिए यदि एक ही लेखक पर विभिन्न जीवन-दर्शनों से प्रेरित समीक्षाओं का अध्ययन किया जाय तो वह भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। उसके द्वारा यह सम्भव है कि अनेक दृष्टिकोणों से देखने पर समीक्षित लेखक के विषय में हम अधिक गहराई से जान सकें, अथवा एक ही तत्त्व पर विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों को क्रियाशील देखकर हम स्वयं इन समीक्षा-पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन कर सकें। समीक्षा-विषयक अपनी मान्यताओं और मानदण्डों पर पुनर्विचार इस विवेचन का अनिवार्य परिणाम होगा। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि कला-विषयक अपनी समस्याओं के हल के अभाव में हम, कला के गम्भीरतर स्रोतों की ओर प्रेरित होने के साथ, उन्हें कम-से-कम वैज्ञानिक रूप में सूत्रबद्ध कर लें। विशेषतः दस्तोएवस्की एक ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने अपनी वैचित्र्यमय कृतियों द्वारा चाहे साहित्य के लिए प्रतिमान न उपस्थित किए हों, किन्तु उससे सम्बद्ध अनेक समस्याओं को अवश्य जन्म दिया है।

मनोविज्ञान और मार्क्सवाद वर्तमान युगचिन्तन की दो प्रमुख धाराएँ हैं। दस्तोएवस्की की समीक्षा में दोनों का प्रयोग भी हुआ है। उनके ही कुछ प्रतिनिधि रूपों का चयन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। दोनों समीक्षा-पद्धतियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः फ्रायड और एडलर तथा व्लादिमीर येर्मिलोफ और रेण्डल स्विंगलर यहाँ करते हैं। आरम्भ में दस्तोएवस्की पर बेलिन्स्की की समीक्षा उपस्थित की जा रही है, क्योंकि उसमें दस्तोएवस्की से सम्बद्ध मूल समस्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रबद्ध हो गई है। अन्त में इस सामग्री के आधार पर हम कतिपय ऐसे सारगर्भ संकेतों का संकलन करेंगे जो गम्भीर विचारणा के योग्य हैं।

मृत्यु से पूर्व बेलिन्स्की दस्तोएवस्की की चार कृतियाँ देख सके। वे क्रमशः 'पुअर फोक', 'दि डबुल', 'मि० प्रोखार्शिन', और 'दि मिस्ट्रेस' हैं। प्रथम में उन्होंने लक्ष्य किया कि "जिस तीव्र गति से दस्तोएवस्की ने ख्याति लब्ध की, वह रूसी साहित्य में अभूतपूर्व है।" उसका दोष यह था कि "पाठक के मन में प्रशंसा का भाव जगाते हुए भी वह उसे थका देती है।" इसका कारण कुछ लोग अनावश्यक विस्तार तथा अन्य आतिशयिक उर्वरता में देखते थे। यही दोष द्वितीय कृति में अधिक विराट् बन गया है। एक ओर वह दस्तोएवस्की की अतुलित सृजन-प्रतिभा का जीवन्त आख्यान है, किन्तु दूसरी ओर एक ऐसी उर्वर कल्पना-शक्ति का दृष्टान्त भी, जो मूल भाव के कलात्मक अनुशासन में अक्षम है, अर्थात् दस्तोएवस्की 'प्रकृति' से तो सम्पन्न हैं, किन्तु वांछित कलात्मक निपुणता उनमें नहीं। उपचार यह है कि अनावश्यक विस्तार निकालकर लेखक अपनी कृतियों को संक्षिप्त कर दें, और तब कला की दृष्टि से वे अधिक सम्पन्न हो जायँगी। द्वितीय कृति में "एक और महत्त्वपूर्ण दोष है, और वह है उसमें अस्वाभाविक कल्पना का वातावरण।" बेलिन्स्की के अनुसार "....अस्वाभाविक कल्पना को केवल पागलखानों में स्थान मिल सकता है, साहित्य में नहीं; वह डॉक्टरों के काम की वस्तु है, कवियों के काम की नहीं।" यहाँ स्वयं दस्तोएवस्की की 'प्रकृति' के विषय में संशय उठ खड़ा होता है।

उपर्युक्त संशय मिटता नहीं, किन्तु परिपुष्ट होता है। तृतीय कृति के विषय में बेलिन्स्की लिखते हैं—"यहाँ हम एक महान् प्रतिभा की जगमगाती चिनगारियाँ देखते हैं, किन्तु वे ऐसे सघन अन्धकार में चमकती हैं कि उनका प्रकाश पाठक की असहायावस्था को दूर नहीं करता ....। जहाँ तक हम देख सकते हैं वहाँ तक इस विचित्र कहानी को जन्म देने वाली वस्तु न तो प्रेरणा है और न उन्मुक्त एवं सहज सृजनशीलता; किन्तु वह वस्तु प्रकृत्या—किस प्रकार हम उसे कहें?—आडम्बर और छद्म के समान कुछ है। सम्भवतः हम भूल में हैं, किन्तु तब वह इतनी कृत्रिम, विलक्षण और अगम्य क्यों है? मानो वह एक प्रकार की सत्य किन्तु अद्भुत और अबूझ घटना हो, एक काव्यात्मक सृष्टि नहीं। कला में कुछ भी धुँधला और अगम्य नहीं होना चाहिए।" यहाँ पहुँचकर दस्तोएवस्की का निपुणता-विषयक दोष नगण्य हो जाता है। चतुर्थ कृति के अनुशीलन में बेलिन्स्की इसी दिशा में चलकर दस्तोएवस्की के समक्ष अपनी विश्लेषण-क्षमता के चरमान्त पर पहुँच जाते हैं। 'दि मिस्ट्रेस' के पात्रों का व्यवहार अद्भुत और रहस्यमय है तथा उनका वार्तालाप विलक्षण और अगम्य—"उनमें एक-दूसरे से क्या बात होती थी, जो वे इतने अनियन्त्रित रूप में हाथ-पैर पटकते थे, विकृत मुद्राएँ बनाते थे, अचेत हो जाते थे और होश में आ जाते थे। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम इन लम्बे और दर्द-भरे उद्गारों में एक शब्द भी नहीं समझ पाए हैं। इस सम्भवतः अत्यधिक मनोरंजक कहानी का केवल मूल भाव ही नहीं, किन्तु स्वयं उसका अर्थ उस समय तक हमारी बुद्धि के लिए रहस्य बना रहेगा जब तक लेखक अपनी विलक्षण कल्पना की इस विस्मयजनक पहेली की आवश्यक व्याख्या और टीका प्रकाशित नहीं करा देता। यह क्या हो सकता है—कलाशक्ति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुरुपयोग अथवा उसकी अकिंचनता, जो अपनी सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न करती है। और इसलिए, सामान्य पथ का अनुसरण करने में भयभीत होती है तथा ऐसा पथ खोजती है, जो असामान्य है ? हम नहीं जानते।"

हम नहीं जानते। यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि बेलिन्स्की और उनके युग की सुनिश्चित साहित्यिक मान्याताएँ थीं और दस्तोएवस्की का कृतित्व उनके अनुकूल न था। दस्तोएवस्की पुश्किन, गोगल और तुर्गनेव की परम्परा में विजातीय प्रतीत होते थे। यही नहीं, वे इतने अभिनव और भिन्न थे कि तात्कालिक समीक्षा-पद्धति उनकी व्याख्या में असमर्थ थी और जब कृति का अर्थ नहीं समझा जा सकता तब उस पर उपयुक्त निर्णय देना भी सम्भव नहीं। यही बेलिन्स्की में हम पाते हैं। आरम्भ में हम देखते हैं कि वे पूर्ण आत्मविश्वास के साथ दस्तोएवस्की के कृतित्व पर निर्णय देते हैं, किन्तु उसके रूप की रहस्यमयता का आभास होते ही उनकी वाणी अनाश्वस्त और अनिर्णयात्मक हो जाती है। अतएव दस्तोएवस्की की प्रथम समस्या उसकी व्याख्या है। यह सम्भव है कि जो कार्य बेलिन्स्की की समीक्षा-पद्धति से सम्पन्न हो सका वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक और मार्क्सवादी पद्धति से विश्लेषण करने पर सम्पन्न हो सके।

फ्रायड अपनी व्याख्या में दस्तोएवस्की के व्यक्तित्व का इन चार पक्षों में विभाजन करते हैं—कलाकार, व्याधिग्रस्त, नीतिवादी और पापी। सर्वप्रथम दस्तोएवस्की की उत्कृष्ट कला-प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "कलाकार की समस्या के समक्ष मनोविश्लेषण को शस्त्र-त्याग करना पड़ता है।" अतएव व्याख्या के लिए तीन पक्ष लक्षणीय हैं।

दस्तोएवस्की का चरित्र इतनी विषमताओं से पूर्ण है कि उसकी संगठित धारणा दुःसाध्य प्रतीत होती है। दुर्भाग्य और यन्त्रणा के झंझावातों ने उनकी जीवनगाथा लिखी है एवं भीषणतम उतार-चढ़ाव उसमें आए और गए हैं। नीति और पाप का देवासुर-संग्राम उनके अन्तरंग जीवन में परिणतिविहीन और अनवरत चलता रहा है। इस अनन्त द्वन्द्व में ही फ्रायड ने उनके चरित्र का सूत्र खोजने का प्रयत्न किया है। दस्तोएवस्की की नैतिक दुर्बलता और विफलता का चित्र फ्रायड ने इस प्रकार अङ्कित किया है—

"नीति दस्तोएवस्की का सबसे दुर्बल पक्ष है। यह कहकर उन्हें उच्च नैतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करना भ्रामक होगा कि पाप करने वाला ही नैतिकता का शिखर पा सकता है। प्रलोभन का अनुभव करते ही नैतिक मनुष्य उसमें फँसे बिना तत्काल उसका दमन करता है। जो व्यक्ति बारी-बारी से पाप करता है और फिर पश्चात्ताप में नीति के ऊँचे-ऊँचे मानदण्ड स्थिर करता है, उसे नैतिक कहना कठिन है। नैतिकता के मूलमन्त्र 'त्याग' की सिद्धि उसे नहीं हुई, क्योंकि नैतिक आचरण एक व्यावहारिक मानवीय स्वार्थ है।...दस्तोएवस्की की नैतिक साधना का परिणाम भी बहुत गौरवमय नहीं रहा। अपनी व्यक्तिगत वासनाओं तथा समाज की माँगों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए घोरतम संघर्ष के पश्चात् उन्होंने सांसारिक और आध्यात्मिक अधीशों के आगे घुटने टेककर, ज़ार तथा ईसाइयों के भगवान् के प्रति भक्ति-भाव अपनाकर, तथा एक संकीर्ण रूसी राष्ट्रीयता अंगीकार करके एक प्रतिगामी स्थिति ग्रहण कर ली। परन्तु यह एक ऐसी स्थिति है जिसे अल्पतर बुद्धिवालों ने लघुतर प्रयासों से सिद्ध किया है। उस महान् व्यक्तित्व में यही दुर्बलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवता का शिक्षक और मुक्ति-विधाता बनने का अवसर त्यागकर दस्तोएवस्की मानव-कारागार के संरक्षकों में जा मिले। ऐसा बहुत कम है जिसके लिए मानवीय सभ्यता का भविष्य उन्हें धन्य कह सकेगा। यह सम्भव है कि उनकी यह विफलता उनकी व्याधि का दुर्निवार अभिशाप थी। उनकी बौद्धिक महानता एवं मानवता के प्रति प्रबल प्रेम, उनके जीवन के लिए एक श्रुति-प्रचारक (Prophet) का पथ खोल सकते थे।"

महान् प्रतिभा और नैतिक विफलता, श्रुतिप्रचारक की क्षमता और व्यावहारिक प्रतिगामिता, दस्तोएवस्की की इस विपरीत परिणति की तह में फ्रायड न्यूरॉसिस की सम्भावना मानते हैं। दस्तोएवस्की को अपराधियों की कोटि में रखते हुए ये कहते हैं कि उनके द्वारा केवल हिंसामय, विघातक और अहंकारी चरित्रों का चयन यह इंगित करता है कि उनके अन्तर्मन में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। उनकी आक्रान्ता प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल एवं प्रधानतः अन्तरोन्मुख थी। परिणामस्वरूप उसने आत्मपीड़न और पाप-ग्रन्थि का रूप धारण कर लिया था। दस्तोएवस्की के व्यवहार से यह प्रकट होता है कि "छोटी बातों में उनका पीड़न-प्रेम दूसरों की ओर उन्मुख था, और बड़ी बातों में स्वयं की ओर। आत्म-पीड़क होने के कारण वे अधिकतम मृदुल, दयालु और सहायक व्यक्ति थे।" इस चरित्र-वैचित्र्य की व्याख्या में फ्रायड न्यूरॉसिस का सहारा लेते हुए इस सम्भावना पर ध्यान देते हैं कि दस्तोएवस्की जिस एपीलेप्सी से संत्रस्त थे वह उनकी मनोव्याधि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है।

एपीलेप्सी के आविर्भाव के पूर्व, जीवन के आरम्भिक वर्षों में, दस्तोएवस्की पर एक विशेष व्याधि का आक्रमण हुआ करता था। "ये आक्रमण मृत्यु का अर्थ-संकेत रखते थे: उनका आरम्भिक प्रकोप मृत्यु-भय के रूप में होता था, और वह दशा शैथिल्य एवं तन्द्रा की स्थितियों से समन्वित रहती थी।" मनोविश्लेषण द्वारा ऐसे आक्रमणों की व्याख्या निम्नलिखित है।

"वे (आक्रमण) एक मृत व्यक्ति के साथ तादात्म्य का संकेत करते हैं, जो या तो वास्तव में मृत है या अभी भी जीवित है, किन्तु व्याधिग्रस्त उसकी मृत्यु का आकांक्षी है। इनमें द्वितीय अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उस स्थिति में, व्याधि का आक्रमण दण्ड का अर्थ रखता है। एक व्यक्ति ने दूसरे की मृत्यु की कामना की और अब वह स्वयं यह दूसरा व्यक्ति है और स्वयं मृत है।"

फ्रायड के अनुसार यह दूसरा व्यक्ति बालक के लिए सामान्यतः पिता ही होता है। दस्तोएवस्की और उनके पिता के सम्बन्ध में दो बातें विशेष हैं। प्रथम यह कि उनके पिता सच-मुच अत्यन्त प्रचण्ड प्रकृति के थे और परिणामस्वरूप दस्तोएवस्की की निष्क्रिय नारी-वृत्ति उतनी ही प्रबल थी, **"उनकी असाधारण पापानुभूति और आत्म-पीड़क जीवन-व्यवहार का सूत्र एक विशेष प्रबल नारी-वृत्ति के अवयव के साथ जोड़ा जा सकता है।"** उभय-यौन-वृत्ति की प्रबलता न्यूरॉसिस को अधिक सम्भव बना देती है। दस्तोएवस्की की व्याधि में पिता के साथ जो तादात्म्य सन्निहित है, उसकी कार्य-प्रणाली का वर्णन फ्रायड 'इगो' के प्रति 'सुपर-इगो' के इन वचनों में करते हैं—

"अपने पिता को तुम मारना चाहते थे, जिसमें स्वयं तुम अपने पिता बन जाओ; अब तुम अपने पिता हो, किन्तु मृत पिता।"···और आगे—"तुम्हारा पिता अब तुम्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार रहा है।''...इसका आशय यह हुआ कि ''मृत्यु-लक्षण 'इगो' के लिए पुरुषवर्ती इच्छा की काल्पनिक परितृप्ति है, और साथ ही आत्मपीड़नमूलक तृप्ति भी। सुपर-इगो के लिए वह दण्डित करने की तृप्ति, अर्थात् परपीड़न की तृप्ति है। इगो और सुपरइगो दोनों पिता का कार्य करते हैं।''

एपीलेप्सी की व्युत्पत्ति इस आरम्भिक व्याधि से हुई। दस्तोएवस्की के पिता की सचमुच भयानक मृत्यु इस परिणति में सहायक हुई। फ्रायड कहते हैं कि ''पितृघात की बाल्य-आकांक्षा यदि सचमुच सफल हो जाती है तो उसके विरुद्ध समस्त रक्षात्मक शक्तियाँ अतिरिक्त शक्ति ग्रहण कर लेती हैं। दस्तोएवस्की के साथ यह बात हुई थी और परिणामस्वरूप उनकी आरम्भिक व्याधि ने एपीलेप्सी का रूप ले लिया। इस स्थिति में भी व्याधि के आक्रमण दण्ड के रूप में पिता के साथ तादात्म्य सूचित करते हैं, किन्तु पिता की भयानक मृत्यु के समान वे भी भीषण हो गए हैं।'' पिता के साथ दस्तोएवस्की के सम्बन्ध का यह द्वितीय प्रमुख तत्त्व है।

सारांश यह है कि पितृघात की प्रबल आकांक्षा, असाधारण पापानुभूति तथा प्रायश्चित के रूप में दण्डित होने की आवश्यकता, दस्तोएवस्की के चरित्र की मूल अन्तःवृत्तियाँ हैं। इगो और सुपर-इगो के सम्बन्ध तथा पिता के साथ दोनों के तादात्म्य में उनकी प्रक्रिया लक्षित होती है। पिता की मृत्यु की आकांक्षा पूर्ण होने पर पहले आनन्द प्राप्त होगा, किन्तु उसके शीघ्र पश्चात् पाप की अनुभूति उद्दाम वेग से फूट पड़ेगी। ठीक यही बात दस्तोएवस्की की एपीलेप्सी में भी लक्षित होती है—''एपीलेप्टिक आक्रमण के बाल्याचक्र में एक चरम आनन्द के क्षण की अनुभूति होती है। बहुत सम्भव है कि यह पिता की मृत्यु का समाचार सुनने पर अनुभूत जय और छुटकारे के भाव का अंकित प्रमाण हो, जिसके तत्काल पश्चात् एक क्रूरतर दण्ड का विधान चल निकलता है।''

पिता के प्रति दस्तोएवस्की का जो मनोभाव था, उसी मनोभाव ने ज़ार और ईश्वर के साथ उनके सम्बन्ध का भी निरूपण किया। दोनों की अधीनता उन्होंने स्वीकार की, तथा अपनी दण्डित होने की आवश्यकता की पूर्ति उन्होंने ज़ार द्वारा दण्डित होकर की। इस विश्लेषण के पश्चात् उनके व्यक्तित्व पर फ्रायड का अन्तिम निष्कर्ष यह है—

''निश्शंक होकर यह कहा जा सकता है कि पितृघात की इच्छा से उत्पन्न पाप की अनुभूतियों से वे कभी मुक्त न हो सके।...वैयक्तिक धरातल पर विश्व-इतिहास के एक विकास की संक्षिप्त पुनरावृत्ति द्वारा उन्हें आशा थी कि ईसा के आदर्श में वे अपने पाप से बाहर निकलने का पथ और मुक्ति पा सकेंगे; यही नहीं, उन्हें यह भी आशा थी कि अपने पीड़ित जीवन का उपयोग करके वे ईसा-तुल्य जीवन-साधना के दावी हो सकेंगे। यदि समस्त के पश्चात् वे मुक्ति न पा सके और प्रतिगामी बन गए, तो इसका कारण यह है कि पिता के प्रति वह बाल्य-अपराध, जो मनुष्यों में सामान्य रूप से उपस्थित रहता है और जिसके ऊपर धार्मिक भावना निर्मित होती है, उनके अन्दर अतिवैयक्तिक प्रखरता प्राप्त कर चुका था और उनकी महान् बुद्धि के लिए भी वह दुर्लंध्य बना रहा।''

दस्तोएवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'दि ब्रदर्स कारामाज़ोव' में भी फ्रायड वही तत्त्व प्राप्त करते हैं, जिनका विवरण ऊपर दिया गया है—'' दि ब्रदर्स कारामाज़ोव''...में...हत्या किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य व्यक्ति द्वारा की जाती है। किन्तु हत मनुष्य के साथ इस अन्य व्यक्ति का सम्बन्ध भी वही है जो नायक डिमिट्री का है, अर्थात् हत मनुष्य दोनों का पिता है। इस अन्य व्यक्ति के विषय में अन्तःप्रेरणा के रूप में कामगत प्रतिद्वन्द्विता की स्वीकृति प्रत्यक्ष रूप में की गई है। वह नायक का भाई है और यह एक लक्षणीय तथ्य है कि दस्तोएवस्की ने स्वयं अपनी व्याधि, एपीलेप्सी का गुण उसे प्रदान किया है, मानो वे यह स्वीकार करना चाहते थे कि उनके अन्दर का एपीलेप्टिक, न्यूरॉटिक, पितृघाती था।" इसके अतिरिक्त फ्रायड हमारा ध्यान इस उपन्यास में वर्णित एक दृश्य-विशेष की ओर आकृष्ट करते हैं, जिसमें एक धर्माधिकारी, डिमिट्री को पितृघात के लिए प्रस्तुत जानकर भी उसके चरणों में झुक जाते हैं। इस दृश्य को लेकर फ्रायड जो निर्णय देते हैं वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें दस्तोएवस्की के चरित्र एवं उनकी कृतियों का अन्तर्सम्बन्ध स्पष्ट होता है। उन्हीं के शब्दों में यह निर्णय इस प्रकार है—

"यह असम्भव है कि इस कार्य का (पितृघात के आकांक्षी के चरणों में झुकने का) आशय सराहना का भाव प्रदर्शित करना हो। उसका अर्थ यही होना चाहिए कि धार्मिक सज्जन हत्यारे से घृणा या कुत्सा करने का प्रलोभन त्याग रहे हैं, और इसीलिए उसके समक्ष अपना दैन्य प्रदर्शित करते हैं। अपराधी के प्रति दस्तोएवस्की की सहानुभूति सचमुच असीम है, वह उस करुणा को बहुत दूर तक अतिक्रान्त कर जाती है जिसकी याचना वह अभागा दुखिया कर सकता है....। अपराधी उनके लिए प्रायः त्राता ही है; उसने वह पाप अपने माथे ले लिया है जिसका बोझ अन्यथा दूसरों को वहन करना पड़ता। हत्या करने को अब कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'वह' पहले ही हत्या कर चुका है, अतएव उसका कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि उसके न होने पर स्वयं को हत्या के लिए विवश होना पड़ता। यह ठीक दयाजनित करुणा नहीं, यह तो समान हत्यावृत्ति पर आश्रित तादात्म्य—वास्तव में किंचित् स्थानान्तरित आत्मरति—है।...इसमें सन्देह नहीं कि दस्तोएवस्की के वस्तु-चयन में निर्णायक तत्त्व यह तादात्म्यजनित सहानुभूति ही थी। वे सर्वप्रथम साधारण अपराधी (जिसकी अन्तःप्रेरणाएँ अहंमूलक होती हैं) और राजनीतिक तथा धार्मिक अपराधी को लेकर चले, और अपने जीवन के अन्तिम चरण में ही आदिम अपराधी, अर्थात् पितृघाती, तक पहुँचकर एक कलाकृति में उसका उपयोग अपने पापों की स्वीकृति के लिए कर सके।"

दस्तोएवस्की का विचित्र चरित्र ही उनकी कलाकृतियों में अभिव्यक्त हुआ है। उनकी मनोव्याधि और वस्तु-चयन का घनिष्ठ सम्बन्ध देखते हुए यह प्रश्न उठता है कि क्या कला का न्यूरॉसिस के साथ सहभाव अपरिहार्य है? निम्नलिखित वक्तव्य में फ्रायड बहुत स्पष्टता से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

"दस्तोएवस्की के जटिल व्यक्तित्व में हमने तीन तत्त्व चुने हैं—उनके भावगत जीवन की असाधारण तीव्रता, उनकी प्रवृत्तियों की विकृत पूर्ववृत्ति—जिसने उन्हें अवश्यंभावी रूप से आत्मपीड़क और परपीड़क अथवा अपराधी होने के लिए अंकित कर दिया, तथा उनकी अविश्लेष्य कलात्मक देन। तत्त्वों के ऐसे संयोग का अस्तित्व न्यूरॉसिस के बिना भी सम्भव है; ऐसे मनुष्य हैं जो पूर्णतया आत्मपीड़क होकर भी न्यूरॉटिक नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

....हम कह चुके हैं कि उन परिस्थितियों में न्यूरॉसिस का होना अवश्यम्भावी नहीं था।"

फ्रायड ने दस्तोएवस्की के व्यक्तित्व में विफलता की धूमिल कहानी देखी तो एडलर ने उनमें मंगल-पुष्प का अनिंद्य विकास पाया। एडलर के अनुसार दस्तोएवस्की एक महान् कलाकार ही नहीं, अपितु मानव-जाति के एक चरम कल्याण-साधक भी हैं। उनका जीवन त्याग और बलिदान का एक दु:खात्मक घटनाचक्र है, "भूख, यन्त्रणा, विपन्नता—इनका आस्वादन उन्हें जीवन में बहुत बार करना था। जीवन-पथ पर वे एक तीर्थयात्री के समान चले।... समस्त अनुभवों का संचय करते हुए, एक विशाल आलिंगन में अखिल मानवता को हृदय लगाते हुए, वे कदम-कदम आगे बढ़े—ज्ञान पाने के लिए, समस्त पर्तों में जीवन को छूने के लिए, सत्य के सन्धान में, 'अभिनव उपदेश' के अन्वेषण में।" महानतम द्वन्द्वों और विरोधी तत्त्वों को अन्तस् में समेटे हुए वे जीवन की तुच्छ-से-तुच्छ बातों को भी अनुभूत और अभिव्यक्त किये बिना नहीं छोड़ सकते थे, क्योंकि "उनकी सम्पूर्ण प्रकृति उन्हें जीवन की एक एकान्वित व्याख्या की ओर अग्रसर करती है, जिससे अपने इस विकल युग की अनन्त अस्थिरता में वे सुरक्षा और विश्राम पा सकें।"

अनन्त बलिदान देकर भी दस्तोएवस्की सत्य को पा लेना चाहते थे। इस पथ पर वे असीम संवेदना, अनन्त सहानुभूति और अक्षय सहनशीलता लेकर अग्रसर हुए। ऐसा कोई अनुभव नहीं जिसकी गहराई में वे पैठ न सकते, घृणित-से-घृणित कोई ऐसा अपराधी नहीं जिसकी ओर उनकी सहानुभूति का अजस्र प्रवाह उन्मुक्त न बह सकता, और ऐसा कोई उत्पीड़न नहीं जो उनकी सहनशक्ति को तोड़ देता; ऐसी कोई बाधा ही न थी जो अपने निर्धारित पथ से उन्हें विमुख और च्युत करने में समर्थ कही जा सके। सत्यान्वेषण के लिए एक विशिष्ट विधि उन्होंने अपनाई—"स्पष्ट वक्तव्य के बहुत पूर्व ही उनका सिद्धान्त रहा है—सत्य की ओर मिथ्या द्वारा अग्रसर होना, क्योंकि निर्णयपूर्वक हम कभी यह नहीं मान सकते कि सत्य को हमने पा लिया है और हमें सूक्ष्मतम मिथ्यावादों का सहारा लेने के लिए प्रस्तुत रहना पड़ता है। इस प्रकार वे 'पाश्चात्य संस्कृति' के शत्रु बन गए, जिसकी मूलभूत प्रेरणा उन्हें सत्य द्वारा मिथ्या पर पहुँचने की चेष्टा प्रतीत हुई।"

एडलर के अनुसार मनुष्य में मूलभूत आत्मप्रेम और वैयक्तिक सत्ताकांक्षा होती है। समस्त मनुष्यों की ये चिरन्तन प्रेरक-शक्तियाँ यदि दस्तोएवस्की में भी थीं तो उनकी साधना पर उनका क्या प्रभाव पड़ा? मिथ्या द्वारा सत्यसिद्धि की चेष्टा में वे कहाँ तक पहुँचे? एडलर कहते हैं कि मनुष्य की मूलभूत सत्ताकांक्षा को दस्तोएवस्की खूब पहचानते थे, किन्तु मानव-बन्धुत्व में उन्होंने उसकी सीमा निर्धारित कर दी—"वे केवल अपने अन्तस् में संघर्षरत अन्तर्विरोधों का एकान्वय करके ही सत्य को पा सके थे, उन वैषम्यों को समन्वित करके, जिन्होंने स्वयं को उनकी सृष्टि में सदा अभिव्यक्त किया है, और जो उन्हें एवं उनके नायकों को नष्ट कर देने का भय उत्पन्न करते रहे हैं। इस आन्तरिक भाव के साथ उन्होंने कवि और मसीहा के रूप में कार्य करने का निमन्त्रण स्वीकार किया था तथा वे अपने प्रेम की सीमा निर्धारित करने की ओर अग्रसर हुए। उन्होंने पाया कि सत्ता के उन्माद की सीमा अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम द्वारा बँधी हुई है। आरम्भ में जिसने उन्हें प्रवर्तित किया वह सत्ताप्राप्ति का, दूसरों पर हावी होने का सुस्पष्ट प्रयत्न था और समस्त जीवन को एक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र में समाविष्ट कर लेने के प्रयत्न में भी महत्ता की ओर प्रेरित करने वाली यह अन्तःप्रेरणा विपुल परिमाण में अभिव्यक्त है।" अर्थात् सत्ताकांक्षा की प्रेरणा से दस्तोएवस्की भी परिचालित थे और उससे प्रेरित होकर उन्होंने समस्त सीमाओं का उल्लंघन किया। किन्तु स्वयं में यह महत्त्व की बात नहीं। इसके द्वारा उन्होंने प्रदर्शित किया कि अपने श्रेष्ठतम रूप मनुष्य सीमाओं के अतिक्रमण द्वारा नहीं पा सकता, उस प्रकार तो वह पीड़ित, परित्यक्त और पराजित ही हो सकता है; चरम मनुष्यत्व का उद्घाटन मानव बन्धुत्व की भावना एवं जातीय सहयोग में होता है—

"दस्तोएवस्की ने अपने नायकों के साथ भी वही किया; उन्होंने सामाजिक सहयोग की तर्क-संगत मांगों के वास्तवीकरण द्वारा जो सीमाएँ खोजी थीं, उनका अतिक्रमण अपने समस्त पात्रों को उन्मत्त होकर करने दिया। उनकी महत्त्वाकांक्षा, आत्मश्लाघा और आत्म-प्रेम को उत्तेजित कर उन्होंने समस्त को जीवन की चरम सीमाओं तक दौड़ाया, और फिर उनके पथ पर प्रतिशोध की देवियों का समवेत संगीत छोड़कर उन्हें पुनः मानवीय प्रकृति द्वारा आरोपित सीमाओं पर खदेड़ दिया, जहाँ समस्वरता में भजन-गान के लिए वे मुक्त थे। कोई अन्य मानस-प्रतिमा उनकी कृतियों में उतनी बार उपस्थित नहीं, जितनी एक 'सीमा' की···। उनका अभिनव आर्ष-मन्त्र हम सुनें—शौर्यमय जीवन के प्रतिवेशी-प्रेम से संयुक्त करने का महान् समन्वय सफल हो गया है। इस सीमा-रेखा पर पहुँचकर ही उनके नायकों की नियति, उनके भाग्य, को चरम परिणति मिलती प्रतीत होती है। उनकी सृजन-शक्ति तथा उनकी नैतिक अवस्थिति के लिए यह लक्ष्य विशेष अर्थपूर्ण बन गया।"

दस्तोएवस्की की समस्त कृतियाँ मानो उपर्युक्त सत्य की जीवन्त प्रतिमा हों। तब महान् कलाकार भी वैयक्तिक सत्ताकांक्षा से आरम्भ करते हैं, किन्तु उनकी साधना उन्हें मानव-बन्धुत्व पर पहुँचा देती है। जीवन विफल और विकृत होता है, यदि मनुष्य अपने अहं को सीमाबद्ध नहीं करता; और मानव-बन्धुत्व वह शक्ति है जो उसे सीमा में बाँधती है। यह सीमा मानो उत्कृष्ट मनुष्यत्व की स्वर्णप्रभा क्षितिज है।

एक दस्तोएवस्की और उसके दो मनोवैज्ञानिक व्याख्याता—फ्रायड और एडलर! दोनों ने उन्हें दो पूर्णतया विपरीत सीमान्तों पर प्रतिष्ठित किया है। प्रथम के अनुसार यदि वे न्यूरॉटिक और प्रतिगामी हैं, मानव-जाति का मसीहा बनने का अवसर पाकर भी शोषकों और उत्पीड़कों के दल में जा मिले हैं, तो द्वितीय के अनुसार वे एक महान् सत्यान्वेषी और प्रगतिशील सिद्ध-साधु हैं और मानव-मंगल के अभिनव मन्त्रोपदेशक, युगपुरुष और मसीहा हैं। ये पूर्णतया विरोधी निर्णय सामान्य विद्यार्थी को प्रकाश नहीं देते, उसे केवल आस्थाहीन, जर्जर और विकल बनाते हैं। इस भ्रमान्धकार का निवारण सत्यान्वेषी के लिए प्रथम आवश्यकता बन जाता है, क्योंकि उसके अभाव में उसका भटकना बन्द नहीं हो सकता। दस्तोएवस्की के उल्लिखित दो अध्ययनों में हमें दस्तोएवस्की नहीं मिलते, मिलते हैं फ्रायड और एडलर के दो भिन्न मनोविज्ञान।

दस्तोएवस्की की विशेष व्याधि 'एपीलेप्सी' की व्याख्या भी फ्रायड और एडलर ने पूर्णतया भिन्न रूपों में की है। इस व्याधि के मुख्य लक्षण थे—आक्रमण के समय मृतवत् स्थिति तथा उसके ठीक पूर्व असीम उल्लास का क्षण। 'एपीलेप्सी' की पृष्ठभूमि में 'न्यूरॉसिस' और 'न्यूरॉसिस' की पृष्ठभूमि में 'ईडिपस ग्रन्थि' की स्थिति मानकर फ्रायड ने यह व्याख्या दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—असीम उल्लास का क्षण विजय-सूचक है, वह पितृघात की अचेतन आकांक्षा की सहसा पूर्ति से उत्पन्न हर्षोन्माद है। तत्काल दूसरी प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, पितृघात का नैतिक दायित्व पापानुभूति बनकर दंशित करने लगता है और प्रायश्चित रूप में दस्तोएवस्की मृतवत् होकर स्वयं को दण्डित करते हैं। एडलर इस 'भीषण व्याधि' के कारण दस्तोएवस्की के प्रति संवेदना दिखाते हुए कहते हैं कि वे अधिक महान् थे क्योंकि उससे त्रस्त होने के बावजूद वे मनुष्यत्व का चरम मन्त्र सिद्ध करने में सफल हो सके। 'उल्लास के क्षण' की उनकी व्याख्या यह है— **"अपने आक्रमणों का वर्णन करते हुए दस्तोएवस्की कहते हैं कि वे उनमें एक ऐसी अनुभूति जगाते थे मानो उन्हें लुभाकर एक हर्षोन्माद जीवन के संवेदन की चरमान्तिक सीमाओं तक ले गया हो, जहाँ वे ईश्वर को स्वयं के समीप अनुभव करते थे, सचमुच इतने समीप कि केवल एक कदम उन्हें जीवन से विच्छिन्न कर देने के लिए पर्याप्त था।"** अर्थात् एडलर के लिए 'वह उल्लास का क्षण' किसी अचेतन आकांक्षा की पूर्ति का सूचक नहीं, प्रत्युत उस 'सीमा-रेखा' का संकेतक है जो वैयक्तिक सताकाक्षां के लिए मानव-बन्धुत्व द्वारा बनती है—वह 'सीमा-रेखा' जिसका अतिक्रान्ता निश्चित विनाश को प्राप्त करता है।

एपीलेप्सी के साथ सीमारेखा का अनन्य सम्बन्ध एडलर के इस वक्तव्य में स्पष्ट है— **"इस भावना के लिए....जो उन्हें रुकने के लिए विवश कर देती थी, जो एक रक्षात्मक पापानुभूति में रूपान्तरित हो गई थी,....दस्तोएवस्की कोई कारण न जानते थे। विचित्र तो यह है कि अपनी व्याधि को आक्रमणों के साथ उन्होंने उसका सम्बन्ध स्थापित किया। जब भी मनुष्य गर्वोन्माद में अपनी सामाजिक भावना की सीमाओं के अतिक्रमण की इच्छा करता था उसी समय ईश्वर का हस्तक्षेप दृष्टिगोचर होता था और अन्तःदर्शन का अनुरोध करते हुए चेतावनी के स्वर सुनाई पड़ते थे।"** विशेष द्रष्टव्य यह है कि जो भावना दस्तोएवस्की को सीमा पर रोक देती थी, उसीने एक रक्षात्मक पापानुभूति का रूप ग्रहण कर लिया था। फ्रायड के अनुसार यह पापानुभूति सीमा के अनिवार्य अतिक्रमण का अवश्यम्भावी दण्ड है।

दो बातें और रह जाती हैं जो लक्षणीय हैं—दस्तोएवस्की की कृतियों का निर्माण-सूत्र एवं उनकी नैतिकता। मसीहा दस्तोएवस्की ने अपनी कृतियों में जो मन्त्र जीवन्त किया है, उसके बावजूद उनकी कृतियाँ मूलभूत महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा से वंचित नहीं—**"दस्तोएवस्की के जीवन का प्रबलतम बिन्दु यह है कि उनकी समस्त भव्य सृष्टियों का उदय इस रूप में होता, अर्थात् कार्य को निष्फल, दुर्वृत्तिक तथा अपराधमूलक माना जाय, और...मुक्ति-समर्पण में सन्निहित रहे—उस समय तक कि जब तक समर्पण दूसरों पर महत्त्व के गुप्त आनन्द को अन्तर्भुक्त किए हो।"** दूसरे शब्दों में समर्पण भी 'विजय के लिए झुकना' है।

फ्रायड की दृष्टि में दस्तोएवस्की एक विफल नीतिवादी थे, किन्तु एडलर के अनुसार वे नैतिकता के चूड़ामणि तो हैं ही, उन्होंने उसके एक महामन्त्र की सृष्टि भी की है—**"....वे उस सूत्र तक पहुँचे जिसे काण्ट के 'केटागोरिकर इम्परेटिव' के बहुत ऊपर रखा जा सकता है—यह कि, अपने मानव-बन्धु के पाप में प्रत्येक व्यक्ति भागी होता है।"** इसमें प्रत्येक मनुष्य का एक मूलभूत दायित्व सन्निहित है—**"यदि मैं अपने पड़ोसी के पाप में और प्रत्येक व्यक्ति के पाप में भागी हूँ तो इस उतरदायित्व को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता हुआ एवं उसका मूल्य चुकाने का आदेश देता हुआ, मुझ पर एक चिरन्तन दायित्व है।"**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त आधारों पर एडलर का निर्णय यह है कि कलाकार और नीतिवादी दोनों रूपों में दस्तोएवस्की एक महान् और अनन्य व्यक्ति बने रहते हैं।

व्लादिमीर येर्मिलोफ़ मार्क्सवादी एवं सोवियत रूस के एक प्रमुख समीक्षक हैं। दस्तोएवस्की पर उनके विचार यहाँ बंगला में अनूदित उनके 'सोवियत जनगनेर चोखे दस्तोएभास्किर साहित्य' नामक लेख से आकलित किये गए हैं। उद्देश्य यह प्रस्तुत करना है कि सोवियत भूमि में दस्तोएवस्की का विरोध किसी पूर्वग्रह अथवा दुर्वृत्ति पर आश्रित नहीं, किन्तु उसके कुछ महत्त्वपूर्ण कारण हैं। दस्तोएवस्की ने जहाँ तक जन-जीवन का साथ दिया है, जनता की प्रगतिशील प्रवृत्तियों और वास्तविक अनुभूतियों का यथार्थमूलक चित्रण किया है, वहाँ तक वे एक महान् कलाकार के रूप में पूज्य और मान्य हैं। 'पुअर फोक' और 'मेमायर्स फ्रॉम ए डेड हाउस' जैसे ग्रन्थों की गणना रूस के कालजयी साहित्य में की जाती है और उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। किन्तु जहाँ उनमें प्रतिगामिता और विकृति का पुरस्कार है, वहाँ वे प्रशंसा के अधिकारी नहीं रह जाते और उनका केवल विरोध ही किया जा सकता है, अर्थात् दस्तोएवस्की एक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार थे, किन्तु मुख्यांश में उन्होंने जन-जीवन के लिए घातक और प्रगति-विरोधी पथ ग्रहण किया। प्रतिभा की इस विपरीत परिणति का, समर्थ की इस प्रतिगामिता का, कारण क्या है ? फ्रायड ने यदि उसे दस्तोएवस्की की मानसिक व्याधि और चारित्रिक विकृति में खोजा तो मार्क्सवादी येर्मिलोफ़ उसे रूस की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और उसकी अर्थ-व्यवस्था में पाने का प्रयत्न करते हैं।

तत्कालीन रूस कैसा था ? गत शताब्दी के छठे और सातवें दशक में वहाँ पूँजीवाद का विजयाभियान हुआ। इस अभियान तथा पूँजीवाद के जंगली कानूनों के समक्ष रूस के प्रतिगामी, प्रगति-विरोधी, धर्मप्रधान, निम्न-मध्य-वर्ग के लोग शंकित हो उठे। दस्तोएवस्की के साहित्य में वही शंका प्रतिफलित हुई है। धर्मप्रधान रूस ढह रहा था। जिस मनुष्य की कहानी दस्तोएवस्की ने लिखी है वह इसी अबोध्य, भीषण, नये प्रकार की जीवन-गति में पड़कर स्वयं को नितान्त एकाकी और परित्यक्त अनुभव करने वाला मनुष्य है।

दस्तोएवस्की के समक्ष सम्भावनाएँ ही कुल दो हैं—जल्लाद बनो या जल्लाद का शिकार। इसे छोड़ बचे रहने के लिए कोई तृतीय पथ नहीं। या तो वे दूसरों के ऊपर स्वेच्छाचार करेंगे, नेपोलियन अथवा रॉथ्सचाइल्ड बनेंगे,···या वे नेपोलियन अथवा रॉथ्सचाइल्ड के समक्ष माथा झुकाकर सलाम करेंगे, जो उनका अपमान करते हैं, भक्ति के साथ उनका ही हाथ चूमेंगे।··· खून करो या खून हो जाओ, मनुष्य के सामने पूँजीवाद ने यही दो अभिशप्त सम्भावनाएँ रखीं। इस उभय-संकट से मुक्ति पाने का जो एकमात्र पथ है, वह है उत्पीड़न के विरुद्ध संग्राम का पथ, मनुष्य के लिए मंगलमय नव-समाज की रचना के लिए आन्दोलन का पथ, जिस पर सचमुच मनुष्य दस्तोएवस्की के पात्रों के समान निस्संग नहीं है, असहाय नहीं है। दस्तोएवस्की निम्न-मध्य-वर्ग की उलझन में फँस गए, किन्तु सर्वहारा की क्रान्ति में मुक्ति का गान न गा सके। इतिहास जिन्हें निगल रहा था उनकी अनुभूति उन्हें थीं, किन्तु जो इतिहास रच रहे थे उनका साथ वे न दे सके।

फ्रायड और येर्मिलोफ़ की व्याख्या क्रमशः मनोवैज्ञानिक और सामाजिक है, किन्तु दोनों ही नियतिवादी हैं। मनोविज्ञान और ऐतिहासिक समाजवाद के आधार पर दोनों जीवन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गति को सुनिश्चित नियमों द्वारा अनुशासित और परिचालित मानते हैं। फ्रायड के अनुसार यदि दस्तोएवस्की के व्यक्तित्व की अनिवार्यता उनकी कृतियों में प्रतिफलित हुई है तो येर्मिलोफ वहाँ उनकी वर्गचेतना की अनिवार्यता को उद्भासित पाते हैं। किन्तु दोनों के निर्णयों में आश्चर्यजनक साम्य प्राप्त होता है। दोनों की दृष्टि में दस्तोएवस्की प्रतिगामी हैं; श्रुतिप्रचारक और मसीहा बनने का अवसर पाकर उन्होंने उसे खो दिया, उत्पीड़न के विरुद्ध संग्राम के पथ का वे अनुसरण न कर सके। फ्रायड के अनुसार दस्तोएवस्की में आत्मपीड़न और परपीड़न दोनों की उपस्थिति थी; छोटी बातों में उनका पीड़न-प्रेम दूसरों की ओर उन्मुख था, और बड़ी बातों में स्वयं की ओर। अपराधियों के प्रति उनमें अपार सहानुभूति थी तथा दूसरी ओर जार और ईश्वर के आगे घुटने टेककर वे मनुष्य के उत्पीड़कों के आराधक बन गए। येर्मिलोफ के अनुसार दस्तोएवस्की के समक्ष सम्भावनाएँ ही कुल दो थीं—जल्लाद बनो या जल्लाद का शिकार, खून करो या खून हो जाओ! किन्तु कारण यदि फ्रायड दस्तोएवस्की की मानसिक रचना में पाते हैं तो येर्मिलोफ पूँजीवाद के अभियान में। निर्णय में न्यूरॉसिस और पूँजीवाद का मानो समीकरण हो जाता है, क्योंकि एक में यदि व्यक्तित्व की विफलता है तो द्वितीय में समाज-व्यवस्था की। ऐसे व्यक्तित्व और ऐसे समाज में क्या कोई घनिष्ठ और अन्तरंग सम्बन्ध है?

रैंडल स्विंगलर की समीक्षा भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर आश्रित है, किन्तु सिद्धान्त के साथ उन्होंने येर्मिलोफ की अपेक्षा तथ्य के उद्घाटन पर अधिक ध्यान दिया है। दस्तोएवस्की के समाज के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व, उनकी परम्परा तथा उनमें उसकी चेतना के आधार पर उनके कृतित्व का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उनकी कृतियों की मूल वस्तु को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न भी किया है।

हमारे युग की समस्या दस्तोएवस्की के समक्ष भी उपस्थित थी—"क्या हम आगे बढ़ सकते हैं? क्या मनुष्य केवल अपनी चेतना और संकल्प द्वारा वातावरण और स्वयं अपने द्वारा विकसित शक्तियों का नियन्त्रण कर सकता है? अथवा रहस्यवाद और धार्मिक एकान्त में हमारा प्रत्यावर्तन अनिवार्य है? क्या हम अपनी सीमा को लाँघ गए हैं और आध्यात्मिक अहंकार में पड़कर हमने पाप किया है? इस देश के अधिकांश बुद्धिजीवियों ने प्रत्यावर्तन का, अनीति और पाप का, उसके निवारण के उपाय की खोज का, पथ चुना है, जो दस्तोएवस्की का भी पथ था।" अर्थात् अधिकांश बुद्धिजीवी आधुनिक चेतना से यूरोप की मध्ययुगीन चेतना में प्रत्यावर्तन कर रहे हैं।

बुद्धिजीवी घोर व्यक्तिवादी होता है। वह वैयक्तिक संकल्प और बौद्धिक चिन्तन से प्राप्त 'सत्ता' की एकान्त प्रतिष्ठा द्वारा विच्छिन्न एकाकी व्यक्ति को सर्वशक्तिमान बनाने का प्रयत्न करता है। अपनी बुद्धि से जिस व्यापक सत्ता का साक्षात् मैं कर रहा हूँ, उसका अन्वेषण और अनुसरण ही पीड़ित जन-समाज का एकमात्र मंगलपथ है, ऐसा उसमें विश्वास होता है। इसीलिए उसकी मूल आकांक्षा मसीहा बनने की आकांक्षा होती है—वह देवदूत, जो दिव्य प्रेरणा से जनता को मंगलदान करने के लिए अवतरित हुआ है। वह स्वयं को समाज से विच्छिन्न कर लेता है और इस प्रकार समस्त सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। 'मुक्ति' उसके होठों में स्पन्दित होने वाला चिरन्तन अभिचार-मन्त्र है। वह रईसों की क्रिया-शून्य विश्रामशीलता की म्रियमाण प्रतिध्वनि होता है। इसीलिए बूर्ज्आ के प्रति उसमें अपार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घृणा होती है, किन्तु सर्वहारा के प्रति वह समर्पित नहीं हो पाता। बूर्जुआ-समाज की संकीर्णता से मुक्त होने के लिए वह छटपटाता है, किन्तु उसकी सिद्धि में स्वयं को असमर्थ पाता है। पूँजीवाद की स्थिरता के काल में उसकी ये प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। समाज-व्यवस्था का आसन्न ध्वंस, चाहे वह वास्तविक या भासमान हो, उसके उन्नयन का क्षण होता है; किन्तु कोई व्यवस्था केवल अपने बोझ से नहीं ढह जाती, इसे वह नहीं जानता। अपनी विफलता का अन्तिम निश्चय हो जाने पर वह एक दुःखान्त अभिनय अपनाता है, यह प्रदर्शित करता है कि युग-प्रवर्तक की सम्भावनाएँ अपनी आत्मा में समेटे वह एक कृतघ्न युग के लिए शहीद हो रहा है।

अपनी सामाजिक हीनता की भावना उसे आत्म-प्रेम के अतिशय पर ले जाती है। उसकी मुक्ति का एकमात्र पथ होता है दलित, किन्तु प्रगतिशील मानवता के साथ तादात्म्य; किन्तु उसकी वह उपेक्षा करता है। उसकी क्रान्ति का क्षण बहुत पहले व्यतीत हो चुका। वह उन्हें आज भी एकाकी, बहिष्कृत, सार्थक अन्तःप्रेरणा से शून्य, बहिष्कृत की कुण्ठित प्रवृत्तियों और भावनाओं तथा मनोव्याधि और पापानुभूति का शिकार छोड़ गई है। अपने समस्त उपकरणों के साथ यही पापानुभूति उनकी कला में अभिव्यक्त होती है। कोइसलर, ऑर्वेल, कोनोली, आल्डस हक्सले, ग्राहम ग्रीन, हैरी मिलर, जाँ पाल सार्त्र, मार्सल प्राउस्ट और टी० एस० इलियट इत्यादि का कृतित्व ऐसा ही है।

दस्तोएवस्की ने रूस के बुद्धिजीवी-वर्ग की पाप की समस्या को अंकित किया है। उनकी समाज-कृतियों में एक दृष्टान्त सन्निहित है। 'दि पजेस्ड' क्रान्ति की प्रतिक्रिया में परिणति का दृष्टान्त है। उस समय तक उसकी अन्य परिणति हो भी नहीं सकती जब तक वह 'व्यक्तिगत विद्रोही' के आदर्श का समीपता से अनुगमन करती है और जो आदर्श सदा दस्तोएवस्की के समक्ष उपस्थित रहा। ऐसे विद्रोहियों के लिए यह आवश्यक है कि अपने आदर्श जगत् की सिद्धि के लिए वे एक सत्ता की प्रतिष्ठा करें और यह सत्ता अन्ततः उनसे ऐसी अधीनता की माँग करेगी जो उनके लिए सम्भवतः उस अधीनता से भी अधिक अपमानजनक होगी जिसके विरुद्ध उन्होंने पहले विद्रोह किया था।

"कौन अपने पिता की मृत्यु नहीं चाहता," करामाज़ोव की इस पुकार में फ्रायड की ईडिपस ग्रन्थि की पूर्वध्वनि सुनाई पड़ती है। किन्तु इस पौराणिक कथा का उपयोग दस्तोएवस्की 'निहिलिज़्म' के एक राजनीतिक दृष्टान्त के रूप में करते हैं। सामाजिक उत्तरदायित्व से विच्छिन्नता व्यक्ति को सामाजिक न्याय से भी विच्छिन्न कर देती है। सत्ता का इसीलिए नाश कि वह सत्ता है, पितृघात को जाति की विद्यमानता के विरुद्ध अपराध बना देता है।

फ्रायड और स्विंगलर दोनों ही पापानुभूति की व्याख्या को प्रधान बनाकर चलते हैं, किन्तु फ्रायड का आधार मनोवैज्ञानिक है और स्विंगलर का सामाजिक। मनोवैज्ञानिक राजनीतिक संघर्ष को व्यक्तिगत पापानुभूति का प्रक्षेप मानते हैं। स्विंगलर को यह स्वीकार नहीं। दस्तोएवस्की की कृतियों में ईडिपस ग्रन्थि और पापानुभूति की उपस्थिति उनके व्यक्तित्व की विकृति के कारण नहीं, किन्तु ये तत्त्व मूल सामाजिक समस्या के दृष्टान्त-रूप में आए हैं। इसीलिए दस्तोएवस्की की कृतियों का विशुद्ध मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अपर्याप्त और अनुपयुक्त है। इस निर्णय का एक और भी गम्भीर कारण है, वह यह कि दस्तोएवस्की का साहित्य परम्परा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक व्यापक चेतना के माध्यम से प्रतिभासित हुआ है।

दस्तोएवस्की का युग रूस में पूँजीवाद के विकास का युग है। उस युग के विद्यार्थी, जो शीघ्र ही एक व्यवसायी-वर्ग में परिणत हो गए, रूसी बुद्धिजीवियों की विचित्र द्विविधा को मूर्तिमान करते हैं। उन्हें ही दस्तोएवस्की ने अपने विश्लेषण की प्रमुख सामग्री बनाया। दस्तोएवस्की की दीक्षा दस वर्ष तक साइबीरिया में कारावास की अवधि में हुई। उनमें आरम्भ से सामाजिक हीनता की भावना तो थी ही, अब उसके साथ उनमें पीड़ित होने की प्रत्याशा और आकांक्षा भी जाग गई। असाधारण संवेदनशीलता ने उनकी कल्पना का पोषण किया। इन दस वर्षों के अनुभव पर आश्रित 'हाउस ऑफ दि डेड' में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि "बुद्धिजीवियों द्वारा जनता की रक्षा नहीं होगी, प्रत्युत् जनता ही बुद्धिजीवियों की रक्षा करेगी।" 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' के अन्त में यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। साइबीरिया में निर्वासित रास्कलनिकोव उस सोनिया की प्रेरणा से नव-जीवन की सम्भावना का अनुभव करता है जो समाज से अपमानित, दलित और च्युत है। जो दस्तोएवस्की निश्चित रूप से जानते थे वह यह है कि एकाकी रहकर बुद्धिजीवी कुण्ठा और भ्रष्टता के अतिरिक्त और कुछ नहीं पा सकते। जिसका उन्हें धुँधला आभास था वह यह है कि समाज के निम्न वर्ग के मनुष्यों में ही प्राप्त होने वाली अनिर्वचनीय और अज्ञात गुणशीलता के बीज को विकसित करना आवश्यक है। इसके आगे वे नहीं देख सकते थे और उन्हें औद्योगिक श्रमजीवियों में एक वर्ग के रूप में विकसित होते हुए नये गुणों का कोई ज्ञान न था।

दस्तोएवस्की ने बचपन से पुश्किन की प्रत्येक पंक्ति याद की थी। पुश्किन के 'ओनेगिन' में जो द्वन्द्व उपस्थित है वही दस्तोएवस्की के समक्ष भी था। वह द्वन्द्व है—'बौद्धिकता, शंकावाद और नास्तिकता का सामन्तवादी रूस की आदिम धार्मिक दास्यवृत्ति के विरुद्ध संग्राम। अन्त में जो वस्तु रक्षा करती है, वह है चरित्र-बल अथवा रूसी व्यक्तित्व। समस्या का समाधान भी पुश्किन के विचार के अनुकूल है। सामाजिक परिवर्तन में विफलता की अनुभूति तथा धार्मिक समझौते में प्रत्यावर्तन की अनुभूति के साथ यह भावना भी विद्यमान थी कि सामाजिक कर्तृत्व का प्रथम भाग, एक रूसी संस्कृति और सामाजिक चेतना के निर्माण का कार्य सम्पन्न हो चुका है और अब यह आवश्यक है कि यह वरदान जगत् को प्रदान किया जाय। रूस के राष्ट्रीय व्यक्तित्व को श्रुतिप्रचारक बनना था। केवल रूसी आत्मा में यूरोप को अपने द्वन्द्वों का समन्वय प्राप्त होगा। दस्तोएवस्की का महत्त्व यह है कि उनकी अपसाधारण अन्तर्मुख चेतना परम्परा की एक गम्भीर अनुभूति तथा सामाजिक दायित्व की प्रबल भावना के माध्यम से विकीर्ण हुई। इसीलिए वे उन समस्त विकृतियों और रोग-लक्षणों को उनकी उपयुक्त सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध कर सके जिन्हें आज हम पराजित बुद्धिजीवी के प्रदर्शनमूलक उपकरण के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं देखते।

सन् १८८० में दस्तोएवस्की 'पैन-स्लाविज़्म' के मसीहा बनकर उपस्थित हुए। अन्त में उन्होंने ईसा और रूस में, रूसी ईसा और रूसी ईश्वर में समस्या का हल पा लिया। उनका उद्देश्य रूसी बुद्धिजीवियों की जीवन-गति को 'ईसा और रूस' की खोज में सामाजिक और धार्मिक, प्रत्येक प्रकार के चेष्टित हल की स्थिति में अंकित करना था। सामाजिक चेतना को उसकी अभावमयी परिणति तक पहुँचाने का कार्य उन्होंने किया, किन्तु वास्तविक हल को वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रबद्ध न कर सके। दस्तोएवस्की की कृतियों की शक्ति और उनका ऐतिहासिक महत्त्व स्वयं पाप की अभिव्यञ्जना में, समाज की क्रूरताओं और 'स्वतन्त्र' बुद्धिजीवी के ऐतिहासिक अभावों के प्रहरणशील विश्लेषण में सन्निहित है।

दस्तोएवस्की की उपर्युक्त चार समीक्षाएँ स्पष्ट ही एकमत नहीं हैं। फ्रायड और एडलर का विराट् अन्तर तो स्वयं प्रकट है, किन्तु दो मार्क्सवादी समीक्षक भी परस्पर पर्याप्त भिन्नता प्रदर्शित करते हैं। येर्मिलोफ दस्तोएवस्की के कृतित्व को प्रगतिशील और प्रतिगामी, इन दो पूर्णतया पृथक् कठघरों में बाँधकर देखते हैं, किन्तु स्विगलर उनके सम्पूर्ण अविभाज्य कृतित्व के मूल सत्त्व की व्याख्या में अग्रसर होते हैं। येर्मिलोफ़ उनमें निम्न-मध्य-वर्ग की चेतना प्रतिफलित देखते हैं, किन्तु स्विगलर बुद्धिजीवी की समस्या को। येर्मिलोफ पूँजीवाद के अभियान की चर्चा करके तत्काल निर्णय पर पहुँच जाते हैं, किन्तु स्विगलर दस्तोएवस्की की पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्परा को भी महत्त्व देते हैं। यही नहीं, स्विगलर पापानुभूति को केवल विकृति कहकर कृतकार्य नहीं हो जाते, किन्तु उसकी उपयुक्त सामाजिक व्याख्या पर विशेष ध्यान देते हैं। फ्रायड के समान ही स्विगलर दस्तोएवस्की में अन्तिम विफलता पाते हैं, किन्तु इसके लिए वे उनकी भर्त्सना नहीं करते। दस्तोएवस्की क्या नहीं कर पाए, इसे वे महत्त्व नहीं देते; किन्तु उनकी उपलब्धियों पर ध्यान देते हैं। स्विगलर एडलर के समान दस्तोएवस्की में मसीहा-वृत्ति तो लक्षित करते हैं, किन्तु उसका स्तवन नहीं करते और न मानवता के चरम कल्याण के मंत्र का सिद्ध अन्वेषक ही उन्हें मानते हैं।

इस लेख का उद्देश्य उपर्युक्त चारों समीक्षाओं के पक्ष अथवा विपक्ष में कोई अपना मत प्रस्तुत करना नहीं, उन्हें यहाँ वर्तमान युग की दो प्रमुख समीक्षा-पद्धतियों के क्रियाशील रूप को स्पष्ट करने के लिए उपस्थित किया गया है। किन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जो उन्हें देखते ही मन में उपस्थित होती हैं और जो चिन्तन तथा अग्रिम विश्लेषण के योग्य प्रतीत होती हैं। संक्षेप में उन्हें प्रस्तुत करके हम यह लेख समाप्त करेंगे।

बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया नीत्शे और बर्गसाँ के दार्शनिक चिन्तन तथा फ्रांस के प्रतीकवादियों की धारणा में स्पष्ट लक्षित होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान विज्ञान होने के अतिरिक्त एक सीमा तक अपने युग-जीवन का प्रवाहसूचक लक्षण भी है। दस्तोएवस्की केवल रूसी साहित्य के उत्थान-काल में एक अपवाद नहीं, किन्तु वे आधुनिक युग के ऐसे बहुत से लेखकों के शीर्ष स्थान पर अवस्थित हैं जिनकी कला-साधना पापानुभूति पर आश्रित है। इस पापानुभूति की विशुद्धतः मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा विशुद्धतः सामाजिक व्याख्या सम्भव है। इससे यह संकेत मिलता है कि दोनों दृष्टिकोणों में परस्पर अनुकूलता स्थापित करने की सम्भावना और आवश्यकता है, यद्यपि दो नितान्त विपरीत जाति के नियतिवादों में मूलभूत विरोध देखकर यह अभी सम्भव प्रतीत नहीं होता। एकमात्र सारगर्भ संकेत जो हमें मिलता है वह यह है कि उन व्यक्तियों की मानसिक प्रक्रिया, जो इतिहास के साथ चल रहे हैं तथा व्यापक जीवन से सम्बन्ध बनाये हुए हैं, उन मनुष्यों से भिन्न होती है जो ऐसा करने में विफल रहे। एक जीवन के प्रति तथाकथित साधारण प्रतिवेदन करता है और द्वितीय तथाकथित प्रवृत्तिमूलक, भावात्मक और विकृत प्रतिवेदन। अतएव विशुद्धतः मनोवैज्ञानिक और विशुद्धतः सामाजिक दृष्टिकोण अपनी कट्टरता में अपूर्ण प्रतीत होते हैं। इन समीक्षा-पद्धतियों का सर्वश्रेष्ठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण यह प्रतीत होता है कि जहाँ सामान्य विधियों से व्याख्या सम्भव नहीं दिखाई देती वहाँ वे छिपे हुए अर्थों का उद्घाटन करती प्रतीत होती हैं।

कलात्मक सर्जना का अर्थ फ्रायड की दृष्टि में केवल एक विशेष प्रकार की अभिव्यञ्जना अथवा रूपसृष्टि की क्षमता है। इसे वे अविश्लेष्य बताते हैं। रूप जिस वस्तु को छिपाये हुए है उसका उद्घाटन उनकी दृष्टि में समीक्षा का प्रधान कार्य है। मार्क्सवादी समीक्षा में भी वस्तु को प्रमुखता दी जाती है। व्यक्ति और समाज तथा उनके सम्बन्ध की धारणा कृति की वस्तु के निरूपण में महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यद्यपि दोनों ही दृष्टिकोण व्यापक रूप से समस्त साहित्य को लक्ष्य बनाकर चलते हैं तथापि दोनों में ही अपने अनुकूल विशेष जाति के साहित्य के प्रवर्त्तन की प्रवृत्ति है। ऐसी समीक्षाओं में अन्ततः हम लेखक की अपेक्षा समीक्षक अथवा उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को अधिक पाते हैं।

वर्तमान युग में 'मूल्य' चाहे अनुपस्थित न हों किन्तु वे अनिश्चित और परिवर्त्तनशील अवश्य हैं। वे जीवन में एक मूलभूत संघर्ष की सांकेतिक अभिव्यञ्जना करते हैं। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द अनेकार्थी है, जैसे 'मुक्ति' का अर्थ फ्रायड और मार्क्स के शब्दकोष में भिन्न होगा। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उपस्थित होता है वह लेखक की स्वतन्त्रता और उसके उत्तरदायित्व से सम्बद्ध है। यह निश्चित है कि कोई लेखक हमें प्रिय अथवा अप्रिय लगे, इसके पूर्व उसकी व्याख्या आवश्यक है। दस्तोएवस्की का कृतित्व यह प्रश्न उपस्थित करता है कि क्या विशेष प्रतिभाशाली कलाकार के लिए ऐसे महान् साहित्य की सृष्टि सम्भव है जिसमें समस्त माने हुए मूल्य उच्छिन्न हो गए हैं? क्या विकृतियों से ग्रस्त होकर भी महान् कला की साधना सम्भव है? क्या एक सन्तुलित मन अनिवार्य रूप से महान् साहित्य की सृष्टि में समर्थ है? ऐसी समस्याओं को सुलझाने के प्रयासों में ही समीक्षा का अग्रिम विकास सम्भव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

प्रकाशचन्द्र गुप्त

जहाज़ का पंछी

श्री इलाचन्द्र जोशी की उपन्यास-कला दो धाराओं में बही है। पहली धारा के उपन्यास मानवीय मनोविकारों की उलझनों से प्रभावित थे। इन उपन्यासों के माध्यम से जोशीजी की इच्छा मनुष्य की अन्तश्चेतना को निखारने की थी, किन्तु 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' के समान उपन्यासों में मनुष्य-स्वभाव के बड़े अरुचिकर रूपों का अङ्कन था। दूसरी धारा के उपन्यासों का आरम्भ 'निर्वासित' से होता है, जब जोशीजी ने बाह्य सामाजिक परिस्थितियों की ओर अपना ध्यान मोड़ा। अब तक अनेक उपन्यासों द्वारा जोशीजी अपनी कला की इस धारा को समृद्ध कर चुके हैं और अब यही धारा उनकी कला की मुख्य धारा बन चुकी है। 'मुक्ति-पथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' जोशीजी की उपन्यास-कला में एक तीव्र, सजग, सामाजिक भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन उपन्यासों में 'जहाज़ का पंछी' विद्रोही भावना से पूर्णतः ओत-प्रोत है; साथ ही वह जोशीजी की कला की आकर्षक रोचकता और मोहकता का भी निर्वाह करता है। 'जहाज का पंछी' कला-पक्ष और स्वस्थ, सामाजिक पक्ष, दोनों ही दृष्टियों से एक प्रौढ़ और परिपक्व कृति है। व्यक्ति-मानस की विकृतियों से सामाजिक विकृतियों की दिशा में जोशीजी की प्रगति हिन्दी-साहित्य की वर्तमान जागरूकता का एक सबल संकेत है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेमचन्द और पन्तजी का प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन में प्रवेश जितने महत्त्व का था, लगभग उतने ही महत्त्व का 'जहाज़ का पंछी' का प्रकाशन भी है। किस प्रकार पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं में पले वयस्क साहित्यकार नई, स्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपनाते हैं, उसका यह सन्देश है।

'जहाज़ का पंछी' कलकत्ता के विशाल जीवन में भटकते हुए एक शिक्षित नवयुवक की कहानी है, जो संगीत, कला, चिन्तन आदि हर दिशा में प्रतिभावान होते हुए भी जीविकोपार्जन का कोई सहारा नहीं पाता। क्रूर सामाजिक परिस्थितियों का वह असहाय शिकार है। समाज के ऊपरी स्तर में भयंकर खोखलापन है; नीचे के वर्ग में ही करुणा और मानवीयता के लक्षण कथा-नायक को मिलते हैं। बड़े ही आग्नेय और धधकते शब्दों में जोशीजी ने यह लम्बी कथा कही है। कथा का नायक शासकों की दृष्टि से आवारा है। अपने जीवन की कहानी वह इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार समझाता है—

"....मैं कोई विशेष गुणी न होने पर भी पढ़ना-लिखना जानता हूँ और पढ़ने-लिखने से सम्बन्धित कोई भी काम कर सकता हूँ। पर पहले तो इस तरह के कामों का ही आज बहुत बड़ा अभाव है और जहाँ कहीं ऐसे कामों की गुन्जाइश है भी, वहाँ आज के भ्रष्टाचारी युग में अयोग्य व्यक्ति तिकड़मबाजी से अपने को पूर्णतः योग्य सिद्ध करके घुस जाते हैं। योग्य व्यक्ति उस ठेलमठेल में पीछे को ढकेल दिए जाते हैं और दुनिया वालों की नज़र में चोर, गुण्डे, बेईमान और बदमाश सिद्ध होकर दर-दर ठोकरें खाते फिरते हैं, गली-दर-गली भटकते रह जाते हैं और एक जेल से दूसरे जेल में आश्रय खोजते रहने के सिवा उनके लिए कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता। उन्हीं युग-प्रताड़ित आवारों में से मैं भी एक हूँ, बस केवल इतनी ही मेरी रहस्यमयता है।"[1]

कथा का नायक यह गुमनाम आवारा अनेक बार जीवन आरम्भ करने का प्रयास करता है। वह जहाज के उस पक्षी के समान है, जो फिर-फिर जहाज पर उड़कर आ बैठता है—

"जैसे उड़ि जहाज़ को पंछी,
फिरि जहाज़ पै आवै।" (सूरदास)

भूखा और त्रस्त होने के कारण वह पाकेट-मार लगता है और हवालात में बन्द कर दिया जाता है। नई रोशनी का न्यायाधीश उसके विरुद्ध झूठी गवाही को पहचानकर उसे मुक्त कर देता है। वह कुछ दिन पहलवानों के एक अड्डे पर रहता है, जहाँ उसे सच्ची संवेदना और सहानुभूति मिलती है। यहाँ करीम चाचा से वह खाना पकाना सीखता है और आगे चलकर सभी मुसीबतों में खाना पकाने की नौकरी पा सकता है। वह एक बड़े पूँजीपति और कांग्रेसी नेता के घर नौकरी करता है, किन्तु उसे शिक्षित जानकर वे उसे कम्यूनिस्ट समझते हैं और निकाल देते हैं। फिर वह एक धोबी की लाण्ड्री में नौकरी करता है, फिर एक चकले में प्रधान रसोइए का पद प्राप्त करता है। यहाँ भी पुलिस उसे सताती है और अन्त में वह एक अमीर किन्तु स्नेह-शील महिला के यहाँ आश्रय पाता है और सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनाओं में वे दोनों लगते हैं।

इस कथानक के इर्द-गिर्द कलकत्ता के मानवी महासागर की उत्ताल तरंगें सदा हिलोरें मारती रहती हैं। एक भयानक कोलाहल और कोहराम मानो पाठक का निरन्तर दम घोंटता रहता है। साँस लेने तक को मानो अवकाश नहीं मिलता। जोशीजी का मानव-जीवन का अपूर्व और विराट् अनुभव पाठक को चकित करता रहता है। पार्क और फुटपाथ का जीवन, कॉलेज-स्क्वायर की किताबों की दुकानें, हवालात और कचहरी, अस्पताल, अभिजातकुल की रहन सहन, पहलवानों के अड्डे, गिरहकट और पॉकेटमार, धोबियों की सीलन और बदबू-भरी कोठरियाँ, वेश्यालय का नारकीय जीवन, असहाय लड़कियों की दयनीय जीवन-कथा और अन्त में एक सम्भ्रान्त कुल-नारी का स्नेह-पाश, ये सभी विचित्र जीवन-परिस्थितियाँ साकार होकर उपन्यास में बोल उठी हैं।

अनेक पात्र सजीव होकर कथा में मुखारित हुए हैं। दर्जनों की संख्या में वे कथाकार के चतुर्दिक् जीवित होकर डराते हैं—करीम चाचा, भांदुड़ी परिवार के व्यक्ति, प्यारे धोबी, उसकी

१. पृ० ३७२-३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़की बेला, फिर वेश्यालय के क्रूर, पाशविक जीवन से भयातुर नारियाँ, अमला, सुजाना, जुलेखा, और अन्त में लीला का स्वस्थ निर्मल स्नेह।

स्पष्ट ही 'जहाज का पंछी' का कथानक व्यापक है और इसमें प्रसार अधिक है। लेखक की निर्मम दृष्टि जीवन के अनेक घृणित और कुत्सित व्यापारों पर घूमी है और उनका यथार्थमय अङ्कन उसने किया है। यह उपन्यास आज के भ्रष्ट, पूँजीवादी समाज की नैतिकता पर कठोर मर्म-प्रहार करता है और जीवन की स्वस्थ, संघर्षरत प्रवृत्तियों को बल देता है। उन्नत और सचेत कला का ध्येय वह अपने उपन्यास में प्रतिष्ठित करता है। आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' का वर्णन वह इस प्रकार करता है—

"बीसवीं शती के इस उत्तरार्द्धकाल में भी, इसी कलकत्ता शहर के लाखों आदमी इन अस्वाभाविक और अमानुषिक परिस्थितियों में जीवन बिताने को बाध्य हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' में मनुष्य ने मनुष्य को मनुष्य न रह देने की कसम खा रखी है। स्वयं अपने सम्बन्ध में मुझे सन्देह होने लगता कि मैं मनुष्य नहीं हूँ, बल्कि उन खटमलों, मच्छरों, गोजरों, बिच्छुओं, मकड़ियों, तिलचट्टों और दीमकों की तरह ही मैं भी एक कीट हूँ (बड़ा कीट) जो चारों ओर से मुझे घेरे हुए हैं। पर दुर्भाग्य से उनके 'फ्री वर्ल्ड' में भी मैं 'अनफ़िट' बैठता हूँ और वे सब मुझे अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर मुझ पर अलग-अलग और सम्मिलित रूप से आक्रमण करते रहते हैं। रात-रात-भर उन कीटों द्वारा काटा जाता हुआ और यन्त्रणा से छटपटाता हुआ मैं सोचता कि आज को मनुष्यता कीटों द्वारा पराजित और परास्त है। कमरे के भीतर वास्तविक कीट और कमरे के बाहर मानव-रूपी कीट आज मनुष्यता का रक्त-शोषण करके उसे दीमकों की तरह चाटकर खोखला बनाने पर तुले हैं।"[1]

इन अन्धकार-भरी परिस्थितियों के बीच लेखक की दृष्टि प्रकाश की किरणें भी फूटती हुई देखती है और आशा का स्वर उपन्यास में ऊँचा उठा है—

"फिर भी, उस घुप अँधेरे के बीच में भी कभी-कभी प्रकाश और आशा की किरणें दिखाई देने लगती हैं। ऐसे क्षणों में मुझे यह विश्वास होने लगता है कि सिर्फ मेरे मन के ऊपर से ही नहीं, सारी मानवीय चेतना के ऊपर से एक दिन कुहासा हटेगा और अन्धकार के बादल फटकर रहेंगे। जीवन की सामूहिक व्यवस्था निश्चय ही बदलेगी और मानव-मानव के बीच का व्यवधान हटकर ही रहेगा और तब मेरी जिस रहस्यात्मक चेतना का विकास-पथ रुद्ध हो गया है, वह जहाँ रुकी थी वहाँ से आगे बढ़ेगी। वह मरी नहीं, केवल दब गई है और फिर एक दिन वह भी आएगा, जब सिर्फ मेरी ही नहीं सभी की वैयक्तिक चेतना विकसित होकर सामूहिक चेतना के विकास में सहायक होती हुई उसके साथ मिलकर एक पूर्णतया नई चेतना को जन्म देगी।"[2]

इस उपन्यास में जोशीजी की शैली में प्रसाद, ओज और कवित्व भर गए हैं। उनका गद्य प्रवहमान और सशक्त है। उसकी उपमाएँ आधुनिक वैज्ञानिक जीवन पर आधारित हैं और उसमें कल्पना का गुण भी पर्याप्त है। उनकी गद्य-शैली का एक उदाहरण देखिए—

१. पृ० २५६।
२. पृ० ४४६-७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सूरज पच्छिम में डूबने की तैयारियाँ कर रहा था। पच्छिम में कुछ देर से घिरे हुए गाढ़े काले बादल जलकर एकदम लाल हो गए थे, जैसे कोयलों के आकाशव्यापी गोदाम में आग लग गई हो और सब कोयले सहसा एक-साथ दहक उठे हों। उनकी रक्तिम आभा नदी पर पड़कर तेज़ हवा के कारण सौ-सौ उछलती हुई तरंगों में प्रतिबिम्बित होकर पिघलती हुई आग की तरह दिखाई दे रही थी।"[1]

जोशीजी कला को 'जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ' सम्बद्ध करना चाहते हैं। "आकाशी संस्कृति की हवाई उड़ान और फैशन की अस्थायी रंगीनी से" उसे मुक्त करके "जीवन के समुचित सामूहिक विकास में" वे उसे सहायक बनाना चाहते हैं।[2]

लोक-जीवन से कला का सम्बन्ध जोड़ना जोशीजी अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। वह कहते हैं—"लोकोत्तर आनन्द का सच्चा अधिकारी केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो लोक-जीवन में डूबकर लोक-कल्याण-सम्बन्धी अपने कर्तव्यों का पालन पूर्णतया कर चुका हो। आत्मिक अमृत का सच्चा अधिकारी वही हो सकता है जो सामूहिक भौतिक जीवन पर छाये हुए महामरण, रोग-शोक और दुःख-दारिद्रय के निवारण में युग-चेताओं के हाथ बटा चुका हो। यदि कला को लोक-जीवन से छिन्न करके केवल लोकातीत आनन्द की प्राप्ति का ही साधन माना जाय तो नीरो को सबसे बड़ा कलाकार मानना होगा। जब रोम में आग लगी हुई थी तब वह अपनी ऊँची अटारी से सामूहिक अग्नि-कला का आनन्दप्रद दृश्य देखता हुआ वीणा बजाने में तन्मय था और 'लोकोत्तर आनन्द' की प्राप्ति कर रहा था।"[3]

'जहाज़ का पंछी' उन्नत, विद्रोही कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें भारतीय जीवन की कटु वास्तविकताओं का अंकन है, साथ ही जीवन को दिशा देने का भी उत्कट आग्रह है। यह उचित ही है कि सचेत, सामाजिक भावना से परिपूर्ण यह उपन्यास लेखक ने 'विद्रोही कवि निराला को' भेंट किया है।[4]

रामचन्द्र तिवारी

हिन्दी-साहित्य में राम-कथा का अध्ययन

राम-काव्य की समीक्षा के इतिहास में आलोचना-ग्रन्थों के प्रकाशन से नवीन अध्याय की सृष्टि हुई है। 'राम-कथा' वस्तुतः राम-कथा की उत्पत्ति, विकास और विस्तार-सम्बन्धी सभी सम्भव स्रोतों को संगठित करने का स्तुत्य प्रयत्न है। लेखक ने राम से सम्बन्धित सभी इतिवृत्तों को सन्तुलित एवं क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। विभिन्न राम-कथाओं की परीक्षा के पश्चात् राम-कथा के मूल रूप पर विचार किया है। देशी-विदेशी, प्राचीन-अर्वाचीन साहित्यों में बिखरे

१. पृष्ठ १६४।
२. " ३८३।
३. " ३८४।
४. ले० श्री इलाचन्द्र जोशी; प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई, इलाहाबाद, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए राम-कथा सूत्रों के स्वरूप का उद्घाटन किया है। इन सूत्रों की एकरूपता तथा अनेकरूपता पर विचार करते हुए परिवर्तन के कारणों को लक्ष्य किया है। इस प्रकार इस वैज्ञानिक अध्ययन में विद्वान् लेखक का दृष्टिकोण राम-कथा-सम्बन्धी समस्त सूत्रों के उद्गम, विस्तार और विकास तक सीमित है। इसीलिए लेखक ने पन्द्रहवीं शती के बाद के संस्कृत साहित्य तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के रामकथा-साहित्य के अध्ययन पर अधिक बल नहीं दिया है। लेखक की दृष्टि में यह साहित्य राम-कथा-साहित्य न होकर राम-भक्ति-साहित्य है।

'मानस में राम-कथा' का दृष्टिकोण तुलसीकृत रामचरित-मानस की आध्यात्मिक, व्यावहारिक तथा साहित्यिक महत्ताओं का संक्षिप्त प्रकाशन है। प्रसंगवश प्रारम्भ में राम-कथा के उद्गम और विकास पर भी विचार किया है। कृति से कृतिकार का अभिन्न सम्बन्ध मानकर लेखक ने कवि की उस मानसिक पृष्ठभूमि का भी गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है जिसने राम-भक्ति को वैयक्तिक साधना की संकीर्ण सीमाओं से निकालकर पूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए लेखक रामचरित-मानस की कथा के विकास एवं संगठन पर विहंगम दृष्टि डालता है। विहंगम होते हुए भी यह दृष्टि पर्याप्त सूक्ष्म है। मानस की प्रारम्भिक भूमिका का अपूर्व उठान, कथा-विकास की महत्ता, चरित्र-चित्रण की कला, तथा कथा-सूत्रों की गतिमयता, स्थिरता और विस्तारादि का रहस्य-उद्घाटन लेखक की विहंगम दृष्टि से ही हुआ है। अनेक विधि-निषेधों को लेकर चलने वाली तुलसी-कृत राम-कथा की मानसी-स्थिति पर विचार करते हुए लेखक ने उसके उद्भव, उद्देश्य तथा स्वरूप सभी को मानसिक सिद्ध किया है। यह राम-कथा महेश के मानस में समुद्भूत हुई और जन-मानस को शान्ति देने के लिए मानस के मानसरोवर के समान ही शीतल तथा सुखद सिद्ध हुई। अतएव इसकी संज्ञा 'रामचरितमानस' होनी ही चाहिए। लेखक को मानस के काव्य-सौष्ठव ने कम आकर्षित नहीं किया है। इसीलिए उसने अन्तिम परिच्छेद में काव्य-सौन्दर्य एवं अर्थ-गौरव पर भी महत्त्वपूर्ण विचार प्रगट किए हैं।

'मानस की रामकथा' का लक्ष्य रामकथा के स्वरूप का गम्भीर, व्यापक एवं विशद अध्ययन प्रस्तुत करना है। इसलिए लेखक ने मानस की रामकथा को लक्ष्य में रखकर रामकथा के समग्र स्वरूपों को पृष्ठभूमि में उपस्थित किया है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में ग्रन्थकार का संक्षिप्त किन्तु पूर्ण जीवन-वृत तथा कृतियों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में रामचरितमानस की कथा का विविध दृष्टियों से अध्ययन किया गया है। लेखक ने मानस के रूपक की व्याख्या की है, उसके प्रबन्ध-सौष्ठव पर विचार किया है, उसे केवल महाकाव्य के रूप में ही नहीं, भक्ति-काव्य के रूप में भी देखने का सतर्क आग्रह किया है तथा उसमें समन्वित सांस्कृतिक आदर्शों का विस्तृत उल्लेख किया है। मानस की शैली पर विचार करते समय संवाद-शैली के स्वरूप निर्वाह, कौशल, महत्ता तथा गाम्भीर्य की ओर भी संकेत किया गया है। राम-कथा के अतिरिक्त मानस की कथा में तीन अन्य कथारूपों का समावेश है। लेखक ने इन्हें चरित-कथा, हेतु-कथा और अन्तरकथा के रूप में उपस्थित किया है। अध्याय समाप्त करते हुए लेखक हमारा ध्यान 'मानस' के दार्शनिक महत्त्व की ओर भी आकर्षित करना नहीं भूलता।

तीसरे अध्याय में रामकथा के विविध रूपों, रामकथा की उत्पत्ति और विकास तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामकथा की व्यापकता पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। मानस की रामकथा के स्वरूप को पूर्णतया समझने के लिए यह अध्ययन आवश्यक था। इस अध्याय को पूर्ण बनाने में फादर बुल्के की रामकथा से पर्याप्त सहायता ली गई है। इस प्रसंग में लेखक ने फ़ारसी और अरबी रामकथाओं की चर्चा भी की है। बुल्के महोदय ने इस सूत्र की ओर ध्यान नहीं दिया है। कथा-सूत्र के विकास की दृष्टि से इनकी महत्ता न होने के कारण ही उनका ध्यान इस ओर नहीं गया, क्योंकि फारसी और अरबी की रामकथाएँ प्रायः संस्कृत-ग्रन्थों से अनूदित हैं।

चौथे अध्याय में लेखक ने 'वाल्मीकि-रामायण', 'अध्यात्म-रामायण', 'प्रसन्नराघव', 'महावीर-चरित' और 'हनुमन्नाटक', 'श्रीमद्भागवत', 'पउम चरिउ' आदि अनेक प्रमुख राम-काव्यों के साथ मानस के कथा-स्वरूप की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। साथ ही मानस के समसामयिक अन्य राम-काव्यों—'रामचन्द्रिका' तथा 'राम लिंगामृत'—के कथा-रूपों की तुलना भी मानस के साथ की है। अन्त में तुलसी की अन्य रचनाओं को भी मानस के साथ रखकर देखा है। वस्तुतः यह तुलनात्मक अध्ययन चतुर्वेदी जी के विस्तृत एवं गम्भीर अनुशीलन का प्रतिफल है।

उपसंहार में पूर्व-विवेचित समस्त सामग्री की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

द्वितीय खण्ड में रामचरितमानस का मूलपाठ, जिसका सीधा सम्बन्ध राम-कथा से है, जोड़ दिया गया है। इस मूलपाठ के सम्पादन में लेखक ने 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' (संवत् २००५) तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'रामचरितमानस' (सं०२००६) का आधार लिया है। अन्त में शब्दकोश तथा संक्षिप्त कथा-प्रसंग देकर ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ा दी गई है।

इस प्रकार पिछले तीन वर्षों के भीतर प्रकाशित होने वाले ये ग्रन्थ निश्चय ही राम-साहित्य के अध्ययन को बहुत आगे खींच लाते हैं। राम-कथा से सम्बन्धित सूत्रों का विश्वकोष बुल्के महोदय की कृति 'राम-कथा' है। निश्चय ही समस्त हिन्दी वाङ्मय में यह अपने ढंग का अकेला अध्ययन है। राम-कथा की मानसी-स्थिति की संगतिपूर्ण व्याख्या करते हुए 'मानस में रामकथा' के विद्वान लेखक ने भी रामचरितमानस के आध्यात्मिक अध्ययन को एक नई दिशा दी है। प्रत्येक सोपान में निरूपित कथा के आधार पर समानान्तर आध्यात्मिक संकेतों का निर्देश है। चतुर्वेदी जी के अध्ययन में गति, गहनता, गम्भीरता और विस्तार है। 'कृति' को उसकी विस्तृत ऐतिहासिक पीठिका में रखकर देखने का आपका प्रयत्न स्तुत्य है। वस्तुतः यदि चतुर्वेदी जी को हिन्दी-साहित्य में विशुद्ध ऐतिहासिक समीक्षा का जन्मदाता मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'कृति' को कृतिकार की दृष्टि से परखने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित है। उसके स्वरूप को समझने के लिए उसी कोटि की अन्य कृतियों से तुलना अनिवार्य है तथा उसकी गहराई को हृदयंगम करने के लिए उससे सम्बन्धित विषय-तत्त्वों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। 'मानस की रामकथा' में ये तीनों विशेषताएँ समन्वित हैं। द्वितीय अध्याय में 'मानस' के विषय-तत्त्व का गम्भीर विश्लेषण है। तृतीय अध्याय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा परम्परा उपस्थित करता है और चतुर्थ अध्याय तुलनात्मक समीक्षा। अतएव मानस की रामकथा के स्वरूप का यह प्रथम पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन है।

रामभक्ति का विकास, उसकी मध्ययुगीन स्थिति, अन्य भक्तिस्रोतों से उसकी समता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषमता तथा युगानुकूल उसके स्वरूप-परिवर्तन की ऐतिहासिक व्याख्या अभी प्रस्तुत नहीं हो सकी है। देखना है, राम-साहित्य के उपर्युक्त सुकृतियों में अपनी साधना का श्रम-परिहार करने के लिए कौन राम-भक्ति-सरिता में स्नान करने के लिए आगे बढ़ता है।[1]

●

रामलालसिंह

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा

भारतीय काव्य-शास्त्र की मुख्यतः छः परम्पराएँ हैं—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य की। विभिन्न आचार्यों के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रायः इन्हीं के अनुसार निर्मित हुए। सामग्री के औचित्यपूर्ण विधान तथा योजना की दृष्टि से यही उचित था कि हिन्दी के विभिन्न आचार्यों की समीक्षा-सामग्री भी उपर्युक्त काव्य-परम्पराओं की दृष्टि से नियोजित की जाती। उदाहरणार्थ यदि शुक्लजी की सामग्री रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य मतों के क्रम से नियोजित करके अन्त में काव्य-स्वरूप-सम्बन्धी सामग्री दी जाती तो सामग्री के नियोजन तथा सम्पादन में अधिक औचित्य आ जाता।

सम्पादक का कहना है कि भारत से लेकर वर्तमान हिन्दी-आलोचकों तक के सैद्धान्तिक वक्तव्यों का संचयन इस पुस्तक में है। संस्कृत ही नहीं, वरन् हिन्दी के भी कई प्रसिद्ध समीक्षक उपेक्षित हो गए हैं। जयदेव के 'चन्द्रालोक', अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' तथा भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' एवं 'रस मंजरी', मुकुलभट्ट के 'अभिधावाद' का हिन्दी-समीक्षकों पर बहुत प्रभाव पड़ा! अतः इन आलोचकों की उपेक्षा उचित नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार रीतिकाल में पद्माकर, रामसिंह तथा सूरति मिश्र की भी उपेक्षा हो गई है। इन आचार्यों ने रीतिकाल में होते हुए भी अपने-अपने ग्रन्थों में स्वगृहीत परम्पराओं के विषय में कुछ मौलिक बातें कही हैं, जैसे रामसिंह के 'रस निवास' में मनोविकार तथा भाव का अन्तर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में हास्य-रस के विभिन्न भेद, माया रस की कल्पना, रससिद्धान्त के आधार पर काव्य का वर्गीकरण नवीन रंग का मिलता है। इसी प्रकार आधुनिक युग में लाला भगवान-दीन अलंकार-परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य माने जाते हैं। इस संकलन में उनका अभाव खटकता है।

सम्पादक के निवेदन के अनुसार इस पुस्तक का उद्देश्य है भारतीय काव्य-शास्त्र की समृद्ध परम्परा का क्रमबद्ध निरूपण। किन्तु पुस्तक में यह कहीं नहीं बताया गया है कि भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा क्यों समृद्ध मानी जाती है? इसकी समृद्धि के कौन-कौनसे कारण हैं?

---

१. राम-कथा : उद्गम और विकास; ले० डॉ० कामिल बुल्के; प्र० हिन्दी-परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय। मानस में राम-कथा; ले० डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र; प्र० वंगीय परिषद्, कलकत्ता। मानस की राम-कथा; ले० परशुराम चतुर्वेदी; प्र० किताब महल, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी-काव्य-जिज्ञासुओं के लिए किया गया है, अतः संस्कृत आचार्यों के वक्तव्यों का हिन्दी-अनुवाद पहले और मूल बाद में दिया गया है। इस ग्रन्थ में जो संस्कृत आचार्य संकलित किये गए हैं उनमें से कई आचार्यों की कुछ प्रमुख बातें छूट गई हैं, जैसे वामन में गुण-विवेचन का अंश छूट गया है। वामन रीति-परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य हैं। गुण उनकी दृष्टि में रीति के आत्म-तत्त्व हैं। अतः वामन का गुण-सम्बन्धी वक्तव्य उपेक्षित नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार आनन्दवर्धन का काव्य-पुरुष का रूपक उपेक्षित होने योग्य नहीं है। कुनाक का गुण तथा रीति-सम्बन्धी वक्तव्य मौलिक ढंग का है। संकलन में इसका अभाव भी खटकता है।

इस पुस्तक से हिन्दी-काव्य-जिज्ञासु संस्कृत समीक्षा की विभिन्न परम्पराओं, रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य के अनुसार काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों की क्रमागत परिभाषाओं, उनके विविध भेदों, काव्यहेतुओं, प्रयोजनों, काव्य-लक्षणों आदि की सामग्री का परिचय एक स्थान पर सर्वाधिक मात्रा में पा सकता है; किन्तु आधुनिक हिन्दी-काव्य में उनकी क्या आवश्यकता है, उनसे हमारे रचनात्मक साहित्य को कितनी स्फूर्ति तथा व्यापकता मिल सकती है, उनसे हिन्दी-समीक्षा का नवनिर्माण कार्य कितनी दूर तक हो सकता है, साम्प्रत जीवन के मूल्यों के प्रत्यभिज्ञान में उनसे कितना योगदान मिल सकता है, आदि बातों का ज्ञान नहीं होता।

परम्परा के परिचय का अर्थ अतीत का अन्धानुकरण नहीं, वर्तमान को अतीत के मानदण्ड से नापना नहीं, और न अतीत को वर्तमान द्वारा आँकना है, वरन् अतीत के विकसित रूप को जानना है, वर्तमान में उसके स्थान एवं मूल्य को निरूपित करना है जिससे नूतन रचनाओं एवं नवीन जीवन-मूल्यों का अतीत की प्रवहमान परम्परा के साथ एक तारतम्य स्थापित हो सके, एकसूत्रता निरूपित हो सके। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक हमारी परम्पराएँ प्राणवान बन नहीं सकतीं। आज भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्पराओं को प्राणवान बनाने की आवश्यकता है। यह आवश्यकता गतानुगतिकता से सम्पादित नहीं हो सकती। उसमें से नये युग की सार्थकता के स्पन्दन को ढूँढ़ निकालने में जब हम समर्थ होंगे तब हम उन्हें प्राणवान सिद्ध कर सकेंगे। आशा है डॉ० नगेन्द्र जैसे सुयोग्य आलोचकों का दूसरा चरण भारतीय समीक्षा की परम्पराओं को प्राणवान सिद्ध करने की ओर उठेगा।

इस ग्रन्थ में कतिपय छापे की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं, जैसे क्रमणिका में सम्बन्ध-निर्वाह, चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति, काव्य में कल्पना आदि पदावलियाँ दो बार आ गई हैं जिनकी एक ही बार आवश्यकता थी। शुक्लजी की निधन तिथि पृष्ठ ६३४ पर सन् १९४० दी हुई है जो अशुद्ध है, क्योंकि उनकी निधन तिथि १९४१ है। भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में निश्चय ही भारतवर्ष की अनेक सहस्र शताब्दियों की संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन का इतिहास निहित है; अतएव इसकी सामग्री-संचयन का कार्य बहुत ही अध्यवसाय, धैर्य एवं क्षमता की आवश्यकता रखता है। इस गुरुतर कार्य के सम्पादन का जो प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है इसके लिए इस ग्रन्थ के सम्पादक तथा इसके विभिन्न अंशों के अनुवादक एवं नियोजक हमारे साधुवाद के पात्र हैं।[1]

1. ले० डॉ० नगेन्द्र, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामरतन भटनागर

आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान

बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोविश्लेषण-शास्त्र का विकास है। इस नये शास्त्र की उपपत्तियों ने मानव-जीवन-सम्बन्धी हमारी उस उदात्त धारणा को चुनौती दी है जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्राणी-शास्त्र और भौतिक विज्ञान की शोधों में जन्म लेती है और जो मनुष्य को जीवन-विकास के मूर्धन्य पर स्थापित करती है। उसने अवचेतन के गुहागर्त में छिपे हुए मानव के उस पशुत्व पर प्रकाश डाला है, जो समाज-संस्कृति द्वारा दुर्दमनीय वासनाओं के दमन में हंबारव भरता हुआ जीता है और ज़रा-सी भी असावधानी पाकर हमारे नैतिक निरोधों को चकनाचूर कर डालता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नये शास्त्र ने मानव-जीवन की सीमाओं को विस्तृति दी है और मनोविज्ञान को अन्तःस्थ जीवन का पर्याय बना दिया है। आधुनिक साहित्य में मनोविश्लेषण-शास्त्र का सबसे अधिक प्रसाद कथा-साहित्य को मिला है। एक तरह से मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप में उपन्यास की एक नई ही कोटि बीसवीं शताब्दी में जन्म लेती है और उपन्यास में गृहीत जीवन का रूप ही नहीं, औपन्यासिक कथा-शिल्प भी बदल जाता है।

कथा-साहित्य का उपजीव्य मानव-जीवन है। जहाँ मानवेतर जीवन को कथा का रूप दिया गया है, वहाँ उस पर मानव-जीवन की द्विधाओं, असंगतियों, भावनाओं और प्रक्रियाओं का ही आरोप है। मानव-सभ्यता के विकास के आरम्भिक युगों में नाटक और महाकाव्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए चुने गए और उनमें पात्रों के बहिर्द्वन्द्वों, कार्य-कलापों एवं नैतिक असंगतियों को अभिव्यक्ति का विषय बनाया गया। यह नहीं कि मनुष्य का आन्तरिक जीवन उनमें है ही नहीं, परन्तु वह अपनी सीमाओं के साथ है। ग्रीक-नाटकों की अनेक मनो-ग्रन्थियों का उद्घाटन फ्रायड ने किया है और उसके आधार पर अपने मनोविश्लेशण-शास्त्र को पुष्टि दी है। परन्तु आभ्यन्तर जीवन का सच्चा स्वरूप हमें कथा-साहित्य में ही मिलता है। सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अथवा फील्डिंग से लेकर दस्तोएवस्की तक कथा-साहित्य की प्रगति उपन्यास के आभ्यन्तर प्रयाण की कथा है, परन्तु प्रारम्भ से ही उपन्यास में मनोमयता की प्रधानता रही है। महान् कथाकारों ने अपनी विचक्षण अन्तर्दृष्टि के सहारे जीवन के सूक्ष्म और दुर्ग्राह्य उतार-चढ़ाव रखे हैं और चेतना-प्रवाह की अतल गहराइयों का स्पर्श किया है। उन्होंने सम्पूर्ण अविभक्त और अखण्ड जीवन को वाणी दी है। अन्तरंग जीवन को उन्होंने बहिरंगी क्रियाकलापों की भूमिका पर से देखा है। वास्तव में तुर्गनेव (१८१८-१८८३), दस्तोएवस्की (१८२१-१८८१), टालस्टॉय (१८२८-१९१०), प्रॉउस्त (रचनाकाल १९१३-१९२६), जॉर्ज शैण्ड, स्टेण्ड्हल (रचनाकाल, १८३०-१८३९) और हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) के उपन्यासों में अज्ञात रूप में मनोवैज्ञानिक स्थितियों एवं तथ्यों की जैसी अन्तर्दृष्टिपूर्ण योजना है, वैसी नवीनतम कथाकारों की कृतियों में नहीं मिलती, यद्यपि उनके पीछे कई दशकों की मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों और वृत्तेतिहासों की शृङ्खला है। गत्यात्मक जीवन के चेतनामूलक प्रवाह को इन कथाकारों ने अत्यन्त निकट से और बारीकी से देखा है। इसीसे हम उन्हें अलौकिक दृष्टि-सम्पन्न कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु १८६५ में फ्राइड द्वारा जिस नवीन प्रयोगात्मक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की नींव पड़ी, वह शीघ्र ही मनोविदों की गोष्ठी से बाहर निकलकर कथाकारों की प्रेरणा बन गया और १९२० के बाद के कथा-साहित्य को इन नई उपपत्तियों ने सज्ञान रूप से प्रभावित किया। पहले जहाँ मनोविज्ञान उपन्यासकार का साधन था, वहाँ अब वह साध्य बनता जा रहा है। उपन्यास आन्तरिक जीवन में सिमट गया है और वह आज अन्तर्जगत् के पूर्वापर-विच्छिन्न, अवचेतनमूलक, अहंजन्य विस्फोट का लीला-भवन बन गया है। प्रस्तुत आलोच्य-ग्रन्थ डॉ० देवराज उपाध्याय के 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' में पिछले २५ वर्षों के हिन्दी कथा-साहित्य को मनोविश्लेषण के चार-पाँच प्रमुख 'स्कूलों' की उपपत्तियों द्वारा परखा गया है। ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत पी-एच० डी० प्रबन्ध के रूप में प्रकाशित है। आरम्भिक अध्यायों में शोधकर्त्ता ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के विभिन्न पुरस्कर्त्ताओं, विशेषतः फ्राइड-एडलर-युंग की मान्यताओं पर प्रकाश डाला है और गेल्टाल्टवाद जैसी उप-शाखाओं की भी चर्चा की है। इसी भूमिका पर अगले अध्यायों में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल और कतिपय अन्य कथाकारों के कला-यत्नों की परीक्षा की गई है। प्रेमचन्द के साहित्य पर मनोविज्ञान की प्रत्यक्ष छाप नहीं है, परन्तु कला-विकास के साथ उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतर होती गई है और उन्होंने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की प्रक्रियाओं को विचारक की सूक्ष्मता और कलाकार की सहृदयता से पकड़ा है। वास्तव में प्रेमचन्द उन्नीसवीं शती के महान् कलाकारों के साथ हैं और उनके साहित्य में मनोविज्ञान साधन है, साध्य नहीं। मनुष्य के आन्तरिक जीवन में उन्होंने सैर की है, उसमें कुत्सा और निरोध देखे हैं, परन्तु उनकी कला में खण्ड मानव नहीं, सम्पूर्ण अन्तर्योजित मानव ही उभरा है। मनोविश्लेषण का आग्रह (या दुराग्रह ?) जैनेन्द्र के पदार्पण से शुरू होता है और 'परख' में उसकी पहली मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना है। स्वयं प्रेमचन्द ने 'परख' की शैली की प्रशंसा की थी, यद्यपि वे उसके अति-आदर्शवादी अन्त से सहमत नहीं थे। जो हो, यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की उपपत्तियों का सोद्देश्य उपयोग जैनेन्द्र से आरम्भ होता है और अज्ञेय तथा इलाचन्द्र में उसका संभार इतना बढ़ जाता है कि कथा-प्रवाह एवं चरित्र-विकास में बाधा पहुँचती है।

डॉ० देवराज उपाध्याय की यह शोध हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का नवीनतम अध्याय लेकर चलती है और यद्यपि कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक आरोपों एवं मनोविश्लेषणीय तथ्यों में पूर्व-ग्रह दिखलाई पड़ता है, तथापि यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी सीमाओं को स्वीकार करते हुए ही लेखनी चलाई है और उपन्यास की नई प्रगति को परखने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि देकर उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। ज्ञात रूप से मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण का जहाँ संकेत मिला है, वहाँ वृत्तेतिहासों से तादात्म्य दिखाकर अथवा जाने-माने सिद्धान्तों की ओर इंगित कर उन्होंने नई औपन्यासिक कला की मनोमयता और विज्ञान-बद्धता की सूचना दी है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे खोज की नई दिशाएँ उद्घटित हुई हैं और साथ ही आधुनिक उपन्यास-कारों की सीमाएँ भी सामने आई हैं। वे सम्पूर्ण मानव को न लेकर खण्ड मानसिक जीवन को लेकर चलते हैं और उनके हाथ में उपन्यास अपनी 'महाकाव्यता' खोकर गीतात्मक, रहस्यमय और भावाकुल बन गया है। स्पष्ट ही इससे हानि हुई है क्योंकि जीवन की अखण्डता, विशदता और ऊर्ध्वमूलकता की ओर से हमारी दृष्टि हट गई है और हम खण्डित, क्षुद्र और निम्नग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षणों के रहस्यमय आन्दोलनों के इतिहासकार बनकर रह गए हैं। कहा जाता है कि इससे उपन्यास की रसमूलकता और चरित्रनिष्ठा नष्ट हुई है तो उसे नई संवेद्यता, नई आन्तरिकता और नई सांकेतिकता भी प्राप्त हुई है। परन्तु उस संवेद्यता का क्या मूल्य होगा जो हमें जीवन के प्रति संशयालु, विद्रोही और अनास्थापूर्ण बनाएगी और उस आन्तरिकता से हम क्या सिद्ध कर सकेंगे जो अतर्क्य एवं असंगति पर आधारित होगी ? जो हो, स्पष्ट ही परिस्थिति विषम है और इसी विषमता को दृष्टि में रखकर कदाचित् पश्चिम में उपन्यास की मृत्यु की बात चली है।

यूरोप में अनास्था का युग पहले महायुद्ध के बाद आरम्भ हुआ जिसमें पुरातन सभी मूल्य असिद्ध हो उठे थे। नई पीढ़ी को नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में अराजकता का अनुभव हुआ परन्तु न तो उसमें नये मूल्यों के निर्माण की शक्ति थी, न तत्सम्बन्धी धारणा के विकास की। फलस्वरूप सर्जनात्मक चिन्तन और सक्रियता का लोप हो गया। ऐसे समय में फ्राइड-एडलर-युङ्ग के आविष्कार तन्त्र बन गए और मानव-जीवन को 'केस-हिस्टरी' कोष में ढूँढ़ा जाने लगा। रुग्ण और विकृत मनस् मानदण्ड बन गया, क्योंकि मनोविश्लेषण की नई खोजों का वही आधार था। प्रतीक, स्वप्न, हिस्टीरिया, अन्तर्स्वगत, चेतना-प्रवाह, 'फ्लैश-बेक' आदि अभिव्यञ्जना-शैलियों को प्रधानता मिली और दुर्बल व्यक्तित्व, क्षयग्रस्त, स्वयं-पीड़ित, परास्त मानव के रूप में एक नया नायक उपन्यास को मिला। कथा-साहित्य हेमलेटों से भर गया और एक प्रकार से अस्पताल ही मानव-जीवन का प्रतिनिधि हो गया। फलस्वरूप जीवन के प्रति हमारी आस्था डिगी और हम स्वयं अपने कला के शीश-महल में बन्दी हो गए। यौन-विकृतियों, रुग्ण मनःस्थितियों और अतिभावुक क्षणों पर किसी स्वस्थ जीवन-दर्शन का निर्माण असम्भव है। रोगी-मानस में पुनर्स्मरण-प्रक्रिया द्वारा अवचेतन के उभारने का तन्त्र अस्थायी और असाधारण है और रोगी के स्वस्थ होते ही वह समाप्त हो जाता है। परन्तु उपन्यासकारों ने रोग को ही उपचार मान लिया और नैतिक निरोधों एवं चेतन मन की सुबद्ध धारणाओं और मूल्यगत भावनाओं को एकदम अस्वीकार कर दिया। चेतना-प्रवाह पद्धति में चेतन मन की क्रियाओं और हृदय की सुबद्ध संवेदनाओं का उपयोग नहीं किया जाता और इसका फल यह हुआ है कि रूढ़ प्रतीकों और जड़ जीवनादर्श के स्थान पर हम एक दूसरे प्रकार की और भी जटिल रूढ़िबद्धता के शिकार हुए हैं। चेतन-अचेतन, अन्तर्बहिः, चिन्तन-कर्म के द्वन्द्वों का समाहार आधुनिक कथा-साहित्य नहीं कर सका तो उपन्यास की बोधगम्यता और प्रतीकात्मकता शीघ्र ही नष्ट हो जायगी और वह प्रलाप-मात्र रह जायगा। इस संदर्भ में डॉक्टर उपाध्याय का यह शोध-ग्रन्थ प्रयोक्ता कथाकारों और सुधी पाठकों के लिए चेतावनी भी है।

यह स्मरण रखना होगा कि जीवन का महदंश मनोविश्लेषण-शास्त्रों और मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों से बाहर है और उसे किसी भी प्रकार 'वादों' में नहीं बाँटा जा सकेगा। साहित्य में जीवन की आन्तरिकता और विशृङ्खलता भी है, परन्तु न तो आन्तरिकता कार्य-व्यापार की विरोधिनी है, न विशृङ्खलता अराजकता का दूसरा नाम है। कलागत सौष्ठव और बोधमयी सुचारुता के अभाव में आज का उपन्यास ऐसा तिलिस्म बना जा रहा है जिसकी कुञ्जी मनोवैज्ञानिकों के हाथ में है, साहित्यिकों के हाथ में नहीं और जो महान् को क्षुद्र बनाकर ही अपनी सार्थकता प्रकट कर सकता है। निश्चय ही यह परिणति चिन्त्य है। मनोविश्लेषण जहाँ उपन्यासकारों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्दृष्टि को पैनी और सूक्ष्म बनाता है, अन्तर्जगत् की भूलभुलैयों में उतरने के लिए धारणा-सूत्र देता है, अथवा जीवन की असंगतियों को संस्कारजन्य बनाकर मनःस्वास्थ्य के लौटाने में सहायक होता है, वहाँ तक उसकी उपादेयता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। वह उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि का स्थान नहीं ले सकता। मनोविश्लेषण मनुष्य के मन को खण्ड-खण्ड कर उसकी परीक्षा करता है, परन्तु इन असम्बन्धित, अनगढ़ मानस्-खण्डों को अन्तर्योजित कर चेतना-प्रवाह की चरित्रमूलक अभिव्यञ्जना उपन्यासकार का काम है। एफ़० एल० लुकास ने अपने ग्रन्थ 'लिटरेचर एण्ड साइकालोजी' में शेक्सपिअर के प्रमुख नाटकों का विश्लेषण करते हुए जो 'केस' (वृत्त) दिए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ महान् कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा त्रासकीय वैभव की सृष्टि करता है, वहाँ मनोविद् के पल्ले वास्तविक जीवन की अनगढ़ ट्रेजी-कॉमेडी ही पड़ती है। यह अवश्य है कि मनोशास्त्र के अध्ययन से जीवन के प्रति हमारे अभिजात निरोध नष्ट हो जाते हैं और अन्तर्मन के क्षुद्रतम, कुत्सापूर्ण, असन्तुलित स्पन्दन सत्य के अविभाज्य पहलू बन जाते हैं। परन्तु इस नये मनोज्ञान को हमें प्रत्यक्ष जीवनानुभूति से पुष्ट करना होगा और उसकी अभिव्यक्ति-कला औपन्यासिक परम्परा से सीखनी होगी। आज के अतिवादीय दृष्टिकोण से आगे बढ़कर जब हम मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण को चेतन मन की समष्टि से सम्बन्धित कर सकेंगे, तभी नई, स्वस्थ और प्रगतिशील औपन्यासिक कला की सृष्टि होगी। उस समय हम पीछे मुड़कर अपने ३०-५० के कथा-साहित्य में वे अनुकरण, आरोप और असंगतियाँ भी देख सकेंगे जिनका आलोच्य ग्रन्थ में संकेत-मात्र है।

अन्त में एक बात ग्रन्थकार की शैली के सम्बन्ध में भी कहनी है। वैज्ञानिक शोध में तर्क-संगति और विषय-निर्वाह का तरतम विकास वांछित है, परन्तु स्थान-स्थान पर ग्रन्थकार विषय से हटकर काव्य-शास्त्र, दर्शन, नीति आदि प्रसंगेतर विषयों को उठा लेता है। इससे जहाँ रोचकता बढ़ी है, वहाँ विवेच्य में हलकापन भी आ गया है। कथाकारों के मनोविज्ञान को विषयान्तर मानकर लेखक ने उसे ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया है। इससे इस बात का पता नहीं लगता कि नई प्रवृत्तियों के ग्रहण के मूल में कथाकार की सूझ-बूझ ही है अथवा कोई अन्तःप्रवृत्ति। परन्तु सम्भवतः यह विषय ही गहन और विवादग्रस्त था। यह निश्चय है कि प्रतिपाद्य विषय और विवेचन की सीमाओं में बँधकर भी यह ग्रन्थ नवीन दृष्टि की सूचना देता है और आधुनिक हिन्दी-साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन करता है। शोधकर्ता इस ग्रन्थ के लिए बधाई का पात्र है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नये उपन्यास में उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि का स्थान मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र ने ले लिया है और कहीं प्रक्षेप से, जैसे जैनेन्द्र में, कहीं बलपूर्वक, जैसे अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी में, मनोविश्लेषणीय सिद्धान्तों एवं परिस्थितियों का आरोप है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र में जो अस्पष्ट, रहस्यप्राण और बुद्बुद् के रूप में है, जो धर्म-चिन्तन और गांधीवाद के मिश्रण से जटिल हो गया है, वह अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की रचनाओं में दिन की भाँति स्पष्ट है। परन्तु इलाचन्द्र जोशी का साहित्य नये ज्ञान को औपन्यासिक कला से मण्डित नहीं कर सका है। वह उनके शास्त्रीय अध्ययन से बोझिल है। मनोविज्ञान का सबसे सुन्दर उपयोग अज्ञेय के 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' उपन्यासों में मिलता है। यद्यपि अन्य कलाकारों में भी सुन्दर प्रकीर्णक मिल सकेंगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु इन दो रचनाओं में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण जीवन की विराट् भूमि और अन्तर्मन की सूक्ष्मतम संवेदनाओं को लेकर सार्थक हो उठा है। इन दो रचनाओं को हम पश्चिमी साहित्य के समकक्ष उपस्थित कर सकते हैं। ग्रन्थ में अनेक अन्य रचनाओं के साथ इन दोनों ग्रन्थों का भी सुविस्तृत विवरण है। ग्रन्थकार बराबर पीछे मुड़-मुड़कर प्रेमचन्द और प्रसाद के साहित्य की ओर देखता है और इससे नई गतिविधियों को ऐतिहासिक परिपार्श्व मिल जाता है। कहीं-कहीं आरोप स्पष्ट है, जैसे 'दादा कामरेड', 'दिव्या' और 'चढ़ती धूप' में 'वार मदर्स' के मनोविज्ञान का आरोप। परन्तु इन उपन्यासों पर शोलोखव आदि जिन रूसी उपन्यासकारों की छाप है उनमें इस प्रकार की जीवन-स्थितियाँ उभरी हैं और इन ग्रन्थों पर रूसी साहित्य के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा। इनके लिए हमारे उपन्यासकार मनोविदों के उतने आभारी नहीं हैं जितने महान् साहित्यकारों के। परन्तु कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों की स्थापना के उत्साह में इस प्रकार के आरोपों से बचना कुछ कठिन भी था, फिर भी ऐसी असंगतियाँ कम हैं और विचारणीय स्थलों के रहते हुए भी डॉ० देवराज उपाध्याय का यह खोज-ग्रन्थ आधुनिक समीक्षा में एक नया अध्याय जोड़ता है।[1]

कमलाकान्त पाठक

पर आँखें नहीं भरीं

नई कविता के सुधी और सधे कवियों में डॉक्टर शिवमंगल सिंह 'सुमन' का स्थान निश्चित-प्राय है। वे यौवन की ऊष्मा के कवि बनकर हिन्दी में आए। उन्होंने प्रेम-गीतों का ही स्वर-सन्धान नहीं किया, वरन् जागृति और प्रगति का ताना-बाना भी रचा। कुछ समय के लिए वे अञ्चलजी की भाँति प्रगतिवादी कवि भी रहे। उन पर कदाचित् भारतीय परम्परा का ऐसा आधिपत्य था कि वे पूर्णतः सामाजिक यथार्थवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकवादी कवि न हो सके। निश्चय ही वे समाजवादी प्रभावों के कारण अपने कवि के युग-द्रष्टारूप को परिष्कृति दे सके हैं, पर उन्हें उद्बोधक भी बनना पड़ा है। उन्होंने जीवन के सम्बन्ध में अपना विचार, मन्तव्य अथवा दर्शन प्रकट किया है और मैं कहूँगा कि वह राष्ट्रीय चेतना तथा सांस्कृतिक परम्परा का उत्तराधिकार है, विदेशी अथवा विजातीय वस्तु नहीं। सुमनजी को वर्तमान युग, उसकी परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ उद्बुद्ध करती रही हैं और इसी कारण उनका काव्य कभी असामाजिक नहीं हुआ। उनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी है।

सुमनजी अकुण्ठित व्यक्तिवादी कवि हैं, अतएव वे अपने सामाजिक परिवेश के प्रति अनुत्तरदायी नहीं हैं। उन्होंने 'पर आँखें नहीं भरीं' में अहम् अथवा वैयक्तिक सुख-दुःख का प्रकटीकरण ही नहीं किया। वे व्यक्ति के प्यार को जीवन का विस्तार देते हैं, जीवन की आशा को आदर्शों

१. ले०, डॉ० देवराज उपाध्याय; प्रकाशक, साहित्य-भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विश्वास से साधते हैं तथा गति के उत्साह का स्नेह-सम्बल से शृंगार करते हैं। उनका प्रेम प्रौढ़ हो चला है और जीवन-लालसा उसी अनुपात में बढ़ गई है। वे विशुद्ध रूप से प्रगति अथवा प्रयोग की भूमिका में नहीं हैं। सार्थकता अथवा मूल्य की अड़चनें भी उन्हें नहीं व्यापीं। यथार्थवादियों की उपदेशात्मकता, अन्तश्चेतनावादियों की प्रतीक-पद्धति तथा जनवादियों की आञ्चलिक या ग्राम्यशैली उन्हें छू-भर गई है। कहीं-कहीं तालियों की चिन्ता भी कविताओं के गठन और वचन-भंगिमाओं के चयन में झलक उठती है, क्योंकि **'युग की कसौटी पर चढ़ी है आज मेरी साधना'**। अकुण्ठित व्यक्तिवादी का आत्म-परिचय यह है—

मैं अमर-पथिक, परिवर्तन का विश्वासी,
जीवन मेरा अधिकार, अमरता दासी।

'पर आँखें नहीं भरीं' मुख्यतः गीति-संग्रह है। सभी रचनाएँ आत्माभिव्यंजक नहीं हैं, पर सर्वत्र कवि का जीवन-दर्शन सुस्पष्ट है। आग्रह, निवेदन और उपदेश के साथ-साथ विषय-वस्तु और विवरण भी गीति-काव्य के उपादान बनाये गए हैं। गीतिकार ने प्रेम और जीवन के रहस्य तथा सौन्दर्य को कला-सौन्दर्य का मूल तत्त्व समझा है। उसकी काव्यानुभूति जीवन के सत्य का उद्घाटन करने में सचेष्ट रही है। उसने प्रवृत्ति के सौन्दर्य-चित्र अंकित किए हैं तथा राष्ट्रपिता को भी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की हैं। उसकी वाणी में असंयम और अस्पष्टता, संस्कारहीन रसज्ञता और सामाजिक कुत्सा तथा सौन्दर्यापकर्ष और विशेषज्ञता नहीं आने पाई है। पाण्डित्य का अनावश्यक बोझ उनके काव्य पर नहीं है। मेरा मन्तव्य यह नहीं है कि सुमनजी का गीति-सौष्ठव अप्रतिम है। उनमें सौन्दर्य-संवेदन, शब्द-संगीत, अर्थ-ध्वनि, चित्रात्मकता, उदात्त कल्पना अथवा प्रगल्भ भावुकता-सम्बन्धी अनेक अभाव भी हैं। मेरा अभिप्राय यह है कि नई गीति-रचना के क्षेत्र में उनका कार्य अ-गौरवपूर्ण नहीं है।

प्रस्तुत गीति-संग्रह में चवालीस रचनाएँ हैं। छः रचनाएँ ऐसी हैं, जिन्हें कवि ने नाम दिया है—'पर आँखें भरीं-भरीं'। आँखें भर आना मुहावरा आँखों के अश्रुपूर्ण होने का अर्थ-द्योतक है। गांधीजी के सम्बन्ध में कवि की रचनाएँ शोक-व्यञ्जक होने के कारण आँसू-भरी आँखों के अनुभाव को सार्थकता प्रदान करती हैं। 'पर आँखें नहीं भरीं' शीर्षक के अन्तर्गत अड़तीस रचनाएँ हैं और यह वाक्यांश नितान्त भिन्न भाव का बोध कराता है। यहाँ 'आँखें नहीं भरीं' से आँख-भर न देख पाने का अर्थ ग्रहण किया गया है। इस प्रकार कवि ने प्रचलित मुहावरे को नई अर्थ-दीप्ति दी है। आँखें आँसू-भरी नहीं हैं, यह कहना गलत है। यहाँ कवि अतृप्ति को लक्षित कर रहा है। यह अतृप्ति क्या है? यह अञ्चलजी की आकुल तृष्णा और गरजती अतृप्ति नहीं है। यह बच्चनजी की कुण्ठित लालसा और निराशा-भरी प्यास भी नहीं है। सुमन की आसक्ति स्थूल शरीरी अथवा मांसल नहीं है, वह सूक्ष्म, अशरीरी अथवा वायवी भी नहीं है। वह लौकिक है, किन्तु मानसिक भी, यथा—**'एक बूँद भी किन्तु कि जिसकी तृष्णा नहीं मरी।'** कवि का प्रेम-रहस्य इन पंक्तियों में सुस्पष्ट है—

जलन की साधना संसार में सस्ती नहीं होती,
मधुर मुस्कान की कीमत चुकाते आँख के मोती।
न जिसके आदि में है योग अथवा अन्त में बाकी,
तुम्हारे स्नेह की दो बूँद जीने को बहुत काफ़ी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका प्रेमी शालीन है, वह समझता है कि

दूर हूँ जितना, तुम्हारे पास उतना ही।

वह जीवन की सतत गतिशीलता को जागरूक मनुष्य का मुख्य लक्षण समझता है। यह गतिशीलता वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक तथ्य की व्याख्या या विवेचना नहीं करती, वरन जीवनोत्थान का महान् लक्ष्य स्थिर करती है। उदाहरणार्थ कवि की गर्वोक्ति द्रष्टव्य है—

मैं स्वयं प्रकाश बना चलता आगे-आगे,
भूले-भटको, तुम अपना पथ पाओ,
पीछे-पीछे आने वाले ओ अनुरागी,
मेरे चरणों के चिह्न मिटाते आओ,
जिससे न अमरता की छलना मुझको बाँधे,
मिट्टी की जयजयकार मनाते जाओ,
मेरी ज्वाला से परिचित हो पाए हो तो,
तुम भी अपना आकुल अन्तर सुलगाओ।
जब-जब जीवन की ज्योति, मन्द पड़ती दीखे—
संघर्षों के उद्वेलन से उकसाओ!

और गांधीजी की हत्या के सम्बन्ध में उसका मत है कि यह मानवता को पशुता की सबसे बड़ी चुनौती है। गांधीजी को उसने मानवादर्श का प्रतीक माना है। उसकी एतद्विषयक उक्ति है कि—

यह वध है पुण्य-प्रसू धरती की परम पुनीता सीता का,
यह वध युग-युग के काल-पुरुष का, वासुदेव का, गीता का।
अब भटको तम में सदियों तक दीपक की ज्वाला रूठ गई,
ओ धर्म-धुरीणो, होश करो, अब धुरी धर्म की टूट गई।

अनेक स्थलों पर सुमनजी सूक्ति-रचना करने में प्रवृत्त हैं। यह भी उतना ही बड़ा खतरा है, जितना कि उपदेशात्मकता। उन्होंने 'साँसों का हिसाब', 'कलाकार के प्रति' आदि रचनाओं में सूझ-भरे उपदेश दिए हैं। उन्होंने प्रकृति के कतिपय सौन्दर्य-चित्र अङ्कित किए हैं, जिनमें अनेक प्रकार की काव्य-पद्धतियों का सत्कार हुआ है, यथा 'चेरापूँजी', 'फागुन में सावन', 'आज रात-भर बरसे बादल' आदि। 'आज की साँझ सलौनी बड़ी मन-भावनी री' में सवैया की पुरानी गीति-छटा प्रदर्शित की गई है। उन्होंने 'कितनी बार अपनपौ छूटा' जैसे दैनिक व्यवहार के प्रान्तिक प्रयोग किए हैं तथा 'मृत्तिका का दीप' आदि रूढ़ काव्य-प्रतीकों का व्यवहार भी। कहीं 'चाँदनी छाई, किसीकी याद आई' जैसा भावोद्दीपन है, तो कहीं प्राकृतिक उपमानों का नया विधान, यथा—

काँस-सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक,
बाढ़-सा उमड़ा हृदयगत प्यार।

इस संग्रह की रचनाएँ दीर्घकाल-व्यापी जान पड़ती है, पर गीति-रचना सर्वत्र सुघरता लिये हुए है। गीति-शिल्प अनेक-रूपात्मक है और छन्द-योजना वैविध्यपूर्ण, पर अभिव्यक्ति में अस्पष्टता और शिथिलता प्रायः नहीं आने पाई। 'टूटी डोर' में मुक्त छन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की यथार्थवादी चित्रण-शैली का आग्रह प्रत्यक्ष है। संक्षेप में, 'पर आँखें नहीं भरीं' पढ़कर आँखें भर आना कठिन है और अतृप्ति बनी रहना कष्ट-साध्य, पर इसे सुन्दर काव्य की संज्ञा दी जानी चाहिए। अनास्था और पस्ती के वातावरण में आस्था, उत्साह और उल्लास-भरी यह कृति निःसन्देह आकर्षक ज्ञात होगी।[1]

कमलाकान्त पाठक

पद्मावत—मूल और संजीवनी व्याख्या

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल की नई पुस्तक 'पद्मावत और मूल-संजीवनी व्याख्या' पाण्डित्यपूर्ण और परिश्रमसाध्य रचना है। इसमें लेखक ने जायसीकृत पद्मावत की कोरी टीका ही नहीं लिखी, उसने मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के व्यापक अध्ययन के आधार पर मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्दों के अभिप्रेत अर्थों की छानबीन करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसका कथन है कि **"पद्मावत की इस टीका में हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य जायसी के शब्दों और अर्थों का स्पष्टीकरण ही रहा है।"** इस दृष्टि से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अग्रवालजी ने जायसी की उपलब्ध सभी व्याख्याओं और टीकाओं से कहीं अधिक सफलता प्राप्त की है। उन्होंने शब्द के यथार्थ अनुवाद की वैज्ञानिक परिपाटी का आयास-साध्य अनुसरण किया है। व्याख्याकार ने भारतीय साहित्य को दृष्टिपथ में रखा है, किन्तु वह विदेशी काव्य-परम्परा, सूफ़ी मत और सिद्धान्त, मध्येशिया के सौन्दर्य-संस्कार और काव्यात्मक प्रतीक आदि स्पष्ट न कर सका। यह उसका क्षेत्र ही नहीं था। उदाहरणार्थ ४१-१७ का यह दोहांश लीजिए—

चारि बसेरें सौं चढ़ै, सत सौं चढ़ै जो पार।

इसका यह अर्थ किया गया है—'उस पर चार पड़ाव देकर चढ़ना चाहिए। जो सत्य से चढ़ेगा, वह पार पहुँच जायगा।' ये चार विश्राम-स्थल क्या हैं? ये सूफ़ी साधक की चार अवस्थाएँ हैं—शरीअत, तरीकत, हक़ीक़त और मारिफ़त, जो स्पष्ट नहीं की गईं।

माँग-वर्णन की यह अर्द्धाली लीजिए—

खांडे धार रुहिर जनु भरा। करवत लै बेनी पर धरा। १००-५

अर्थ हुआ—'या खांडे की धार रक्त से भरी है, या किसी ने करवत लेकर वेणी पर रख दिया है।' इस वस्तूत्प्रेक्षा में फारसी काव्य के सौन्दर्य-संस्कार सर्वथा स्पष्ट हैं। यह सौन्दर्य-दृष्टि अभारतीय है। पर अग्रवालजी का समस्त प्रयास जायसी को भारतीय संस्कृति और काव्य-परम्परा का कवि सिद्ध करने में प्रयुक्त हुआ है। मेरा निवेदन यह है कि प्रेम की पीर के यशस्वी कवि जायसी को उनके पूरे परिवेश में न देखने के कारण व्याख्याकार की गृहीत प्रणाली और काव्य-दृष्टि एकांगी हो गई है। यदि वह शुक्लजी की इस स्थापना को विस्मृत न करता कि इन उदार-हृदय मुसलमान कवियों ने भारतीय जीवन में इस्लामी तत्त्वज्ञान की प्राण-प्रतिष्ठा की है, तो वह जायसी के काव्य में केवल भारतीय तत्त्व-चिन्तन, काव्य-परम्परा, सामाजिक जीवन आदि का ही विश्लेषण न करता। वस्तुतः सामाजिक भूमिका पर जायसी समन्वयशील कवि सिद्ध होंगे। वे

१. ले० डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन'; प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम, उसके तत्त्व-ज्ञान और फारसी काव्य से पृथक् नहीं किये जा सकते। अग्रवालजी की विद्वता-संजीवनी व्याख्या में पद-पद पर प्रत्यक्ष होती है, किन्तु मैं साग्रह कहूँगा कि जायसी को केवल अवधी भाषा और स्थानिक जीवन का ही कवि प्रमाणित नहीं किया जा सकता। शुक्लजी से लेकर अग्रवालजी तक सभी 'कौनु पानि जेहि पौनु न मिला' का अर्थ 'कौनसा पानी है, जिसमें हवा नहीं मिली' करते हैं, पर इसका प्रतीकार्थ क्या है और कोकिला को सम्बोधित करने से उसकी क्या संगति है, यह अस्पष्ट ही है। क्या कोकिला प्राण, जल, रक्त और पवन श्वास के प्रतीक नहीं हैं ? यह केवल शंका है, मान्यता नहीं।

जायसी की साहित्यिक प्रतिष्ठा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-मर्मज्ञता और अध्यवसाय का सुफल है। उन्होंने न केवल पाठ-शोधन किया, वरन् जायसी की अप्रतिम काव्य-समीक्षा भी उपस्थित की। उनके पश्चात् अनेक छोटे-बड़े कार्य हुए। डॉक्टर माताप्रसाद ने जायसी की रचनाओं का वैज्ञानिक पद्धति से सुसंपादित पाठ उपस्थित किया। जायसी के पाठ की स्थिरीकरण-समस्या एक सीमा तक हल हो गई। उधर डॉक्टर वासुदेवशरण ने कुछ नई हस्तलिखित पोथियों का पता लगाया। उन्होंने डॉक्टर माताप्रसाद द्वारा स्थिर किये गए पाठ का प्रायः उपयोग किया, पर अनेक स्थलों पर उन्हें नई प्रतियों का पाठ युक्तियुक्त प्रतीत हुआ अथवा प्रामाणिक ज्ञात हुआ। वे नये पाठ का सर्वांशतः उपयोग न कर सके, क्योंकि माताप्रसादजी से भिन्न पाठ की आवश्यकता तभी प्रकट हुई, जब अर्थ की गुत्थियाँ सुलझ न सकीं। व्याख्याकार का लक्ष्य भी पाठ-शोधन नहीं था। पाठानुसन्धान का कार्य और आगे बढ़ाया जा सकता है। मनेर शरीफ, बिहार शरीफ, और रामपुर राज्य के पुस्तकालयों में पद्मावत की हस्तलिखित पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें प्रथम दो फ़ारसी लिपि में और अन्तिम अरबी लिपि में है। इन प्रतियों का समुचित उपयोग न माताप्रसादजी कर सके हैं और न अग्रवालजी। ज्यों-ज्यों ऐसी पुरानी प्रतियाँ प्रकाश में आती जायँगी, त्यों-त्यों पाठ के स्थिरीकरण का कार्य और विकसित हो सकेगा। स्पष्टतः अग्रवालजी ने डॉक्टर माताप्रसाद के जायसी-विषयक कार्य की उपादेयता बढ़ा दी है। उन्होंने शुक्लजी से खण्डशीर्षक लिये हैं और माताप्रसादजी से पाठ-संख्या। माताप्रसादजी की नई शोध 'मसूरी बाईसी' का पोथी-शीर्ष (Title) उनके मत से 'काहिरी नामा' हो सकता है।

अग्रवालजी ने पद्मावत के पाठ के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया है कि कवि की मृत्यु के पश्चात् क्लिष्ट भाषा और गूढ़ अर्थों के कारण लोगों को परेशानी होने लगी और पाठ के सरलीकरण की प्रवृत्ति क्रियाशील हो उठी। प्रस्तुत काव्य की सरल और क्लिष्ट ऐसी दो प्रकार की पाठ-परम्पराएँ मिलती हैं। क्लिष्ट पाठ मूल पाठ के समीप है और वह माताप्रसादजी के द्वारा स्वीकृत है। सरल पाठ की परम्परा शुक्लजी के संस्करण में चरितार्थ होती है। अतएव व्याख्याकार ने क्लिष्ट पाठ को प्रामाणिक माना है और कतिपय स्थलों पर माताप्रसादजी से भिन्न पाठ भी स्वीकार किया है, यथा 'चित्रसम' के स्थान पर 'चतुरसम', 'अंगवै' के स्थान पर 'दंगवै', 'खडंगी' के स्थान पर 'खदंगी' इत्यादि। इस प्रकार अग्रवालजी ने जायसी के मूल पाठ तक पहुँचने का सुचिन्तित उद्योग किया है। जायसी के सम्बन्ध में जितना भी कार्य हुआ है, वह उनके सम्मुख रहा है और उसे आगे बढ़ाने में वे कृतकार्य हुए हैं। शुक्लजी प्रवर्तक-कार्य (Pioneering work) कर गए हैं और उसे विकसित करना विद्वानों का उत्तराधिकार है। पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज भी उनकी समीक्षा पश्चात्पद नहीं हुई और उनकी टिप्पणियाँ अग्राह्य अथवा भ्रामक सिद्ध न की जा सकीं।

पाठान्तरों का मुख्य कारण अर्थ की उलझन के कारण क्लिष्ट पाठ को सरल बनाना तो है ही, कुछ अन्य कारण भी हैं। अवधेतर प्रान्तों में प्रचार, लिपिकारों का प्रमाद, फ़ारसी लिपि का दोष, अन्य मतावलम्बियों द्वारा संस्कार, कतिपय साहित्यिक और आध्यात्मिक प्रसिद्धियों और मान्यताओं का लोप, इत्यादि ऐसे ही कारण हैं। अग्रवालजी ने इनमें से एक इस कारण का भी निर्देश किया है कि दोहा छन्द के पहले और तीसरे चरण में अथवा कहीं केवल तीसरे चरण में सोलह मात्राएँ रखने की अवधी काव्य में निर्दिष्ट परम्परा थी। सरल पाठ में सर्वत्र तेरह मात्राएँ कर दी गईं, जैसे **'सेवा करहिं नखत औ तरईं'** (१००-६) को **'सेवा करहिं नखत सब'** बना दिया गया।

पाठ की समस्या सुलझने पर अर्थ की गुत्थियाँ भी खुलने लगती हैं। शिरेफ, लक्ष्मीधर, मुन्शीराम प्रभृति विद्वानों के अनुवादों में अर्थ की अनेक भ्रान्तियाँ रह गई थीं। जायसी के मूल पाठ का पर्याप्त निश्चय हो जाने पर अर्थ-सम्बन्धी भ्रान्तियों की सम्भावनाएँ यों भी कम हो जाती हैं और अग्रवालजी जायसी के मर्मज्ञ ही नहीं, मध्ययुगीन साहित्य की अन्तर्वर्ती सांस्कृतिक धारा के विशेषज्ञ हैं, अतएव उन्हें जायसी के अभीष्ट अर्थ तक पहुँच जाने में, विविध सन्दर्भ में प्रयुक्त अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने में, विशिष्ट कृतकार्यता सुलभ हुई है, यथा—कौसीसा—सं० कपिशीर्षक, हँथौड़ा—सं० हस्तपाटक : हाथ का कड़ा, मसवासी—एक मास उपवास करने वाला, सलौनी—सोने को साफ करने की प्रक्रिया का मसाला, रावन—सं० रमणीय, बनवारी—सं० वर्णमालिका : स्वर्ण-परीक्षा की शलाकाएँ, तबल देइ डगा-डुग्गी बजाकर डग आगे बढ़ा रहा हूँ, नाइत—सं० नाइत्त : सामुद्रिक व्यापारी, इत्यादि। कदाचित् ग्रामीण अवधी का पूर्वी रूप अग्रवालजी की मातृभाषा भी है। स्वयम् उन्हें अर्थ-परिशिष्ट में अपनी कतिपय व्याख्याओं को अथवा शब्दानुवादों को संशोधित करने की आवश्यकता अनुभव हुई है। अतः यह सम्भावित है कि कई व्याख्याओं के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो तथा कतिपय नये संशोधनों की अनिवार्यता प्रमाणित हो जाय, पर इतना निश्चय है कि यह पद्मावत का अपने ढंग का अपूर्व व्याख्यात्मक अध्ययन है। **'भई पुछार लीन्ह बनबासू'** आदि का अर्थ उन्हें पूर्ण स्पष्ट नहीं है। उन्होंने प्रस्तुत अर्थ और मुद्रालंकार की सहायता से अप्रस्तुत अर्थ तो स्पष्ट किया ही है, पर नागमती-पक्ष में अर्थ के दो विकल्प रखे हैं। मैं समझता हूँ कि नागमती-पक्ष का प्रथम विकल्पार्थ ही यथार्थ अनुवाद है, शेष सम्भावनाएँ हैं।

अग्रवालजी की व्याख्या-परक मौलिक सूझ का एक उदाहरण उपस्थित करना अप्रासंगिक न होगा। शुक्लजी के इस पाठ का **'मुहम्मद खेल प्रेम कर गहिर कठिन चौगान'** का अर्थ शिरेफ के अनुसार इस प्रकार है—**'मुहम्मद-प्रेम का खेल चौगान की भाँति गहरा और कठिन है।'** माताप्रसादजी का पाठ है—**'मुहम्मद खेल प्रेम कर खरी कठिन चौगान।'** व्याख्याकार ने न शुक्लजी का 'गहिर' पाठ, न माताप्रसाद जी का 'खरी' पाठ स्वीकार किया, क्योंकि फारसी लिपि में 'घरी' और 'खरी' एक समान लिखे जाते हैं, बल्कि 'घरी' पाठ स्थिर किया। 'आईनेअकबरी' के अनुसार चौगान के खेल में एक-एक घड़ी खेलने के बाद खिलाड़ी बदल जाते हैं। अतएव नया अर्थ हुआ—**'मुहम्मद-खेल प्रेम से**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, वैर से तो युद्ध किया जाता है, चौगान के खेल की एक घड़ी भी कठिन है।' इस प्रसंग का चौगान-परक, शृंगार-परक और युद्ध-परक, तीन प्रकार का अर्थ किया गया है। मैं कहूँगा कि बिहारी की रत्नाकरी टीका की भाँति पद्मावत के अध्येताओं को प्रस्तुत व्याख्या भी क्लासिक-परिपक्व प्रतीत होगी। रत्नाकरजी साहित्यिक सन्दर्भ में व्याख्या करते हैं और अग्रवालजी तत्कालीन साहित्य और समाज के सन्दर्भ में। रत्नाकरजी की तलस्पर्शिता भावक की गहनता लिये हुए है और अग्रवालजी की तलस्पर्शिता पाण्डित्य का विस्तार। रत्नाकरजी काव्य-रीतियों के कोविद हैं और अग्रवालजी भारतीय संस्कृति-शास्त्र (Indology) के आचार्य। इन दो महत्त्वपूर्ण व्याख्याओं का यह अन्तर भी द्रष्टव्य है।

प्रस्तुत व्याख्या में साहित्यिक अध्ययन की प्रणाली नहीं अपनाई गई। जायसी की काव्य-प्रवृत्तियों अथवा विशेषताओं का उद्घाटन भी नहीं किया गया। अग्रवालजी ने मध्य-युगीन भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक पद्धति से और प्रचुर शास्त्र-ज्ञान की सहायता से पद्मावत का शब्दानुवाद किया है। 'अष्टाध्यायी' और 'हर्षचरित' के उनके सांस्कृतिक अध्ययनों से अनुसन्धान की नई दिशाएँ प्रत्यक्ष हुई हैं। उन्होंने 'पद्मावत' का सांस्कृतिक अध्ययन तो नहीं किया, पर वे इसी दृष्टिकोण से उसका अर्थ-सौष्ठव अवश्य प्रकट कर सके हैं। साथ-साथ पाठ-शोधन का पुण्यार्जन भी हो गया। उन्होंने जायसी को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से प्रभावित प्रबुद्ध कवि समझा है और टिप्पणियों में अपने विशाल ज्ञान का परिचय दिया है। उन्होंने पद्मावत-विषयक समस्त साहित्य का आलोड़न किया है और यह निश्चित है कि वे एतद्विषयक संदिग्धता का बहुत-कुछ निवारण कर सके हैं।

कतिपय स्थलों पर अर्थ की खींचतान भी की गई है, जिनमें कुछ स्थानों पर पाठ-दोष सम्भव है, पर सर्वत्र यही बात शक्य नहीं है। उदाहरणार्थ अग्रवालजी को गोपालचन्द्रजी आदि की प्रतियों में ४७१-८:६ दोहे का नया पाठ मिल गया और उसमें अर्थ-संगति भी है—

बेनी कारी पुहुप लै निकसा जमुना आइ।
पूजा नन्द अनन्द सौं सेंदुर सीस चढ़ाइ॥

इसमें यमुना और कृष्ण के विवाह की लोक-कथा का संकेत और कालिय-दमन की प्रसंग-कल्पना तो है ही, पद्मावती का वह सौभाग्य और सौन्दर्य भी वर्णित है, जो शकुन-विचार से राज्य-सम्पत्ति का प्रदाता है। "जेहि की रिसि मरिए रस जीजै। सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै।"—अर्द्धाली का अर्थ मैथिलीशरणजी के सुझाव पर परिशिष्ट में शुद्ध किया गया है। "घालि कसौंटी दीजिए, कनक कचोरी भीख।" का अर्थ मेरी दृष्टि में खींचतान के बाद भी अस्पष्ट रह गया है। 'घालि' का अर्थ फेंककर नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध 'कनक-कचोरी' से है, 'रतन' से नहीं। इसका अर्थ कसकर या चढ़ाकर है। स्वर्ण कसौटी पर कस लिया जाय और तब उसमें रत्न जड़ा जाय। स्वर्ण-रूप पद्मावती को प्रेम-कसौटी पर कसकर रत्न-रूप रत्नसेन को सौंप दो। अर्थ द्वारा भाव स्पष्ट न होने का एक उदाहरण देखिए—"भौंहैं धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह सांधि बान जनु मारे।" (२६८-३) इसका अर्थ किया गया है—"भौंहें धनुष-सी थीं, पर काम का धनुष भी उनसे हार गया। वे मानो नेत्ररूपी बाणों का संधान करके चला रही थीं।" यथार्थ भावार्थ यह है कि पद्मावती की भौंहें धनुषाकार या धनुष-रूप थीं, अर्थात् बंकिम थीं। पर उनका वक्रत्व काम के धनुष के टेढ़ेपन को परास्त कर रहा था। वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्प-शायक से अधिक मर्मान्तक थीं। नेत्रों को साधकर, डोरी खींचकर, वे मानो अपांगों या चितवन के बाणों का आघात करती थीं। आशय यह है कि भौंहों और नेत्रों का सम्मिलित सौन्दर्य धनुष को चढ़ाना है, जो कटाक्ष-रूप बाणों की वर्षा करता है। दृष्टि-प्रहार निश्चय ही काम-प्रहार की अपेक्षा अधिक आघातकारी था। रूपक, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा और यमक की इस संसृष्टि का मूल सौन्दर्य अनुद्घाटित रह गया। ऐसे कई उदाहरण और दिये जा सकते हैं।

डॉक्टर वासुदेवशरण ने अपने संजीवनी भाष्य का एक सुविस्तृत प्राक्कथन उपस्थित किया है। इसमें उनकी गवेषक-शक्ति का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है। वे जायसी की चित्रण-कला पर विशेष रूप से मुग्ध हैं, साथ ही वे अपने प्रिय कवि को पूर्ण रूप से भारतीय जीवन का कवि समझते हैं। जायसी भारतीय जीवन में इस्लाम की चेतना लेकर प्रविष्ट हुए थे, अतएव उन्हें विशुद्ध राष्ट्रीय कवि, जैसे तुलसीदास, नहीं कहा जा सकता। कबीर की भाँति वे क्रान्तिकारी नहीं थे, पर उन्होंने वही कार्य प्रेमभाव और मेलजोल के व्यवहार से सम्पादित किया था। जायसी की अन्य विशेषताएँ, जैसे प्रेम की विदग्ध व्यञ्जना, मार्मिक स्थलों की योजना, उदात्त ऐतिहासिक कथावस्तु, भाषा की विलक्षण शक्ति, जीवन के गम्भीर सर्वांगीण अनुभव, सशक्त दार्शनिक चिन्तन इत्यादि, उन्हें आकर्षित करती हैं। पर व्याख्याकार ने इनका संकेत-भर दिया, विवेचन नहीं किया, क्योंकि उसका कार्य भाष्य लिखना था, आलोचना करना नहीं।

अग्रवालजी ने पद्मावत की उपलब्ध प्राचीन प्रतियों का विवरण देते हुए अपने पाठान्तरों तथा नये अर्थों का प्राचीन पाठों और अर्थों के समकक्ष तुलनात्मक निरूपण किया है। उन्होंने अवधी भाषा के साहित्य की एक सुदीर्घ सूची दी है, जिसमें १३७० ई० से १९१७ ई० तक के अवधी साहित्य का उल्लेख हुआ है। जायसी के ग्रन्थों तथा जीवनी का निर्देश करते हुए उनकी गुरु-परम्परा का परिचय दिया गया है। 'पद्मावत का अध्यात्म पक्ष' प्राक्कथन का विशिष्ट अंश है। इसमें जायसी के प्रतीकों का प्राचीन साधना-मार्ग की पृष्ठभूमि में विशद विवेचन किया गया है। यह अंश हमारे ज्ञान को नया प्रकाश देता है, पर यह मान लेना कि सर्वत्र जायसी का वही अभिप्रेत था, जो अग्रवालजी ने स्थिर किया है, युक्तिसंगत न होगा।

वे यह सिद्ध करते हैं कि पद्मावत काव्य में प्रेम के जो आध्यात्मिक प्रतीक हैं, उनमें 'भारतीय सौन्दर्य और माधुर्य था', पर किंजल्क विदेशी थे, यह विस्मृत हो गया है। साधक पर नायिका-भाव का आरोप भारतीय रहस्यवाद की वस्तु है और नायकत्व का आरोप फ़ारसी काव्य की वस्तु। योग-मार्ग के सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों को क्या गंगा-यमुना अथवा इड़ा-पिंगला का नामान्तर ही समझा जायगा? यदि यही माना जाय और नायक-नायिका के प्रतीक रूप में उनका अर्थ-विकास स्वीकृत किया जाय तो कोई हानि न होगी, पर उस स्थिति में सुषुम्ना द्वारा प्राण-तत्त्व का सिद्धि-लाभ करना क्या संगति न खो बैठेगा?

शशिभूषणदास गुप्त ने सहजयानियों के 'सोन' का सम्बन्ध 'सुवर्ण' और 'शून्य' दोनों से सिद्ध करने की चेष्टा की है। रूप के हट जाने से सुवर्ण बारहबानी होता है; दूसरी ओर अरूप के कारण शून्य की उपलब्धि होती है। यह श्लेष-पुष्ट रूपक काव्यात्मक तो है, पर क्या यही जायसी का अभिप्रेतार्थ है? सहजयानियों और हठयोगियों के काव्य-प्रतीकों में अन्तर भी है। यह हठयोग का आग्रह न होकर सहजयान का प्रभाव है, मान लेना कदाचित् विश्वसनीय न हो। दासगुप्त का मत भी कितना निर्भ्रान्त है, नहीं कहा जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौसर का खेल और पान का मुँह में रच जाना, ये दो और युगनद्ध भाव के प्रतीक स्पष्ट किये गए हैं। इनके द्वारा यह प्रमाणित करने का उद्योग हुआ है कि सहजयानी सिद्धों और नाथपन्थी योगियों की परम्परा के सम्पर्क में आकर जायसी ने अपने काव्य-प्रतीकों का जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया था। यह सम्भावना तो है ही कि जायसी ने अपने रहस्य-प्रतीक तत्कालीन लोक-प्रसिद्धि और काव्य-परम्परा से गृहीत किये होंगे। पर अपने ज्ञान के सहारे वे कतिपय प्राचीन प्रतीकों को भी चुन सके होंगे तथा विदेशी प्रतीकों के प्रति उन्होंने सर्वांशतः निषेध-वृत्ति न रखी होगी। यह कहा गया है कि वेदान्त के अनुसार सूर्य हृदय का और चन्द्र मन का प्रतीक है। इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि जायसी ने एक ही प्रतीक का अनेक अर्थों में प्रयोग किया है। यह स्थिति किसी लोकप्रिय और श्रेष्ठ कवि के गौरव के अनुकूल नहीं है।

"सहजयान के साधक भी विषय-प्रधान प्रेम की कल्पनाओं को स्वीकार करके केवल उसकी तीव्र अनुभूति और साक्षात् मिलन की उत्कट इच्छा को स्वीकार करते थे, कुछ विषय-भोग को नहीं।''''यही स्थिति प्रेम-मार्ग की थी।" यह तुलना निश्चय ही ग्राह्य है, पर आगे चलकर इसीको जायसी के प्रेम-काव्य का उपकरण भी मान लेना उचित नहीं है। यह मत प्रकट किया गया है कि जायसी ने सहजयान और नाथपन्थ **"दोनों की विशेषताओं को स्वीकार करके अपने काव्य में स्थान दिया।"** मैं प्रभाव को अस्वीकार नहीं करता, पर प्रेम-काव्य के विदेशी स्वरूप को समझे बिना यह निर्णय कैसे किया जा सकेगा कि उसमें किस मत, सम्प्रदाय या पन्थ का कितना मेल हुआ और कितना प्रभाव पड़ा? यह दृष्टि एकांगी है और व्यापक दृष्टि के अभाव में निर्णय सदैव अधूरा होता है। अग्रवालजी इसे महाकाव्य कहते हैं, शुक्लजी की भाँति मसनवी शैली का प्रेमाख्यानक प्रबन्ध नहीं। यह अग्रवालजी की कार्य-सीमा का प्रत्यक्ष संकेत भी है।

परिशिष्ट में व्याख्याकार ने कतिपय नये अर्थ रखे हैं और राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी की जनश्रुति पर आधारित सुन्दर आख्यायिका 'जगद्देव की कहानी' जोड़ दी है। इसी प्रकार पद्मावत की कतिपय अन्य प्रासंगिक वार्त्ताएँ भी संकलित हो सकती हैं। ग्रन्थ में वर्णित शस्त्रास्त्रों वाद्यों, अवधूत और सैनिक के वेष की वस्तुओं, हाथी-घोड़ों के साज-सामानों तथा शतरंज के नक्शे के चित्र दिये गए हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ खोजपूर्ण है और ऐतिहासिक पद्धति के अध्ययन का परिणाम।

अग्रवालजी ने पद्मावत की व्याख्या द्वारा वे सम्भावनाएँ अनावृत की हैं, जो जायसी के अध्ययन को काव्य, भाषा, परम्परा, संस्कृति और अध्यात्म-तत्त्व कई क्षेत्रों में संवर्द्धित कर सकती हैं। पद्मावत के पाठ का पुनर्सम्पादन और स्थिरीकरण, जायसी की भाषा के व्याकरण का वैज्ञानिक अध्ययन, जायसी के पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रेममार्गी अवधी-साहित्य का सम्पादन-प्रकाशन, जायसी की शब्दावली के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन, इत्यादि द्वारा मूल शब्दों के रूप और अर्थ का निश्चित परिज्ञान होगा और उस स्थिति में जायसी की व्याख्या के सम्बन्ध में इदमित्थं कहा जा सकेगा। स्वयं व्याख्याकार अवधी-साहित्य का सम्पादन, जायसी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन तथा अवधी के शब्द-रूपों की तुलनात्मक समीक्षा के कार्य को अग्रसर किये जाने का प्रस्ताव करता है। मुझे विश्वास है कि वह 'हर्षचरित' की भाँति 'पद्मावत' का सांस्कृतिक अध्ययन भी उपस्थित करेगा। उसका प्रस्तुत कार्य व्याख्या-साहित्य की सीमा-रेखा को विकसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सका है और मैं समझता हूँ कि उसने जायसी के काव्यानुशीलन-विषयक अनेक रुद्ध कपाट उन्मुक्त कर दिए हैं।[1]

डॉ० भगीरथ मिश्र

हिन्दी-अलङ्कार-साहित्य

'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' डॉक्टर ओम्प्रकाश की पी-एच० डी० थीसिस का विकसित और परिष्कृत रूप है। प्रस्तुत पुस्तक में अलंकार-साहित्य के स्वरूप-विकास का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन किया गया है। समस्त ग्रन्थ चार प्रसंगों, एक परिशिष्ट और सहायक ग्रन्थ-सूची के विवरणों में विभाजित है। प्रथम प्रसंग में संस्कृत के अलंकार-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का विश्लेषण और विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थों के परिचयात्मक विश्लेषण के साथ इनके रचयिता आचार्यों की अलंकार-सम्बन्धी धारणाओं का स्पष्टीकरण भी किया गया है। यह कहा जा सकता है कि लेखक ने संस्कृत अलंकार-शास्त्र की समस्या और स्वरूप का यथार्थ और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अलंकार-सम्बन्धी धारणा में किस प्रकार विकास हुआ और प्रारम्भ में समस्त काव्य-शोभा और रमणीयता, जो अलंकार में समाविष्ट थी, किस प्रकार आगे चलकर काव्य के अन्य अर्थों में देखी गई और अलंकार केवल शोभा की अतिशयिता के उपकरण-मात्र रह गए, आदि विवेचन महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रसंग में केवल दो बातों की ओर ध्यान और जाता है जो इस शीर्षक के ग्रन्थ में दी जानी आवश्यक थीं—प्रथम संस्कृत अलंकार-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ और द्वितीय अलंकार-सम्बन्धी समस्त उपलब्ध ग्रन्थों का परिचय अथवा नामों की सूची। लेखक के कुछ विवेचनों में मतभेद की गुञ्जाइश भी है, जैसे भोज के ग्रन्थों के सम्बन्ध में।

द्वितीय प्रसंग 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' पर प्रकाश डालता है। इसमें परिचय के भीतर समस्त 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' का महत्त्वपूर्ण पर्यवेक्षण किया गया है। इसके साथ इसमें विशेषताओं और प्रवृत्तियों का उल्लेख एवं वर्गीकरण का भी प्रयत्न है। यह समस्त अध्ययन बड़े काम का है और लेखक की अधिकारपूर्वक बात कहने की प्रौढ़ता का परिचायक है। परन्तु वर्गीकरण का प्रयत्न अपूर्ण है। अलंकार-साहित्य के परिचय के साथ यदि संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों द्वारा किये गए वर्गीकरण-सम्बन्धी प्रयत्न का परिचय और नवीन ढंग से वर्गीकरण देने का प्रयास किया जाता तो लेखक का कार्य बड़ा ही अभिनन्दनीय होता।

हिन्दी-आलंकारिकों का अध्ययन भी अपनी निजी विशेषता रखता है और लेखक ने इस अध्ययन में आलंकारिक आचार्य के गौरव के अनुसार विवेचन विस्तार से या संक्षेप में किया है। सन्तोष की बात है कि पुस्तक में अलंकार-क्षेत्र के कुछ आचार्यों की देन का महत्त्वपूर्ण मूल्याङ्कन और विवेचन है, जैसे केशवदास और भिखारीदास का। परन्तु समस्त आचार्यों के साथ न्याय नहीं किया गया, जैसे देव, सोमनाथ, दूलह आदि। देव के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर लेखक के पदार्थ और व्याख्या में भी मतभेद है, जैसे उनकी पंक्ति 'जब लगि

१. ले० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल; प्रकाशक साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द' के 'जस=समान, सहोदर' कहा गया है। यह अर्थ सभी को मान्य नहीं हो सकता। देव के 'भावविलास' ग्रन्थ के विवेचन के प्रसंग में एक स्थान पर लेखक ने लिखा है—

"किशोर देवदत्त ने इस कथन पर विश्वास कर लिया और हर्ष की तरंग में 'भाव-विलास' की रचना कर डाली, मानो कोई तेज़ विद्यार्थी अपने क्लास नोट्स को फिर से लिख-कर अपने नाम से आलोचनात्मक पुस्तक छपवा रहा हो।" यहाँ पर लेखक का संकेत देव का 'भाव-विलास' में 'कविप्रिया' से भावापहरण की ओर है; परन्तु इस तरह के लक्षण-साम्य बहुतों में मिलेंगे। देव की प्रौढ़ता और मौलिकता इतनी हलकी नहीं कि फूँक से उड़ाई जा सके। उसके विचारों के सम्बन्ध में भी लेखक का उसी प्रकार का दृष्टिकोण अपेक्षित था जैसा कि केशव के सम्बन्ध में पृष्ठ ७७ पर। उसके निम्नाङ्कित शब्दों में व्यक्त हुआ है—"केशव ने नवीन अलंकारों की उद्भावना की है; कुछ के नाम बदले हैं—केवल तमाशे के लिए नहीं; उनका अध्ययन, गाम्भीर्य-सापेक्ष्य है।"

इसी प्रकार आचार्य देव के सम्बन्ध में लेखक के इस प्रकार के कथन भी विचारणीय हैं, जैसे "परन्तु देवकवि का आचार्यत्व उनके कवित्व से भी शिथिल है। जितनी उलझन उनमें है उतनी किसी दूसरे में शायद नहीं। वे एक कृति में भी अपनी विचारधारा का निर्विरोध निर्वाह नहीं कर पाए, कारण यह प्रतीत होता है कि उनकी कोई विचारधारा नहीं—जैसा कहीं कुछ देखा उसको कुछ बदलकर चलता किया।" इस कथन में न केवल देव के आचा-र्यत्व पर आक्षेप है, वरन् उनके कवित्व पर भी। कवित्व के सम्बन्ध में तो लेखक को 'देव और बिहारी' फिर से देखना चाहिए। आचार्यत्व के सम्बन्ध में इतना कह देना यहाँ पर्याप्त है कि देव मौलिक विचारकों में से हैं और अनेक स्थलों पर उनके कथनों की व्याख्या 'वार्तिक' के रूप में आवश्यक है। कवित्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थ के भूमिका-लेखक डॉ० नगेन्द्र का भी सम्भवतः लेखक से मतैक्य न होगा। फिर भी कहना पड़ता है कि लेखक ने साहसपूर्वक अपने विश्वास को स्पष्टतया प्रकट किया है।

'गद्ययुगीन अलंकार-साहित्य' के प्रसंग में यदि भगवानदीन और कन्हैयालाल पोद्दार को लिया गया था, तो 'रसाल' के 'अलंकार-पीयूष' और मिश्रबन्धु के 'साहित्य-पारिजात' को भी लेना आवश्यक था। इनके न लेने का कोई औचित्य लेखक ने नहीं दिया है। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि 'अलंकार-साहित्य' के अध्ययन में एक पूर्ण अलंकार-ग्रन्थों की सूची तो देनी आवश्यक थी ही, यदि उसका परिचय न दिया जाता तो न सही।

उपर्युक्त बातों के होते हुए भी यह एक तथ्य है कि लेखक ने अनेक ग्रन्थों के अध्ययन में काफी श्रम किया है। उसका अध्ययन विशेष रूप से संस्कृत अलंकार-ग्रन्थों और कतिपय हिन्दी-ग्रन्थों के प्रसंग में उनकी सूक्ष्म विवेचन-शक्ति का परिचायक है। अलंकार एवं काव्य-सम्बन्धी धारणा के अध्ययन में लेखक द्वारा दी गई परिशिष्ट की सामग्री उपादेय है, जिसमें संस्कृत और हिन्दी के लेखकों के अलंकार-सम्बन्धी विचार संकलित करके एकत्र रख दिये गए हैं। समग्र रूप से यह अध्ययन उपयोगी है। काव्य-शास्त्र के अन्य अंगों के भी इसी प्रकार के और पूर्ण अध्ययन अपेक्षित हैं।[1]

1. ले० डॉ० ओम्प्रकाश; प्रकाशक, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सत्येन्द्र

लोक-साहित्य का अध्ययन

हिन्दी में लोक-साहित्य पर अब अच्छी चर्चाएँ होने लगी हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में भी यह विषय बी० ए० तथा एम० ए० में स्थान पाने लगा है। इस विषय के पाठक और विद्यार्थी बार-बार यह जानना चाहते हैं कि लोक-साहित्य क्या है? उसका क्षेत्र और स्वरूप क्या है? क्यों उसे पढ़ने की आवश्यकता है, अथवा उसका महत्त्व क्या है? उसमें क्या-क्या होता है? उसे कैसे प्राप्त किया जाय? उसे कैसे समझा जाय? आदि। भारतेतर देशों में लोक साहित्य के सम्बन्ध में सरकारों द्वारा विभाग खुले हुए हैं। वहाँ बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं जो विश्व-भर के लोक-साहित्य की सामग्री के संग्रह और अध्ययन का विधिवत् कार्य कर रही हैं। विश्व-विद्यालयों में इस विषय के अध्ययन-अध्यापन का विशेष प्रबन्ध है। वहाँ इस विषय पर उच्च-से-उच्च कोटि की रचनाएँ मिल जाती हैं, जिनमें पाण्डित्य और गवेषणा का परिणाम भरा होता है। लेखक ने इसी कमी को पूरा करने के लिए ही 'भारतीय लोक-साहित्य' की रचना की है।

इसमें पहला अध्याय 'लोक' की व्याख्या देता है। वेदों से लेकर बौद्ध युग तक 'लोक' के कुछ प्रयोगों की ओर संकेत करके 'लोक' के प्राचीन अर्थ को समझाने की चेष्टा की है। आर्यों के आगमन से 'लोक' शब्द के एक अन्य अर्थ की उद्भावना लेखक ने मानी है। क्या यह आव-श्यक है कि ऐसे सांस्कृतिक शाब्दिक भेदों को समझाने के लिए आर्यों के भारत में आगमन की बात का उल्लेख किया ही जाय? दूसरा अर्थ 'वेदेतर' वेद से इतर, वेद से भिन्न तो ठीक प्रतीत होता है, पर वेदेतर का वेद-विरोधी होना आवश्यक नहीं। साहित्य और शास्त्र की साक्षी भी यही सिद्ध करती है कि हर अवस्था में 'लोक' शब्द 'वेद' का विरोधी नहीं, केवल 'वेदेतर' ही होता है। अपनी व्याख्या के साथ लेखक यदि 'लोक'-विषयक समस्त अर्थों और प्रसंगों का भी उल्लेख कर देता तो व्याख्या में पूर्णता आ जाती। लेखक ने 'लोक' को 'वेदेतर संस्कृति के संकुचित अर्थ से ऊपर उठाकर' 'साधारणजनसमाज' का पर्यायवाची बना दिया है। इस प्रकार लेखक ने 'लोक' को बहुत व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया है। लोक की जो व्याख्या डॉक्टर वासुदेवशरण से लेकर दी गई है, वह व्याख्या न होकर काव्य है, उससे 'लोक' के रूप को समझने में सहायता नहीं मिलती। इस पुस्तक में 'लोक-साहित्य' की परिभाषा अवश्य ही स्पष्ट होनी चाहिए थी, पर लेखक ने लिखा है—

"आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य आदि से युक्त होकर साधारण जन-समाज, जिसमें पूर्व-संचित परम्पराएँ, भावनाएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं अपितु अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।"

इसमें लेखक ने क्या कहना चाहा है ठीक-ठीक विदित नहीं होता। कुछ तो वाक्य सदोष हो गया है। दूसरे साधारण जनसमाज की व्याख्या ने उसे असाधारण बना दिया है। किन्तु आगे स्पष्ट करते हुए 'लोक' को जैसे 'किसान' से निबद्ध कर दिया है—**"भारतीय किसान भारतीय 'लोक' का महाप्राण है। उसका जीवन लोक का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। अतएव वही लोक-साहित्य की आधारशिला है......।"** वेद और वेदेतर से ऊपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठकर 'बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः' तक पहुँचकर वह किसान का अवतार धारण कर खड़ा हो गया है। यहीं लेखक ने 'फोक' और 'लोक' की समस्या खड़ी कर दी है। लोक को फोक के अनुरूप मानते हुए उसमें 'पूर्व संस्कारों के कारण' फोक से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करने की क्षमता मानी है।

इस प्रकार लेखक ने यह चेष्टा की है कि 'लोक' के अर्थ तक पहुँचा जाय। यहाँ आवश्यकता थी कि 'लोक-साहित्य' में लोक शब्द के विशिष्ट अर्थ की व्याख्या की जाय। वेदेतर-मात्र का अर्थ उसमें नहीं, क्योंकि कालिदास, भारवी आदि की रचनाएँ लोक-साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकतीं। लेखक ने 'लोक और जन' के भेद को समझने की अच्छी चेष्टा नहीं की। वस्तुतः 'जन' को यह राजनीतिक अर्थ प्रगतिवाद की परम्परा ने नहीं प्रदान किया, अपने रूढ़ प्रयोग के कारण 'जन' ने प्राचीन काल से ही राजनीतिक पृष्ठभूमि संयुक्त समाज का अर्थ ग्रहण कर लिया था। ऐसे 'जन' के लिए अथवा जन की भावना से लिखा हुआ साहित्य भी लोक-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता।

दूसरा अध्याय 'लोकवार्ता एवं लोक-साहित्य' पर विचार करने के लिए है। सबसे पहले 'लोकवार्ता' शब्द के प्रयोग की समस्या पर विचार किया गया है। 'फोकलोर' के लिए मराठी, हिन्दी तथा बंगला में जितने भी शब्दों का सुझाव अब तक हुआ है उनको लेखक ने एक स्थान पर जुटा दिया है। यहाँ डॉ० सुनीतिकुमार जी का शब्द उद्धृत करने में भूल हो गई है। डॉ० चाटुर्ज्या ने जो शब्द दिया है वह 'लोक-यान' है। यह शब्द बौद्ध धर्म की हीनयान, महायान तथा वज्रयान की परम्परा में बनाया गया है—'यान' का अर्थ इन शब्दों में कुछ विशिष्ट है। 'यान' के पाँच अर्थ तो होते ही हैं। 'वाहन' तथा 'जाना' या 'चलना' के साथ यान का अर्थ (राजनीति में) आक्रमण, जुलूस तथा यात्रा भी होता है। किन्तु जिस परम्परा से डॉ० चाटुर्ज्या ने यह यान शब्द चुना है, वह विशेषार्थक है। उसके साथ एक धार्मिक भावना भी बँधी है। वह शास्त्र-सिद्धान्त-बद्ध रूप में प्रस्तुत होता है। प्रचलन उसका धर्म नहीं। फोकलोर या तो वह सामग्री है जो फोक के पास विद्यमान है, या उस सामग्री का विज्ञान है। वज्रयान कहता है वज्रयानी बनो, पर फोकलोर यह नहीं कहता कि 'लोकयानी' बनो। इस कारण लोकयान शब्द ठीक प्रतीत नहीं होता।

श्री परमार ने ठीक ही कहा है कि 'लोकवार्ता' शब्द हिन्दी में क्रमशः अपना स्थान निर्धारित कर चुका है। नवीन शब्दों के सुझाव और आग्रह से लोकवार्ता के प्रति जमी हुई आस्था कम नहीं हो सकती[1]; किन्तु इतना ही नहीं, समस्त युक्तियों और तर्कों के बाद भी 'लोकवार्ता' शब्द 'फोकलोर' के यथार्थ अर्थ को प्रकट करता है। लोर का अर्थ वस्तुतः किसी विषय के परम्परागत (ट्रेडीशनल) सम्पूर्ण ज्ञान-समूह का है। हिन्दी में वार्ता के कई प्रयोग मिलते हैं। 'कथावारता', 'चौरासी वैष्णवों की वारता', 'घरू वारता'। इस वारता शब्द का अर्थ जनश्रुति अथवा किंवदन्ती भी है, बात भी है और विषय भी। अतः यह शब्द उस समस्त अभिव्यक्ति से पर्याय का काम दे सकता है, जो अभिव्यक्ति शब्दों में होती है, अथवा शाब्दिक अभिव्यक्ति में जिस अन्य अभिव्यक्ति का विषय या प्रसंग गर्भित रहता है। इस दृष्टि से यह 'लोक वार्ता' शब्द सर्वथैव समीचीन प्रतीत होता है।

१. पृ० १२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक ने इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है कि लोकवार्ता एक शास्त्र है, और वह गतिशील विज्ञान है। इसी अध्याय में लोकवार्ता के विस्तार और उसमें लोक-साहित्य के स्थान का भी विवेचन किया गया है। यह अत्यन्त संक्षेप में किया गया है और तद्विषयक विद्वानों के उद्धरणों द्वारा ही बहुधा किया गया है।

तीसरा अध्याय लोक-साहित्य-संकलन की परम्परा पर प्रकाश डालता है। संक्षेप में लेखक ने लोक-साहित्य-संकलन की परम्परा का इतिहास दिया है। हिन्दी जनपद सम्बन्धी तथा अहिन्दी जनपद सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों का उल्लेख अपूर्ण है। आगे पृष्ठ ३४ पर जिन नार्मन ब्राउन के अनुमान से ३००० लोक-कथाओं के प्रकाशित होने की बात लिखी गई है, उन ब्राउन महोदय ने ३००० अनुमान से नहीं, गिनकर और पढ़कर वह गिनती लिखी थी, साथ ही उन्होंने सन् १९१० के निकट तक के समस्त भारतीय लोकवार्ता-साहित्य और उसके संकलनकर्ताओं तथा विचारकों की सूची भी दी थी। इसमें ब्राउन महोदय ने १३२ व्यक्तियों को सूचीबद्ध किया और उनकी रचनाओं को भी उन रचनाओं के विषय में ज्ञातव्य विषय पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी दीं। नार्मन ब्राउन का यह परिश्रम अत्यन्त प्रशंसनीय है, इससे अधिक पूर्ण उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। किन्तु यह सूची भारतेतर भाषाओं की मुख्यतः अंग्रेजी की पुस्तकों और निबन्धों की है। भारतीय भाषाओं में किये गए प्रयत्नों का इसमें उल्लेख नहीं। 'भारतीय लोक-साहित्य' में विविध भारतीय भाषाओं के कार्यों और प्रकाशनों का भी विवरण दिया गया है।

इस अध्याय में कुछ तथ्यविषयक भूलें रह गई हैं। लेखक ने हिन्दी में 'लोक-साहित्य' के द्वितीय उत्थान का आरम्भ १९४२ से माना है, और 'ब्रज साहित्य मण्डल को इसी उत्थान का परिणाम माना है।[1] ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना सन् १९४० में हो चुकी थी। सन् १९४२ का आन्दोलन इस मण्डल के कारण हुआ था। रामनारायण उपाध्याय की पुस्तक का नाम 'नीमाड़ी लोकगीत' है, 'नीमाड़ी ग्राम गीत' नहीं। लोक-कथाओं के सम्बन्ध में यह कथन है—"**इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास पं० शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने बुन्देलखण्ड की लोक-कथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक-कथाओं की 'स्पिरिट' नष्ट न होने दी।**" इसी सम्बध में इन्हीं चतुर्वेदीजी के कहानी-संग्रह 'पाषाण-नगरी' की भूमिका में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पृ० ख' पर जो लिखा है उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा। वे लिखते है—

> **"ब्रज की लोक-कहानियों का एक मूल्यवान संग्रह जैसी सुनी वैसी टीपी शैली से ब्रज बोली में ही प्रकाशित किया था। उसमें कहानियों का अपना चोज़ पदे-पदे देखने को मिलता है। दूसरे साँचे में पड़कर लोक-कहानी बहुत-कुछ अपना रस खो देती है।"**

अतः 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' नाम की ऐसी वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक का उल्लेख भी यहाँ होना चाहिए था। यह कहानी-संग्रह श्री शिवपूजन सहायजी के प्रथम संकलन के समकालीन है। वस्तुतः यह अध्याय काफी सूचनापूर्ण है और परिश्रम से तैयार किया गया है।

चौथे अध्याय का शीर्षक है 'अपौरुषेय वाङ्मय'। इसमें मराठी लेखिका कमला बाई देशपाण्डे के निबन्ध के आधार पर स्त्री-वाङ्मय पर विचार किया गया है। स्त्रियों के गीतों के वर्गीकरण के साथ उनके काल-निर्णय की समस्या पर भी विचार प्रकट किया गया है। भारत के

१. पृष्ठ २९-३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी जनपद के किसी भी 'लोकगीत' का काल-निर्णय केवल 'स्फुट गीत' और उसकी सामग्री तथा शैली से नहीं हो सकता। पहले तो इसके लिए आवश्यक है कि जिस क्षेत्र के गीत पर विचार किया जा रहा है, उस क्षेत्र के समस्त गीतों का संग्रह सामने हो, फिर उस विशिष्ट गीत के जितने भी रूप उस क्षेत्र में तथा समस्त भारतीय जनपदों में मिलते हैं वे भी प्रस्तुत हों, फिर वैसे विषय का कोई ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक उल्लेख कहीं मिलता हो तो वह भी खोज लिया गया हो—इतनी सामग्री हाथ में हो तभी 'काल-निर्णय' की ओर बढ़ा जा सकता है।

अपौरुषेय वाङ्मय के साथ पौरुषेय वाङ्मय की भी आवश्यकता प्रतीत होती है।

पाँचवाँ अध्याय 'लोकगीत क्या है ?' शीर्षक से है। इसमें लोकगीत की व्याख्या और उसके प्रकारों पर विचार किया गया है। संक्षेप में कितने ही विद्वानों के मतों का उल्लेख लेखक ने किया है। इन लोकगीतों के कुछ प्रमुख लक्षण भी गिनाये गए हैं। अध्याय रोचक है, यद्यपि वैज्ञानिक नहीं बन पड़ा। लोकगीतों के जन्म का मूल क्या है—वह वैयक्तिक है या सामाजिक, उसका विकासक्रम क्या रहा है, इन गीतों के निर्माण में 'व्यक्ति' का योगदान क्या होता है—इन बातों पर भी संक्षेप में प्रकाश डालने की आवश्यकता थी।

छठे अध्याय में ग्रामगीत, लोकगीत, जनगीत के प्रयोगों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनमें विद्यमान भ्रम को दूर करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा सामयिक और उपयोगी है। सातवाँ अध्याय गीत, संगीत और नृत्य तीनों को 'लोक-मानस की त्रिधाभिव्यक्ति' मानकर इनका परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट करता है। इन अभिव्यक्तियों का 'लोक-मानस' से जो सम्बन्ध है, उसे भी स्पष्ट किया जाता तो उपयोगिता और बढ़ जाती। आठवाँ अध्याय 'लोकगीतों में रंग-वैचित्र्य' पर प्रकाश डालता है। यह अध्याय लोकगीतों में रंग-वैचित्र्य की चर्चा का दिग्दर्शक है। लेखक ने हर्वर्ट रीड के चित्रकला-विषयक अभिमत का उल्लेख करके रंगों के विवेचन को वैज्ञानिक स्तर पर लाने की प्रशंसनीय चेष्टा की है। विविध जनपदीय क्षेत्रों के ग्राम-साहित्य में जो विशेष रंग के प्रति विशेष आकर्षण मिलता है उसे भी लेखक ने सोदाहरण स्पष्ट कर दिया है। निश्चय ही ऐसे विवरण प्रस्तुत साहित्य के आधार पर ही दिये जा सकते हैं, अतः जिन जनपदों का साहित्य उपलब्ध नहीं था उनका उल्लेख नहीं हो सका, जैसे ब्रज का धानी और ककरेजी रंग का उल्लेख नहीं किया जा सका। अन्य प्रदेश भी छूट गए हैं।

नवें अध्याय का शीर्षक है 'लोक-गीतों में नई चेतना'। शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें लोकगीतों के उस रूप की चर्चा होगी जो नये युग के तकाजे से प्रस्तुत हुए हैं। कुछ मार्मिक गीतों के उद्धरणों से नई चेतना के उस स्वरूप को, जो लोकगीतों में उभरा है, रोचक ढंग से इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

दसवें अध्याय में 'पवाड़ा' महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोक-काव्य चर्चा का विषय है। आरम्भ में 'पवाड़ा' की विविध व्युत्पत्तियों की चर्चा है, फिर महाराष्ट्री 'पवाड़े' पर कुछ प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें अध्याय से अठारहवें तक लोक-साहित्य, विशेषतः लोकगीतों में मिलने वाले विशेष विषयों की चर्चा है—बारहमासी, सती-प्रथा, नारी पर विचार तीन अध्यायों में; नर्मदा उपत्यका के गीत, भीलों के विवाह के गीत, कंजरों के गीत आगे के तीन अध्यायों में, तब मालवा का एक प्रसिद्ध गीत 'बाला बऊ'—इस प्रकार १७वें अध्याय तक विशिष्ट विषयों अथवा विशिष्ट प्रकार और क्षेत्र के गीतों का परिचय दिया गया है। १८वें अध्याय में क्रम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बद्ध लोक-कथा की परिभाषा और परिचय दिया गया है। १६वें में 'लोक-नाट्य' शीर्षक के अन्तर्गत नाटकों के लौकिक मूल पर प्रकाश डालते हुए आन्ध्र, महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, राजस्थान, ब्रज, मालवा आदि के लोक-नृत्य और लोक-रंगमंच के स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। बीसवाँ अध्याय लोकोक्ति-साहित्य पर है, २१वां 'प्रहेलिका-साहित्य' पर। दोनों ही अत्यन्त संक्षिप्त और परिचयात्मक हैं। २२वाँ अध्याय महत्त्वपूर्ण है। इसमें लोकवार्ता-शास्त्र सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री एक स्थान पर मिल जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने इस छोटी-सी पुस्तक द्वारा 'गागर में सागर' भरने की चेष्टा की है। इसमें 'लोक-साहित्य' के विविध अंगों का परिचय ही नहीं दिया, उसे शास्त्रीय स्तर पर पहुँचाने की भी चेष्टा की है, और भारतीय लोक-साहित्य की प्रमुख विशेषताओं को भी उभारकर दिखाने का प्रयत्न किया है। लेखक का मन गीतों की ओर विशेष आकर्षित रहा है, फलतः अधिकांश अध्याय गीतों से ही सम्बन्धित हैं। वस्तुतः इन्हें अध्याय नहीं कह सकते, लेखक ने कहा भी नहीं। ये तो निबन्ध हैं जो भिन्न-भिन्न विषयों पर सुविधानुसार लिखे गए हैं। अतः विविधता तो भरपूर है पर परिपूर्णता उतनी नहीं। कहानियों पर भी प्रथम एक परिचयात्मक निबन्ध होता तो बहुत अच्छा रहता। पुस्तक का उद्देश्य सम्भवतः भारतीय लोक-साहित्य का परिचय देना ही रहा है। उसमें लेखक सफल हुआ है, वस्तुतः उसने रोचक होने की भी पर्याप्त चेष्टा की है। इस पुस्तक का अवश्य ही स्वागत होगा। यह इस समय की आवश्यकता की पूर्ति करती है।[1]

डॉ० शम्भूनाथसिंह

'साहित्य-वार्ता' और 'आलोचना के सिद्धान्त'

हिन्दी में इस समय समीक्षात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन सबसे अधिक हो रहा है। इस आधिक्य का कारण चाहे जो भी हो, किन्तु उसका परिणाम हिन्दी-साहित्य की उन्नति की दृष्टि से बहुत शुभ नहीं दिखाई पड़ रहा है। आलोचना के नाम पर आज दिन जो ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं उनमें से अधिकतर ऐसी अधकचरी और अशुद्ध सामग्री प्रस्तुत करते हैं[2] जिससे साहित्य के विद्वानों को तो कोई लाभ हो ही नहीं सकता, उल्टे साहित्य के नये विद्यार्थियों की अत्यधिक हानि हो रही है।

मेरे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में इस समय अच्छी समीक्षात्मक पुस्तकें बिलकुल नहीं प्रकाशित हो रही हैं। वर्ष में दो-चार अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित हो जाती हैं। ऐसी कोई विचारोत्तेजक और ज्ञानवर्द्धक पुस्तक जब हाथ लग जाती है तो उसे पढ़कर जितना हर्ष होता है उतना ही दुःख किसी जाने-माने

१. लेखक, श्याम परमार; प्रकाशक, सत्येन्द्र।
२. 'साहित्य-वार्ता'—ले०, श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', प्रकाशक, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

विद्वान् की ऐसी पुस्तक[1] को पढ़कर होता है, जो केवल पैसा कमाने की दृष्टि से संकलित सामग्री और अधूरे ज्ञान के आधार पर लिखी गई होती है या जिसमें देशी-विदेशी साहित्य-शास्त्रियों के मतों को बिना पचाये उगल दिया गया रहता है। लेखक के 'बड़े नाम' से प्रभावित होकर किसी पुस्तक को पढ़ने पर जब उस श्रम का यथोचित लाभ नहीं प्राप्त होता तो काफ़ी झुँझलाहट होती है और समीक्षा-साहित्य के भविष्य के विषय में बहुत निराशा होने लगती है। इन दोनों प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो समीक्षात्मक ग्रन्थ सम्प्रति मेरे सम्मुख हैं—पहला श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का 'साहित्य-वार्ता' और दूसरा व्योहार राजेन्द्रसिंह का 'आलोचना-के सिद्धान्त'। इन दोनों ही ग्रन्थों के लेखक हिन्दी के पुराने और प्रख्यात साहित्यिक हैं। किन्तु इनमें से प्रथम लेखक के ग्रन्थ को पढ़कर जितनी आशा बँधती है, द्वितीय लेखक के ग्रन्थ को पढ़कर उतनी ही निराशा भी होती है।

'साहित्य-वार्ता' में 'गिरीश' जी के समय-समय पर लिखे २६ निबन्ध संकलित हैं। इनमें से तीन व्यक्तिव्यंजक या रचनात्मक निबन्ध हैं और एक परिचयात्मक निबन्ध है, जिसमें लेखक ने अपने अप्रकाशित महाकाव्य 'तारक-वध' का आलोचनात्मक ढंग से विज्ञापन किया है। व्यक्तिव्यञ्जक निबन्धों में व्यंग की प्रधानता है। आज साहित्य के क्षेत्र में अवसरवादी, यश-लोलुप और सिद्धान्तहीन व्यक्तियों की ही पूजा हो रही है, सच्चे साहित्य-साधक प्रायः ऐसे नेता-साहित्यिकों के राजनीतिक दावपेंच के शिकार होते रहते हैं। 'साहित्य-वार्ता' और 'आनन्द-वर्द्धिनी समिति' में इसी प्रवृत्ति पर चोट की गई है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आज अनगिनत 'सच्चिदानन्द शर्मा' हैं जिनमें से यहाँ एक शर्माजी का ही शील-निरूपण किया है। अभी अन्य कई प्रकार के 'शर्मा' लोग भी हैं जिनकी ओर यदि गिरीशजी का ध्यान जाय तो साहित्य का परम उपकार होगा। ये दोनों निबन्ध तो साहित्य से सम्बन्धित होने के कारण इस निबन्ध-संग्रह में खप जाते हैं, किन्तु 'किराये का मकान' शीर्षक निबन्ध का मेल संग्रह के अन्य निबन्धों से नहीं बठ पाता। 'तारक-वध'-सम्बन्धी निबन्ध तो इसमें व्यर्थ ही रखा गया, क्योंकि जब तक वह काव्य प्रकाशित नहीं हो जाता, तब तक कवि के तत्सम्बन्धी वक्तव्य का विज्ञापन के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं हो सकता। आलोचना तो उसे कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कवि स्वयं अपनी कृति की समीक्षा तटस्थ होकर शायद नहीं लिख सकता।

शेष २२ निबन्धों में से कुछ में साहित्यिक और सांस्कृतिक विचारों तथा सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है और कुछ व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में आते हैं। 'मेरी साहित्यिक मान्यताएँ' शीर्षक निबन्ध में सूत्र-रूप में लेखक के साहित्यिक सिद्धान्तों का समावेश हो गया है। इस निबन्ध में लेखक ने प्रगतिवाद में अपनी आस्था प्रकट की है। किन्तु प्रगतिवाद की उसने जो परिभाषा दी है वह उसका अपना आविष्कार है, क्योंकि प्रगतिवाद का आधार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन है जिसे अपूर्ण मानकर वह उसे अद्वैतवादी आध्यात्मिक दर्शन से संयुक्त करना चाहता है। इस आध्यात्मिक प्रगतिवाद के जोश में वह यहाँ तक कह देता है कि "अज्ञात के रहस्य में मनुष्य का प्रवेश करना उसका सबसे बड़ा पराक्रम है। रहस्योन्मुखता जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है।" इस तरह 'साहित्य-वार्ता' का लेखक एक ही साथ दो

१. 'आलोचना के सिद्धान्त', ले० व्योहार राजेन्द्रसिंह; प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोधी दर्शनों—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और अद्वैतमूलक रहस्यवाद—में विश्वास करता है। पर क्या गिरीशजी जैसे सुधी और चिन्तक लेखक को यह बताने की आवश्यकता है कि दर्शन तर्क का विषय है जिसमें असंगति और तर्कहीनता के लिए कोई स्थान नहीं होता। इस असंगतिपूर्ण और अन्तर्विरोधी मान्यता का कारण एक ओर तो लेखक का अपनी सांस्कृतिक परम्परा और हिन्दू-संस्कारों के प्रति उत्कट प्रेम है और दूसरी ओर उसका मानवतावादी हृदय तथा कुछ-कुछ प्रगतिवादी कहलाने का लोभ है।

किन्तु लेखक अपनी मान्यता के अन्तर्विरोध से सम्भवतः शीघ्र ही अवगत हो गया है, इसीलिए उसने संग्रह के दूसरे निबन्ध 'प्रगतिवाद' में प्रगतिवादी विचारधारा की सीमाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है और यह घोषणा की है कि "**प्रगतिवाद ने···व्यक्ति की सत्ता ही मिटा दी है···व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लगने वाले प्रतिबन्धों के प्रति अपना विरोधी स्वर ऊँचा करना साहित्य का धर्म है। अपने इस धर्म का पालन करके साहित्य मानव की वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में सामञ्जस्य उपस्थित करता चलता है।**" इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक व्यक्ति और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण उन्नति या विकास की प्रक्रिया को ही प्रगतिवाद मानता है और उस प्रक्रिया के पीछे काम करने वाले दार्शनिक, आर्थिक या राजनीतिक सिद्धान्तों को वह महत्त्व नहीं देता, अर्थात् यदि पूँजीवाद द्वारा आज इस प्रकार का विकास सम्भव है तो वह उसे भी प्रगतिशील शासन-पद्धति मानेगा, और यदि समाजवादी शासन-तन्त्र व्यक्ति-स्वतन्त्र्य का अपहरण करते हैं तो वह उसे अप्रगतिशील कहेगा। पूँजीवाद और समाजवाद में निहित सिद्धान्तों और सम्भावनाओं की परीक्षा करके यह सिद्ध करने की आवश्यकता वह नहीं समझता कि इनमें से वास्तविक रूप से प्रगतिशील कौन है जिसे अपनाकर व्यक्ति और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण प्रगति हो सकेगी। इससे स्पष्ट है कि लेखक का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक नहीं बल्कि फलान्वेषी है, दार्शनिक नहीं बल्कि उपयोगितावादी है। यदि ऐसी बात है तो गिरीशजी इस प्रगतिवाद के झमेले में व्यर्थ ही पड़े। उन्हें तो टालस्टाय और महात्मा गांधी के 'उपयोगितावाद' का सहारा लेना चाहिए था, क्योंकि उन्होंने अनेक निबन्धों में अपने को गांधीवादी कहा है। फिर उनके उपर्युक्त कथन से यह भी ज्ञात होता है कि वे प्रगतिवाद की स्थिति किसी राजनीतिक या दार्शनिक मतवाद में न मानकर साहित्य में मानते हैं और उसे साहित्य के धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। क्या यह एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं है? साहित्य का धर्म प्रगति है या मानव के सौन्दर्य-बोध की परितृप्ति? प्रगति और सौन्दर्य-भावना के समन्वित रूप का ही अभिधान साहित्य है, इस सत्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी है। वे मार्क्सवादी प्रगतिवाद को युगसत्य या खण्ड-सत्य मानते हैं और एक भारतीय प्रगतिवाद की कल्पना करके कहते हैं कि "**मैं भारतीय प्रगतिवाद को अधिक रचनात्मक, अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक संजीवन-प्रद और पूर्णसत्य के अधिक निकट मानता हूँ।**" उनके अनुसार भारतीय प्रगतिवाद वह है "**जिसमें समस्त पक्षों, समस्त वादों का समन्वय विद्यमान है।**" वे इसी प्रगतिवाद को साहित्य में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। प्रश्न यह उठता है कि कोई ऐसा भारतीय प्रगतिवाद है भी और यदि है तो उसका सैद्धान्तिक स्वरूप और उसकी उपलब्धियाँ क्या हैं? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस भारतीय प्रगतिवाद के आविष्कर्ता स्वयं गिरीशजी हैं। अतः उन्हें अपने इस नये 'वाद' की विस्तृत और सप्रमाण व्याख्या तथा प्रचार करना चाहिए। तभी उसके सम्बन्ध में व्यापक विचार-विमर्श सम्भव हो सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संग्रह का एक अन्य निबन्ध है 'विश्व-संस्कृति बनाम भारतीय संस्कृति', जो समस्त प्रगतिवादी विचारों के बाह्य आवरण को दूर फेंककर लेखक को उसके वास्तविक रूप में उपस्थित करता है। गिरीशजी द्विवेदी-युग या पुनरुत्थान-युग के लेखक हैं, अतः आज के क्रान्तिकारी युग में भी वे अपने पूर्व संस्कारों और पुनरुत्थानवादी विचारों को छोड़ नहीं सके हैं। इसी कारण वे संस्कृति को देश-काल के भेद के अनुरूप निरन्तर प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानते हुए भी भारतीय संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ संस्कृति घोषित करते हैं और साहसपूर्वक यह कहते हैं "भारतीय **संस्कृति के स्वरूप पर हम विचार करेंगे तो वह इसी विश्व-संस्कृति के साथ मेल खाती हुई दिखाई पड़ेगी; उक्त विश्व-संस्कृति और भारतीय संस्कृति को हम एक-दूसरे से सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं।**" इस कथन में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यं' की साम्राज्यवादी अथवा संकीर्ण राष्ट्रवादी भावना निहित है जो हिन्दू पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति का द्योतक है। सम्भवतः लेखक ने संस्कृति का अर्थ भी अच्छी तरह नहीं समझा है, क्योंकि निबन्ध के प्रारम्भ में वह संस्कृति की परिभाषा बताते हुए कहता है कि "**मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक साधना के परिणाम जिन कलात्मक माध्यमों द्वारा व्यक्त होकर स्थूल पशुत्व से उसे मुक्त रूप में उपस्थित करते हैं उनकी समष्टि को संस्कृति कहते हैं।**" इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति कलात्मक माध्यमों की समष्टि है, अतः धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति आदि का उसमें कोई स्थान नहीं है। किन्तु पूरे निबन्ध में लेखक ने दर्शन, धर्म, आचार, राजनीति आदि के सम्बन्ध में ही विचार किया है और कलात्मक माध्यमों की कहीं चर्चा भी नहीं की है। वस्तुतः संस्कृति मनुष्य की सर्वोत्तम जीवन-साधनाओं की निरन्तर विकासमान परिणति है, जो धर्म, दर्शन, कला, शास्त्र, विज्ञान आदि के स्थूल रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती चलती है, अर्थात् वह स्थूल जीवन-विधियों के मूल में निहित सूक्ष्म जीवन-दृष्टि है। यदि विश्व-मानव को एक होना है तो उसे जीवन-दृष्टि के देशगत और कालगत विशेषणों तथा उपाधियों का मोह त्यागकर समान भूमि पर समान रूप में उपस्थित होना होगा। तभी विश्व-संस्कृति का उदय होगा और उस समय पाश्चात्य और पौर्वात्य, भारतीय और यूनानी, प्राचीन और नवीन के भेद तिरोहित हो चुके रहेंगे। क्या गिरीश जी की 'भारतीय संस्कृति' भी कभी इस स्थिति को प्राप्त कर सकी है या कर सकेगी ?

संग्रह के अन्य निबन्धों में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों और लेखकों तथा उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया गया है। इनमें से कुछ निबन्ध तो निस्सन्देह बहुत ही सन्तुलित और विचारणीय हैं, किन्तु कुछ में लेखक के पूर्वग्रह या वैयक्तिक रुचि के कारण तटस्थ और वस्तुगत मूल्यांकन नहीं हो सका है। सन्तुलित निबन्धों में 'श्री सुमित्रानन्दन पन्त', 'श्री हरिऔध' और 'यदि मैं कामायनी लिखता' सर्वश्रेष्ठ हैं। 'श्री हरिऔध' शीर्षक निबन्ध में लेखक ने हरिऔधजी के समस्त साहित्य का बहुत निष्पक्ष और नये ढंग से आकलन किया है। लेखक का यह कथन सर्वथा उचित है कि "**भारतेन्दु के समय से लेकर द्विवेदीजी के समय तक जितने भी कवि प्रकाश में आए उनमें हरिऔधजी की प्रतिभा ही सबसे अधिक प्रगतिशील, प्रखर और रचनात्मक थी।**" इस निबन्ध में हरिऔध की प्रगतिशील, रूढ़ि-विद्रोही और प्रयोगशील प्रवृत्ति की सप्रमाण व्याख्या की गई है। लेखक ने हरिऔध की विशेषताओं का ही नहीं, उनके दोषों का भी सम्यक् विवेचन किया है, जो उसकी तटस्थ आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। इसी प्रकार 'श्री सुमित्रानन्दन पन्त' शीर्षक निबन्ध में भी पन्तजी के साहि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्यिक व्यक्तित्व और विचारधारा के विकास-क्रम का बहुत ही वैज्ञानिक तथा सन्तुलित रूप में विश्लेषण किया गया है, यद्यपि उसका पहला अनुच्छेद बहुत विवादास्पद है। उसमें लेखक की स्थापना यह है कि "हिन्दी-साहित्य अधिकांश में प्रतिक्रियाओं के अधीन होकर अपना विकास पाता रहा है।" प्रायः यही विचार इस संग्रह के एक अन्य निबन्ध 'हिन्दी काव्य की प्रतिक्रियाएँ और प्रवृत्तियाँ' में भी व्यक्त किये गए हैं। किन्तु श्रेष्ठ साहित्य प्रतिक्रिया-जन्य नहीं होता। यदि हिन्दी का अधिकांश साहित्य प्रतिक्रिया-जन्य है तो वह श्रेष्ठ नहीं हो सकता। पर कौन तटस्थ आलोचक इसे मानने को तैयार होगा? साहित्य की मूल प्रेरणा प्रतिक्रियात्मक नहीं, सर्जनात्मक होती है, जो युगीन परिवेश और सांस्कृतिक परम्परा की देन होती है। इस भूमिका-भाग के अतिरिक्त निबन्ध के अन्य अंशों में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ लेखक से सहमत होना कठिन है। लेखक ने पन्तजी की गद्यात्मक, नीरस और उपदेशात्मक कविताओं की ओर ध्यान देकर 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की सभी कविताओं को 'काव्यसुलभ' 'सरलता से युक्त' और 'मनोहर' घोषित किया है। साथ ही उसने पन्त के मानवतावादी स्वरूप के समर्थन के जोश में उनके विचारगत अन्तर्विरोधों का भी उल्लेख नहीं किया है।

'यदि मैं कामायनी लिखता' शीर्षक निबन्ध भी पर्याप्त विचारपूर्ण और कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने 'कामायनी' की अन्यतम विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसके महाकाव्यत्व और नायक-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ दोष भी ढूँढ़े हैं। उनकी आपत्तियाँ प्रमुखतः तीन हैं—(१) मानव-जीवन की समस्या के सम्बन्ध में कामायनी का उपचार मूलतः वैयक्तिक है। (२) उसमें जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं है। (३) नायक-तत्त्व-समन्वित श्रद्धा अपनी शक्तिहीन दया और सहानुभूति के कारण पारिवारिक सीमा के भीतर ही संकुचित रह गई है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'कामायनी' नये ढंग का प्रतीकात्मक और प्रगीतात्मक महाकाव्य है, अतः उसकी परीक्षा पुराने मानदण्डों से नहीं होनी चाहिए। 'कामायनी' का धरातल वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है, क्योंकि उसका लक्ष्य मानव-जाति को अशान्ति, दुःख और वैषम्य से मुक्ति दिलाना और चारित्रिक विकास के माध्यम से नवीन मानव-समाज की रचना करना है। श्रद्धा महाकाव्य की नायिका ही है, नायक नहीं, अतः उसका कार्य नायक की फल-प्राप्ति में अधिकाधिक योग देना है। इड़ा उपनायिका है। इन दोनों का चरित्र एक-दूसरे का पूरक है, क्योंकि श्रद्धा आत्मिक शक्ति का प्रतीक है और इड़ा भौतिक या सामाजिक शक्ति का। इन दोनों शक्तियों की अभिव्यक्ति हृदय और बुद्धि के माध्यम से होती है। अतः यदि प्रसादजी श्रद्धा से आधुनिकयुगीन क्रान्तिकारी नेत्रियों की तरह सारस्वत प्रदेश की प्रजा का नेतृत्व कराते तो उनकी रूपक-योजना ही नष्ट हो जाती। श्रद्धा की करुणा शक्तिहीन नहीं है। क्या गिरीशजी आत्मिक शक्ति को शक्ति नहीं मानते? तब तो उनकी भारतीय संस्कृति की इमारत ही ढह जायगी।

शेष निबन्धों में 'गुप्तजी का साकेत', 'आधुनिक हिन्दी-काव्य का विद्रोही स्वर', 'मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में राधाकृष्ण', 'अज्ञेयजी का नदी के द्वीप' तथा 'हिन्दी-उपन्यास में सृजनात्मक संहरण' उतने महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी विचारपूर्ण तथा व्यावहारिक समीक्षा के गुणों से युक्त हैं। 'गुप्तजी का साकेत' में लेखक ने 'साकेत' की अति संक्षिप्त किन्तु निष्पक्ष आलोचना की है। 'आधुनिक हिन्दी काव्य का विद्रोही स्वर' में हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दिनकर के काव्य के रूढ़िविरोधी तत्त्वों और क्रान्तिदर्शी विचारों की संक्षिप्त विवेचना की गई है। 'मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में राधाकृष्ण' बहुत ही चिन्तनपूर्ण तथा विचारोत्तेजक निबन्ध है। उसमें राधाकृष्ण की माधुर्य-भाव से की जाने वाली उपासना के मूल में निहित आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों तथा कृष्ण, राधा, गोप, गोपी आदि के रूप में व्यक्त उनके प्रतीकों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'हिन्दी-उपन्यास में सृजनात्मक संहरण' में लेखक ने हिन्दी-उपन्यास के विकास-क्रम का संकेत करते हुए उसके यथार्थवादी स्वरूप का विश्लेषण किया है और यथार्थवाद के संहारात्मक पक्ष से अधिक उसके निर्माणात्मक पक्ष पर जोर दिया है। उसके अनुसार प्रगतिवादी या मनोविश्लेषण-शास्त्रीय यथार्थवादी उपन्यासों में मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के संहार और मानवीय गुणों के विकास की प्रवृत्ति उतनी नहीं मिलती। लेखक के इस कथन से सम्भवतः बहुत से लोग न सहमत हों।

संग्रह के अन्य निबन्ध सामान्य हैं। उनमें से कुछ—'हमारे रचनाकार और आलोचक', 'विवेचना की आवश्यकता', 'उर्दू देश भाषा की ही एक शैली' आदि—या तो भाषण हैं या भाषण वाली व्यास शैली में लिखे गए हैं। अतः उनमें आलोचनात्मक उत्कृष्टता, गम्भीरता तथा समाहार-शक्ति का अभाव है। कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनकी व्याख्यात्मकता टीका-भाष्य की पद्धति के निकट पहुँच गई है, जैसे 'निराला का तुलसीदास' और 'आचार्य शुक्ल का काव्य-सिद्धान्त'। 'इन्दुमती', और 'दिनकरजी का कुरुक्षेत्र' पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखी गई पुस्तक समीक्षा प्रतीत होते हैं। शेष निबन्धों में भी पत्रकारिता के गुण ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। किन्तु कुल मिलाकर इस निबन्ध-संग्रह को उत्तम कोटि का समीक्षात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें लेखक का गहन चिन्तन, निर्भीक निर्णय-वृत्ति और सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति का परिचय सर्वत्र मिलता है।

दूसरी पुस्तक 'आलोचना के सिद्धान्त' को पढ़कर घोर निराशा हुई। हिन्दी में साहित्य-शास्त्र के सामान्य ज्ञान के लिए बाबू श्यामसुन्दरदास-कृत 'साहित्यालोचन', बाबू गुलाबराय-कृत 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत 'साहित्य का साथी' आदि पुस्तकें बहुत ही उपयोगी और सुन्दर हैं। यदि कोई लेखक उनके बाद साहित्य-शास्त्र पर नया ग्रन्थ लिखता है तो उसे उक्त ग्रन्थों से अधिक सामग्री और नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिए अथवा साहित्य-शास्त्र के अलग-अलग अंगों पर विशेष और गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करना चाहिए। तभी उसकी पुस्तक की कोई उपयोगिता हो सकती है। हाँ, विद्यार्थियों के उपयोग के लिए सस्ते 'नोट्स' लिखकर पैसा कमाना हो तो दूसरी बात है। यह बात भी समझ में नहीं आती कि एक ही प्रकाशक एक विषय पर एक ही सामग्री से युक्त कई-कई पुस्तकें क्यों प्रकाशित करता है। आत्माराम एण्ड सन्स के यहाँ से साहित्य-शास्त्र पर श्री गुलाबराय की तीन पुस्तकें 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'साहित्य समीक्षा' तथा चौथी सुमन और मल्लिक की पुस्तक 'साहित्य-विवेचन' पहले ही से प्रकाशित हो चुकी थीं। फिर उसी विषय की यह पाँचवीं पुस्तक, जो उक्त पुस्तकों से किसी भी अर्थ में अच्छी नहीं कही जा सकती, प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता थी? इस पुस्तक में कोई भी ऐसी विशेषता नहीं दिखाई पड़ती जो गम्भीर पाठकों का ध्यान आकर्षित करे अथवा जो लेखक को सुलझा आलोचक तो दूर, गम्भीर अध्येता भी सिद्ध कर सके। 'आलोचना के सिद्धान्त' दो भागों में विभक्त हैं—प्रथम भाग में नौ अध्यायों में भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के विविध मत-मतान्तरों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय दिया गया है, दूसरे भाग में आलोचना के विकास के सम्बन्ध में बारह अध्यायों में विचार किया गया है। प्रश्न उठता है कि यदि पुस्तक का नाम 'आलोचना के सिद्धान्त' रखा गया है तो उसमें आलोचना के विकास का इतिहास देकर उसका कलेवर बढ़ाने का क्या प्रयोजन है ? क्या इस प्रकार भ्रामक नाम देकर पाठकों को धोखा देना उचित है ? किन्तु पूरी पुस्तक पढ़ जाने पर बात स्पष्ट हो जाती है कि इस ग्रन्थ में न तो आलोचना के सिद्धान्तों का ही सम्यक् विवेचन हुआ है, न आलोचना का विकास ही पूर्ण रूप में दिखाया गया है। उदाहरणार्थ प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में, जिसका शीर्षक है 'आलोचना के दृष्टिकोण', प्रारम्भ के कई पृष्ठों में शास्त्र और साहित्य तथा गद्य और पद्य का अन्तर तथा गद्य के विकास का इतिहास दिया गया है, फिर साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन अथवा उसकी उत्पत्ति के कारणों से सम्बन्धित कुछ मतों का बहुत ही सामान्य परिचय दिया गया है और बीच-बीच में साहित्य की प्रवृत्तियों में परिवर्तन, कला और कलाकार, यथार्थवाद तथा समीक्षा की तुलनात्मक प्रणाली के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। इस तरह इस अध्याय का इसके शीर्षक से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें साहित्य के मूल उत्स, विकास, उसका उद्देश्य, साहित्य के प्रकार तथा आलोचना-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों का विचित्र घालमेल दिखाई पड़ता है। 'भारतीय आलोचना-शास्त्र' शीर्षक दूसरे अध्याय में केवल साढ़े तीन पृष्ठों में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदायों का विश्लेषण कर दिया गया है, जिससे पाठक के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ सकता। इससे भी विचित्र तीसरा अध्याय है, जिसमें काव्य के स्वरूप, कारण, उद्देश्य और आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों को दो-दो, चार-चार पंक्तियों में कह दिया गया है। फिर प्रथम अध्याय में ही क्या ये बातें नहीं समाविष्ट हो सकती थीं ? चतुर्थ अध्याय का शीर्षक तो है 'काव्य के भेद', किन्तु उसमें काव्य की कोटियों तथा शब्द-शक्तियों का अत्यन्त अधूरा परिचय दिया गया है। इसी प्रकार प्रथम भाग के सभी अध्याय नितान्त अव्यवस्थित, योजनारहित, अपूर्ण और अधकचरी सामग्री से भरे हुए हैं।

दूसरे भाग का शीर्षक है 'आलोचना का विकास', किन्तु इसे पढ़कर यही लगा कि इसका शीर्षक होना चाहिए 'पाश्चात्य कला-समीक्षा का विकास', पर पाश्चात्य कला-समीक्षा का भी इसमें क्रमिक, व्यवस्थित और पूर्ण परिचय नहीं दिया गया है। प्रारम्भ के सात अध्यायों में अफलातून, अरस्तू, एडिसन, लेसिंग और कजिन्स के साहित्य-कला-सम्बन्धी विचारों की उद्धरणी उपस्थित की गई है। इस तरह ये अध्याय मुख्यतः साहित्य से नहीं, सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित हैं। यदि समीक्षा-शास्त्र का अर्थ सौन्दर्यशास्त्र मान भी लिया जाय तो भी उस क्षेत्र के लिए उपर्युक्त लेखकों के नाम पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि आधुनिक युग के सौन्दर्यशास्त्रियों—ग्रोस, हर्न, टालस्टाय, क्लाइव बेल, मारिस, पार्किन, क्रोचे, फ्रायड, जार्ज सन्तायाना, आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट रीड, काडवेल आदि—के मतों का इसमें कहीं उल्लेख भी नहीं किया गया है। आधुनिकयुगीन साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों तथा उसके विकास का परिचय देने की तो इसमें कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गई है। पूरी पुस्तक के प्रायः तीन-चौथाई भाग में लेखक ने दूसरों के मतों और विचारों का ही विवरण और उद्धरण दिया है, अतः समीक्षा-सम्बन्धी उसकी निजी मान्यताओं और विचारसरणि का कुछ पता नहीं चलता। हिन्दी-साहित्य-समीक्षा की उपलब्धियों की ओर भी लेखक ने दृष्टि डालने की आवश्यकता नहीं समझी है। लेखक को हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा का कितना ज्ञान है यह इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि भूमिका में हिन्दी-समीक्षकों का नाम गिनाते हुए उसने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० जगन्नाथ शर्मा, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रो० विनयमोहन शर्मा आदि सिद्ध आलोचकों का नामोल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा है। पुस्तक प्रूफ की अशुद्धियों से भरी हुई है। जहाँ नलिन विलोचन शर्मा ललित विलोचन, अभिनव गुप्त अभिनय गुप्त और रुद्रट रूपट हो गए हों, वहाँ प्राण का पुराण, गुणाः का गुणः, दुलर्भ लोके का दुर्लभे लोक, कारणम् का करणम्, असम्बद्ध का असम्भव, इलियड का इलियट, वस्तु का वस्तू हो कोई बड़ी बात नहीं है। पता नहीं वह शुभ दिन कब आयेगा जबकि हिन्दी के प्रकाशक अपने प्रकाशनों का स्तर अंग्रेजी के प्रकाशकों के समान ऊँचा उठा सकेंगे।

रामपूजन तिवारी

हिन्दी-साहित्य पर सूफ़ीमत का प्रभाव

प्रस्तुत पुस्तक में सूफ़ीमत को दृष्टि में रखकर हिन्दी-साहित्य का अध्ययन किया गया है। विद्वान् लेखक के मत से हिन्दी-साहित्य पर सूफ़ीमत का व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है। लेखक ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सूफ़ीमत से केवल निर्गुणिया सन्त कबीर आदि ही प्रभावित नहीं हुए, बल्कि सगुणोपासक और विशेष रूप से कृष्णभक्त मीरा, सूर आदि भी प्रभावित हुए हैं। लेखक के मत से कृष्णाश्रयी शाखा में रहस्य तथा मधुर भावना का प्रवेश सूफ़ीमत के कारण ही हुआ। छायावादी और रहस्यवादी आधुनिक कविता भी इसके प्रभाव से अछूती नहीं रही।

चूँकि सूफ़ीमत को दृष्टि में रखकर यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है इसलिए लेखक ने सूफ़ीमत पर प्रथम पाँच अध्यायों में विस्तार से प्रकाश डाला है। बाद के अध्यायों में हिन्दी-सूफ़ी काव्य के विश्लेषण द्वारा कई परिणाम निकाले गए हैं।

सूफ़ीमत का अध्ययन अपने-आपमें उलझा हुआ है, अतएव मतभेद की गुञ्जायश उसमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। सूफ़ीमत के अध्ययन करने वालों को पद-पद पर इन मतभेदों का परिचय मिलता है, इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में प्रकट किये गए विचारों तथा अन्य तथ्यों और परिणामों से हर समय सहमत नहीं होना कुछ अस्वाभाविक नहीं होगा।

'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'सोफिया' से बहुतों ने की है और इसी व्युत्पत्ति को लेखक ने स्वीकार किया है **"क्योंकि सूफी लोग अनुभवसिद्ध ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं। सोफ़िया, सूफी और स्वभास (संस्कृत) शब्दों में बड़ा सामञ्जस्य भी है।"**[1] वास्तव में 'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने भी मत हैं उनमें दो बातों का ध्यान रखा गया है—एक तो यह कि उस शब्द से सूफ़ियों के व्यक्तित्व, उनके आचार-विचार, उनकी मान्यता और विश्वास का आभास मिले और दूसरे भाषा की दृष्टि से 'सूफ़ी' शब्द से उसका

१. पृ० १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्य हो। इसीलिए 'अहल अल-सुफ्फा', 'सफा अव्वत्व', 'सोफिस्ता', 'सूफ़', 'सोफिया' आदि शब्दों से इसकी व्युत्पत्ति करने की कोशिश की गई है। लेकिन भाषाशास्त्री भाषा की दृष्टि से 'सूफ़' से ही 'सूफ़ी' शब्द का बनना मानते हैं। उनका कहना है कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से 'सूफ्फा', 'सफ्फा', 'सोफिस्ता' अथवा 'सोफिया' शब्द से 'सूफ़ी' शब्द नहीं बन सकता। अतएव उनकी दृष्टि में 'सूफ़' शब्द से ही इसका बनना मानना उचित है। अधिकांश लोग इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं।

'सूफ़' शब्द का अर्थ 'ऊन' है। उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए अन्य और तर्क उपस्थित किये जाते हैं। नोएल्दके (सन् १८६४ ई०) ने दिखलाया है कि इस्लाम के आविर्भाव के बाद की प्रथम दो शताब्दियों में मोटे ऊनी वस्त्रों का प्रचलन साधारण जनता में भी था, लेकिन विशेष रूप से इसका व्यवहार फक़ीरों-सा जीवन बिताने वाले लोगों में ही था। ऊनी चोग़े का व्यवहार उस समय के साधक करते थे और एकान्त जीवन बिताया करते थे। बहुत लोगों का कहना है कि ईसाई सन्तों से सूफ़ी साधकों में इस प्रकार के चोग़े का व्यवहार आया। इसका प्रमाण मिलता है कि सन् ७१६ ई० में उजले ऊन के चोग़े का व्यवहार विदेशी माना गया है और हसन अल-बसरी के एक शिष्य फ़रकद सबखी को इसके लिए बुरा-भला कहा गया है।

इसी प्रकार से सूफ़ियों के 'फ़ना' के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। 'फ़ना' के सिद्धान्त को बहुतों ने बौद्धों के 'निर्वाण' के सिद्धान्त जैसा माना है और बहुतों को ऐसा मानने में संकोच है। निकोल्सन दोनों में समानता नहीं स्वीकार करते। निकोल्सन का कहना है कि सूफ़ियों की भावाविष्टावस्था का उल्लास, जबकि वह परमात्मा के सौन्दर्य के ध्यान में लगा हुआ रहता है, अर्हत की नीरस बौद्धिक स्थिरता के प्रतिकूल है। 'सूफ़ीमत और हिन्दी-साहित्य' के लेखक की दृष्टि में **"बौद्धों का निर्वाण यद्यपि फ़ना के अनुरूप-सा ही है, तथापि हम फ़ना को निर्वाण से एकरूपता नहीं दे सकते। निर्वाण केवल निषेधात्मक ही है, अर्थात् निजत्व की समाप्ति पर वासनाहीन समरूपता में निर्वाण है, जबकि दैवी सौन्दर्य के सहजानन्दी ध्यान में निजत्व का पूर्ण अवसान ही फ़ना है।"**[1] इस प्रकार से लेखक ने 'निर्वाण' को 'निषेधात्मक' माना है, जिसमें 'निजत्व' नहीं रह जाता, केवल 'वासनाहीन समरूपता' रह जाती है। यही निकोल्सन की 'नीरस बौद्धिक स्थिरता' है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि बौद्धों के 'निर्वाण' का रूप कालक्रम से परिवर्तित होता रहा है, वह केवल 'नीरस' या 'निषेधात्मक' ही नहीं रहा है। उसके क्रमिक विकास के इतिहास पर अगर दृष्टि डालें तो हम पाएँगे कि बौद्ध धर्म की ऐसी भी बहुत सी शाखाएँ थीं जिनकी भक्ति इस निष्प्राण और नीरस निर्वाण के प्रति नहीं थी। बहुतों ने बुद्ध को शाश्वत और अलौकिक माना तथा इस विचारधारा ने ईसा की पहली शताब्दी में इतना जोर पकड़ा कि उपनिषदों से प्रवाहित होकर इसमें बुद्ध को पूर्ण ब्रह्म माना जाने लगा। समन्तभद्र तथा वैरोचन के रूप में बुद्ध की पूजा होने लगी। इसके अलावा यह भी देखने को मिलता है कि बहुत सी शाखाओं ने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि तर्क द्वारा परम सत्ता को समझा जा सकता है। उन्होंने नानात्व को प्रपञ्च कहा और रहस्यवादियों के सहज ज्ञान से उसे गम्य माना। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में भी निर्वाण केवलमात्र नीरस और निषेधात्मक ही नहीं रह गया, बल्कि वह रहस्यवादी प्रवृत्ति

१. पृ० २६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भी प्रभावित हुआ और सबसे मज़ेदार बात यह है कि ये विश्वास महायानियों के हैं और महायान शाखा का पूरा प्रभाव फ़ारस के पूर्वी अञ्चलों पर था। अतएव अगर यह कहा जाय कि सूफ़ियों के 'फ़ना' और 'बक़ा' के सिद्धान्त बौद्धों की उस शाखा से प्रभावित हैं जिसने रहस्य-पर जोर दिया, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

लेखक के इस मत से भी सहमत होना कठिन है कि **"वास्तव में ईश्वर का सिंहासनारूढ़ होना और निर्णय के दिन अन्तिम रसूल के नेतृत्व में सबको प्रतिफल मिलना सूफ़ियों को मान्य नहीं।"**[1] जामी, मौलना रूमी, अत्तार आदि सूफ़ी साधक और कवियों के ग्रन्थों में सर्वत्र 'अर्श' और निर्णय के दिन की चर्चा है। वैसे सूफ़ी 'अन्तिम रसूल के नेतृत्व' को आवश्यक नहीं मानते। अतार के 'मन्तिक़ुत्तैर' में 'सिमुर्ग़' की कल्पना सिंहासनारूढ़ ईश्वर की है जिसे प्राप्त करने के लिए तीस पक्षी (साधक) पहुँचते हैं। इस प्रकार से और बहुत सी इसी प्रकार की अन्य बातों में मतभेद की पूरी गुञ्जायश है।

लेखक ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के छायावाद एवं रहस्यवाद को सूफ़ी मत से प्रभावित होना बतलाया है। **"आज छायावादी एवं रहस्यवादी कवि सर्वत्र उसी व्यापक ब्रह्म की छटा को छिटकी हुई देखता है। सूफ़ी भी यही कहते हैं कि सबमें उसीका जलवा है।"**[2] भारतीय विचारधारा एवं साहित्य से परिचित कोई भी इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होगा कि रहस्यवादी प्रवृत्ति का जन्मदाता भारतवर्ष ही है। इसे प्रायः विदेशी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ अधिक कुछ कहना अभिप्रेत नहीं। जहाँ तक छायावादी और रहस्यवादी कवियों के सूफ़ीमत से प्रभावित होने का प्रश्न है, सूफ़ीमत के सीधे पड़ने वाले प्रभाव को ढूँढ़ना कठिन है। आधुनिक हिन्दी-काव्य नाना विचारधाराओं से प्रभावित है। उनमें सूफ़ीमत भी हो सकता है। लेकिन लेखक ने महादेवी वर्मा की बहुत सी पंक्तियों को उद्धृत कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वे सूफ़ी साहित्य से प्रभावित हैं। एक जगह लेखक ने कहा है, **"....महादेवीजी उस असीम को किसी एक स्थान पर सीमित हुआ नहीं पातीं और न संसार को मिथ्या ही मानती हैं, वरन् सूफ़ियों की भाँति उसे विश्व में प्रकाशरूप प्रदर्शित हुआ ही मानती हैं। उन्हें इस विश्वात्मा का निश्चय तो है, परन्तु वह क्या है, कौन है, इसका पता नहीं...।"**[3] यहाँ पर लेखक ने एक प्रकार से उपनिषदों से प्रभावित विचारधारा को एकदम भुला दिया है। दूसरी बात यह है कि सूफ़ी भी संसार को मिथ्या मानते हैं। तीसरे, सूफ़ी साधक के मन में यह कभी नहीं रहता कि 'वह क्या है', कौन है।' ऐसा सोचना वह गुनाह मानता है या अपनी साधना की असफलता मानता है और फिर दृढ़ विश्वास के साथ अपनी साधना में रत होता है। 'सूफ़ी मार्ग' की एक-दो मंज़िलों तक वह निश्चय-अनिश्चय के बीच भटकता है, लेकिन अपने इस 'अनिश्चय' के लिए उसे पश्चाताप होता है। वह मुर्शिद की शरण लेता है, परमात्मा से प्रार्थना करता है कि जिसमें ऐसा न हो। महादेवी की उन पँक्तियों में सूफ़ी-साधक की दृष्टि नहीं है। अतएव लेखक के इस कथन को

---

१. पृ० ९१।
२. " २३२।
३. " २३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि "इस छायावाद और रहस्यवाद में स्पष्ट ही हम सूफ़ी भावना को देखते हैं"[१] स्वीकार कर लेना कठिन है।

न केवल आधुनिक हिन्दी-काव्य में ही ऐसा कोई प्रभाव परिलक्षित होता है बल्कि मध्ययुगीन भक्ति-काव्य में भी सूफ़ीमत के प्रभाव को स्वीकार करने में संकोच हो सकता है। अगर मधुर रस की भक्ति को सूफ़ियों से प्रभावित होना मान लें तो दक्षिण के आलवारों में इस प्रकार की भक्ति कहाँ से आई? जयदेव के 'गीतगोविन्द' में यह मधुर रस की सरस भक्ति कहाँ से आई? चैतन्य महाप्रभु ने इस प्रकार की भक्ति (मधुर रस की भक्ति) को कहाँ से पाया? तत्कालीन बंगला, आसामी, उड़िया, मराठी और गुजराती साहित्य में यह भक्ति कहाँ से आई? सूफ़ीमत के प्रभाव से ऐसा मानना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। ऐसी हालत में मीरा आदि की 'मधुर रस की भक्ति' का कारण अन्यत्र ढूँढ़ना समीचीन होगा।

इन मतभेदों के बावजूद भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि लेखक ने सूफ़ीमत की छान-बीन की है और साहसपूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन किया है। लेखक ने इस दिशा में काम करने वाले साहित्य के विद्यार्थियों को काफ़ी सोचने-विचारने के लिए सामग्री जुटा दी है।

अन्त में कुछ ऐसे वाक्यों के प्रयोग का निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है जो सुचिन्तित नहीं हैं, वैसे इस प्रकार के ग्रन्थों से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि उनमें प्रकट किये गए विचार सुचिन्तित और स्पष्ट हों। नमूने के तौर पर निम्नलिखित वाक्यों की परीक्षा की जा सकती है—

"यद्यपि शंकराचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन किया था, तथापि शिव की महत्ता को योगियों ने अंगीकृत किया।"[२]

"शिव का शिवत्व तो व्यस्त-सा दीख पड़ता है।"[३]

"वास्तव में यहाँ कुरान का अल्लाह ही ईश्वर बन गया है, जिसकी प्राप्ति में पौराणिक देवताओं का भी हाथ है।"[४]

"इस्लामी भावना से अद्वैत अब अपना रूप निखार रहा था, परन्तु इसमें प्रेम की मादक लहर ने अभिन्नता होते हुए भी ईश्वर को प्रियतम का रूप दे दिया था और साधना को मधुर बना दिया था[५]।"[६]

---

१. पृ० २२६।
२. " ८६।
३. " ८६।
४. " ६०।
५. " ३८।
६. लेखक, डॉ० विमल कुमार जैन; प्रकाशक, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दत्तात्रेय पाण्डेय

भागवत सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास में वैष्णव दर्शन का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी में इस दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले एक-दो ग्रन्थ इधर अवश्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इन पुस्तकों में इस दर्शन का साङ्गोपाङ्ग विवेचन नहीं पाया जाता। प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ पं० बलदेव उपाध्याय की कृति है, जिनसे हिन्दी के दार्शनिक पाठक सम्भवतः अपरिचित नहीं हैं। दर्शन के क्षेत्र में उपाध्यायजी के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। 'भारतीय दर्शन' के ऊपर आपको सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है। इसी प्रकार 'बौद्धदर्शन' भी हरजीमल डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत है।

'भागवत सम्प्रदाय' नामक प्रस्तुत पुस्तक में उपाध्यायजी ने वैष्णव धर्म के उद्‌गम और विकास की गाथा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का विवेचन करके बृहत्तर भारत में इस धर्म के व्यापक प्रभाव का वर्णन किया गया है। वैष्णव साधना की मीमांसा प्रस्तुत करके विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक की महत्ता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। इस ग्रन्थ की विषयसूची से ही इसकी व्यापकता का पता चल सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में बारह अध्याय हैं, जिसमें पहला अध्याय 'वैष्णव धर्म की महत्ता' के सम्बन्ध में है। इसमें वैष्णव धर्म के उन तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया गया है, जिनके कारण इसको इतनी महानता प्राप्त हुई है। विद्वान् लेखक ने बृहत्तर भारत—जावा, चम्पा, श्याम, कम्बोज और बालिद्वीप—में वैष्णव धर्म की विजय-गाथा का बड़ा सुन्दर तथा प्रामाणिक वर्णन उपस्थित किया है। इस धर्म का प्रभाव भारतीय भाषाओं के साहित्य—विशेषकर तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी और हिन्दी—पर कितना अधिक पड़ा है इसका विवेचन गम्भीरता के साथ किया गया है।

दूसरे अध्याय में वेदों में विष्णु का क्या स्वरूप है, इसका वर्णन है। इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि भक्ति का उद्‌गम किस प्रकार हुआ, संहिता काल में भक्ति का क्या स्वरूप था और ब्राह्मण युग में किस प्रकार विष्णु के विभिन्न अवतारों की अवतारणा की गई।

तीसरे अध्याय में वैष्णव धर्म की प्राचीनता का ऐतिहासिक क्रम से वर्णन प्रस्तुत किया गया है। कुछ विद्वान् इस धर्म को बहुत प्राचीन नहीं मानते, परन्तु वर्तमान लेखक ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह धर्म बहुत प्राचीन है। बेसनगर के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि २०० ईसा पूर्व में ही इस धर्म का इतना व्यापक प्रभाव था कि हेलियोडोरस नामक विदेशी यवनदूत ने इस धर्म को स्वीकार कर 'भागवत' की उपाधि धारण की थी और अपनी उत्कट विष्णु-भक्ति के फलस्वरूप वहाँ गरुड़-स्तम्भ का निर्माण किया था। इसी अध्याय में पाँचरात्र साहित्य की बड़ी गम्भीर मीमांसा की गई है।

चौथा अध्याय 'पुराणों में विष्णु' है। विभिन्न पुराणों—जैसे ब्रह्मवैवर्त्त, विष्णु पुराण तथा पद्म पुराण—में विष्णु किस रूप में पूजित हैं, इसका वर्णन है। भागवत पुराण का वैष्णवों में बड़ा समादर है। यह उनका उपजीव्य-ग्रन्थ है। भागवत का साध्यतत्त्व और साधनतत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दोनों का विशद विवेचन इसका मुख्य विषय है।

पाँचवाँ अध्याय दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखता है। दक्षिण के सम्प्रदायों के विषय में उत्तरी भारत के लोगों की जानकारी प्रायः बहुत कम है। विद्वान् लेखक ने आलवरों तथा विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्त और साधना-पद्धति का रोचक विवरण दिया है।

रामावत सम्प्रदाय का वर्णन छठे अध्याय का विषय है। पहले उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन का वर्णन करके तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् स्वामी राघवानन्द और स्वामी रामानन्द के सिद्धान्त तथा साधना को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने रामानन्द की शिष्य-परम्परा का विवेचन करते हुए हिन्दी-साहित्य में इसके प्रभाव के ऊपर प्रचुर प्रकाश डाला है।

सातवें, आठवें और नवें अध्यायों में क्रमशः निम्बार्क सम्प्रदाय, श्री बल्लभ सम्प्रदाय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों का वर्णन है। प्रत्येक सम्प्रदाय के विवेचन में उसकी ऐतिहासिक समीक्षा, सिद्धान्त-निरूपण और साधना-पद्धति के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। बल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के कवियों के कृतित्व तथा व्यक्तित्व का उल्लेख हुआ है और यह दिखलाने का लेखक ने प्रयास किया है कि इस मत का प्रभाव हिन्दी-साहित्य के ऊपर कितना गहरा पड़ा है।

पूर्वी भारत में भक्ति-आन्दोलन (दसवाँ अध्याय) का वर्णन करते हुए बंगाल, उड़ीसा और आसाम में प्रचलित तत्कालीन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का रोचक वर्णन दिया गया है। मध्ययुग में केवल महाप्रभु चैतन्य देव ने ही उत्तरी भारत में भक्तिरस की सरिता नहीं बहाई, बल्कि आसाम के शंकरदेव और माधवदेव ने भी अपनी पियूषवर्षी वाणी से जनता को आप्लावित किया था। उड़ीसा में उत्पन्न 'पंचसखा धर्म' से सम्भवतः बहुत कम लोगों का परिचय है, जो इस अध्याय में उपलब्ध है।

महाराष्ट्र का वैष्णव पन्थ (ग्यारहवाँ अध्याय) नामक परिच्छेद में इस प्रदेश में पल्लवित चार विशिष्ट सम्प्रदायों का प्रामाणिक विवेचन पाठकों के सामने प्रस्तुत है। ये सम्प्रदाय हैं—महानुभाव पन्थ, बारकरी पन्थ, रामदासी पन्थ और हरिदासी पन्थ। इनमें बारकरी पन्थ बड़ा प्रसिद्ध है, जिसके उदय और अभ्युदय में ज्ञानदेव, नामदेव और तुकाराम का हाथ रहा है।

बारहवाँ तथा अन्तिम अध्याय वैष्णव साधना से सम्बन्ध रखता है। वैष्णव धर्म की विशिष्टता, इसके विभिन्न मतों में साम्य और वैषम्य, पंचधा भक्ति, रस-साधना और उपासना तत्त्व इस अध्याय के विवेच्य विषय हैं। इस परिच्छेद को प्रस्तुत ग्रन्थ का सारभूत अंश समझना चाहिए, जिसमें वैष्णवों की रहस्यमय साधना-पद्धति का एक पहुँचे हुए साधक द्वारा अनुभूतिमय विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ को यदि वैष्णव धर्म का विश्वकोश कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। विवेच्य पुस्तक लेखक की चिरन्तन साधना और अध्ययन का फल है, जिसमें वैष्णव धर्म के उद्गम तथा विकास की गाथा सीधे-सादे शब्दों में कही गई है। गत पृष्ठ में पुस्तक के विभिन्न अध्यायों का जो वर्णन दिया गया है उसीसे इसके विषय की व्यापकता का पता चल सकता है।

यदि इस पुस्तक में वैष्णवधर्म के ऐतिहासिक विकास का इतिहास किसी एक ही स्थान में उपलब्ध होता तो पाठकों का बड़ा उपकार होता। परन्तु यह सामग्री अनेक अध्यायों में बिखरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ी है। इसी प्रकार पुस्तक के अध्यायों की व्यवस्था (Arrangement) में भी सुधार की गुञ्जाइश है। कहीं-कहीं निर्दिष्ट ग्रन्थों का नाम ठीक नहीं है, जैसे पृ० ६६३ पर भण्डारकर की पुस्तक का नाम और पृ० ६६५ पर डॉ० एस० दास गुप्त के ग्रन्थ का शीर्षक अशुद्ध है। आशा है अगले संस्करण में इसका निवारण हो जायगा। भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक नितान्त पठनीय है। ऐसा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत करने के लिए पाठक धन्यवाद का पात्र है।[1]

डॉ० राजबली पाण्डेय

भारतीय संस्कृति

लेखक की योजना सम्पूर्ण ग्रन्थ को आठ खण्डों में पूरा करने की है। उसीका प्रथम खण्ड 'वैदिक धारा' है। इस ग्रन्थ में विशद प्रस्तावना के साथ दो खण्ड और ग्यारह परिच्छेद हैं। प्रस्तावना में लेखक ने भारतीय संस्कृति के वर्तमान विवेचकों और इतिहासकारों को तीन वर्गों में बाँटा है—(१) संकीर्ण साम्प्रदायिक, (२) पूर्वाग्रही तथा राजनीतिदुष्ट दृष्टि वाला पाश्चात्य लेखक-समूह तथा (३) लोक-जीवन से उदासीन, शास्त्रीय, किन्तु एकदेशीय दृष्टि रखने वाला शुद्ध पण्डितवर्ग। उन्होंने इनसे भिन्न एक चौथे वर्ग की प्रस्तावना की है, जिसको वे वैज्ञानिक कहते हैं। यही उनकी अपनी विचार-पद्धति है और उनका लक्ष्य है, **"एक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति के आधार पर हमारे भारतीय राष्ट्र को दृढ़ता और पुष्टि प्राप्त कराना।"**

वास्तव में किसी ग्रन्थ के प्रणयन में दो बातें अत्यन्त महत्त्व की हैं—एक तो चिन्तन-पद्धति और दूसरी ग्रन्थ-प्रणयन का लक्ष्य अथवा उद्देश्य। शुद्ध बुद्धि, अनुभव और विवेक के ऊपर आधारित चिन्तन-पद्धति ही स्वस्थ हो सकती है। विवेक की आवश्यकता ग्रन्थ के उपादानों के चयन तथा निर्वाचन और उसके अंग-विशेष के बलाबल के निर्धारण में होती है। पूर्वाग्रह और रागद्वेष से रहित चिन्तन-पद्धति ही शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति है। इसी प्रकार किसी ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य केवल तथ्यों का संग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण तथा उनके द्वारा सूचना अथवा उत्तेजना प्रदान करना हो सकता है। इसके विपरीत दूसरा उद्देश्य तथ्यों को प्रवहमान और विकसनशील सन्दर्भ में रखकर मनुष्य के समवेत जीवन का संस्कार और उत्थान करना हो सकता है। स्वस्थ साहित्य के निर्माण तथा सोद्देश्य जीवन के विकास के लिए दूसरे प्रकार का लक्ष्य ही वांछनीय है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विद्वान् लेखक ने दूसरे प्रकार का लक्ष्य अपने सामने रखा है।

भूमिका खण्ड के प्रथम परिच्छेद में भारतीय संस्कृति के आधारों का विवेचन करते हुए उसकी समन्वयमूलक दृष्टि पर बल दिया गया है और इसके प्रमाण में वर्तमान पौराणिक निगमागम धर्म का उल्लेख किया गया है।[2] यह नितान्त समीचीन है, परन्तु जिन

१. ले०, पं० बलदेव उपाध्याय; प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

२. पृ० ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतिहासिक तथ्यों पर भारतीय समन्वय आंका गया है वे मान्य नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, 'निगम' का मौलिक अभिप्राय लेखक ने वैदिक परम्परा से लिया है और 'आगम' का अर्थ प्राग्वैदिक वैदिकेतर सांस्कृतिक परम्परा से। वेदों से पूर्व कोई आगमिक परम्परा थी, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया है, सम्भवतः इसके लिए कोई प्रमाण है भी नहीं। भारतीय साहित्य में 'निगम' का अर्थ 'अनुभव पर आधारित अपरोक्ष ज्ञान' और 'आगम' का अर्थ 'तर्क पर आधारित बुद्धिगम्य ज्ञान' किया गया है। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध किसी काल-विशेष या जाति-विशेष से नहीं है। इतिहास में यह सम्भव नहीं कि कोई जाति शुद्ध निगमवादी और कोई शुद्ध आगमवादी हो। हाँ एक ही जाति की दो चिन्तन-पद्धतियाँ या दो सम्प्रदाय हो सकते हैं, जिनमें मतभेद और समन्वय दोनों सम्भव हैं। इसी प्रकार असुरों को देवों (आर्यों) से बिलकुल भिन्न समझना भारतीय इतिहास के साथ अन्याय करना है, जबकि वैदिक ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि असुर और देव दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे, यद्यपि आपस में उनका संघर्ष भी था। यही बात रुद्र-शिव की कल्पना के बारे में भी कही जा सकती है। रुद्रपूर्व शिव की कल्पना एक कल्पनामात्र है, इसका कोई साहित्यिक अथवा ठोस प्रमाण नहीं। किसी देवता के स्वरूप-निरूपण और पूजा-पद्धति में परिवर्तन केवल विभिन्न जातियों के सम्पर्क से ही होता है, आन्तरिक, स्वगत अथवा सजातीय भेद और विकास से नहीं, यह एक पूर्वाग्रह-मात्र है। 'ऋषि' और 'मुनि' को मूलतः दो विरोधी जातियों और संस्कृतियों का प्रतिनिधि मानना भी अनैतिहासिक तथा तर्कशून्य है। वास्तव में ये साधना के मार्ग थे, जातीय प्रभेद नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि आर्यों ने दूसरी जातियों से कुछ सीखा ही नहीं और आर्य संस्कृति ने दूसरी संस्कृतियों से समन्वय नहीं किया। किन्तु यह प्रक्रिया आर्यावर्त में आर्यपूर्व नहीं, बल्कि परवर्ती-काल में आर्यों के प्रसार, सम्पर्क, संघर्ष और समझौते के कारण आर्येतर-जातीय भूमियों में और वहाँ से प्रत्यावर्तन और सम्पर्क के कारण आर्यावर्त में भी घटित हुई।

इसी खण्ड के दूसरे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण के तत्त्वों में उसकी प्रगतिशीलता, असाम्प्रदायिकता, अपने सम्पूर्ण इतिहास में ममत्वभावना और अखिल भारतीय भावना का बहुत ही विशद विवेचन किया गया है। वास्तव में भारतीय संस्कृति की जीवन-शक्ति के ये ही स्रोत हैं। तीसरे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति का निरूपण किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि यत्र-तत्र साम्प्रदायिक आग्रह और संकीर्णता होते हुए भी भारतीय चिन्तन की मुख्य दिशा वैज्ञानिक और उदार रही है। चौथे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति की विचारधारा का लक्ष्य प्रस्तुत किया गया है। साम्प्रदायिक और संकीर्ण भावना को छोड़कर किस प्रकार एक समन्वित और सन्तुलित जीवन तथा संस्कृति का विकास इस देश में हो सकता है, इस पर लेखक के सुन्दर और महत्त्वपूर्ण सुझाव हैं; यथा विभिन्न सम्प्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन, विभिन्न सम्प्रदायों के महापुरुषों का आदर, साम्प्रदायिक पारिभाषिकता का त्याग आदि। इन परिच्छेदों में लेखक के लम्बे अध्ययन और अनुभव का सारांश परिस्फुटित है।

दूसरे खण्ड में भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा का वर्णन और विवेचन है। इसके पंचम परिच्छेद में वैदिक साहित्य की रूपरेखा दी गई है। छठे में वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका है। यह परिच्छेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैदिक देवतावाद, देवताओं का स्वरूप,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता का स्वरूप, वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य तथा वैदिक दार्शनिक दृष्टि का महत्त्व आदि विषयों का स्पष्टीकरण है। इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार आशावादी तथा आनन्दपरक वैदिक दर्शन परवर्ती दुःखवाद और मोक्षाकांक्षी दर्शन से भिन्न है। वैदिक धारा में ऐतिहासिक कारणों से कैसे परिवर्तन हुए, इसका विवेचन सातवें परिच्छेद में है। इसमें वैदिक जीवन के उल्लासमय प्रादुर्भाव, संघटन और विजगडन (जकड़न) के क्रम का सप्रमाण उल्लेख है। आठवें परिच्छेद में वैदिक उदात्त भावनाओं का निर्देशन है। यहाँ पर लेखक ने वैदिक अध्ययन की पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि के भेद को स्पष्ट किया है। पाश्चात्य ढंग का वैज्ञानिक अध्ययन कोरा यान्त्रिक और हृदयहीन है। भारतीय के लिए वेद का महत्त्व उसके जीवन और दर्शन को समझने के लिए है, केवल उत्सुकता की शान्ति के लिए नहीं। वेदों ने ऋत, सत्य, धर्म, शौच, आशा, आनन्द, भद्रता, आत्मविश्वास आदि महान् तत्त्वों का उद्घाटन और विकास किया। अगले परिच्छेदों में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि, वैदिक धारा की देन तथा वैदिक धारा के ह्रास का पाण्डित्यपूर्ण पर्यवेक्षण है। परिशिष्टों में (१) वैदिक धारा का अमृत स्रोत, (२) वैदिक सूक्ति मञ्जरी, (३) ब्राह्मणीय सूक्ति मञ्जरी, (४) व्रत से आत्मशुद्धि तथा (५) ब्रह्मचर्य आदि विषयों का संकलन है।

जीवन अथवा संस्कृति के विकास में दो तत्त्व काम करते हैं—(१) स्थिति और (२) प्रगति। स्थिति के अन्तर्गत व्यवस्था, स्थिरता तथा संरक्षण सम्मिलित हैं, प्रगति में नई परिस्थितियों और प्रभावों के सम्पर्क में व्यावहारिकता का समावेश है। जब तक दोनों समानान्तर चलते हैं तब तक विकास सुचारु रूप से होता है। यदि स्थिति रूढ़ हो गई और प्रगति इससे असम्बद्ध, तो संस्कृति या तो जड़ अथवा विशृङ्खलित हो जाती है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह प्रक्रिया कैसे चलती रही है, इसका पर्यवेक्षण सफलता के साथ इस ग्रन्थ में हुआ है।

अध्ययन की दृष्टि और उद्देश्य तथा साहित्य, धर्म एवं दर्शन के विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ विचारोत्तेजक तथा उच्च स्तर का है और पाठकों को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। इसके लिए लेखक साधुवाद के पात्र हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में कतिपय अभाव खटकते हैं। संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं और राजनीतिक विचारों का भी क्रमबद्ध तथा समुचित समावेश होना चाहिए, साथ ही साहित्यिक और कलात्मक मूल्यों का भी पर्याप्त विवेचन। शैली और विषय-ग्रथन की दृष्टि से पुनरावृत्तियाँ बहुत अधिक हैं और तथ्यों का संग्रह अपेक्षाकृत कम। परन्तु यह होते हुए भी प्रस्तुत रचना महत्त्वपूर्ण है और आशा है कि पाठकों तथा चिन्तकों द्वारा इसका समुचित आदर होगा।[1]

---

१. **ले०, डॉ० मंगलदेव शास्त्री; प्र०, समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजबली पाण्डेय

भगवान् बुद्ध

हिन्दी-भाषा में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्धचर्या' के पश्चात् यह दूसरी पुस्तक है, जो मूल स्रोतों के आधार पर प्रामाणिक रूप से आई हो। यह पुस्तक मूलतः मराठी में लिखी गई थी, उसीका श्री श्रीपाद जोशी द्वारा हिन्दी में यह सफल अनुवाद है। प्रारम्भ में श्री काका साहेब कालेलकर द्वारा लिखित 'भक्त पण्डित धर्मानन्द कोसम्बी' का संक्षिप्त जीवन-वृत्त भी है। इस ग्रन्थ का प्रणयन ऐसे विद्वान् की लेखनी से हुआ है जिन्होंने न केवल आजीवन बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया, अपितु बौद्ध धर्म और दर्शन को अपने जीवन में उतारने का भी प्रयास किया।

सम्पूर्ण ग्रन्थ भूमिका के अतिरिक्त बारह अध्यायों और चार परिशिष्टों में विभाजित है। भूमिका और प्रथम तीन अध्याय प्रायः प्रास्ताविक हैं। भूमिका में प्रारम्भिक पालि साहित्य का परिचय और भगवान् बुद्ध के इतिवृत्त के स्रोतों का विवरण है। प्रथम अध्याय आर्यों की जय है। इसमें लेखक ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ब्राह्मण पुरोहितों की अध्यक्षता में दास संस्कृति थी, जिसका आर्यों ने इन्द्र की अध्यक्षता में विध्वंस किया। 'दास' का अर्थ उन्होंने 'दाता'[1] स्वीकार किया है। उनके विचार में दास संस्कृति के मुख्य अंग अहिंसा और योग थे, जो पराजय के बाद भी बचे रहे और जो अपनी ऋषि-मुनि परम्परा द्वारा जैन, बौद्ध आदि यतिमार्गी धर्मों के उदय के कारण बने। दूसरे अध्याय में 'समकालीन राजनीतिक परिस्थिति' का वर्णन है। इसमें सोलह महाजनपदों, आठ प्रसिद्ध राजकुलों, शाक्य-कुल के स्वतन्त्र अस्तित्व की अपेक्षाकृत अवगणना तथा गणराज्यों के विनाश के कारणों का वर्णन तथा विवेचन है और गणराज्यों के बीच बौद्ध धर्म का कैसे विकास हुआ, इसका संकेत है। समकालीन धार्मिक परिस्थिति का विश्लेषण तीसरे अध्याय में किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि इस प्रकार का विचार भ्रामक है कि वेदों से उपनिषद् और उपनिषद् से सुधारणा के साथ बौद्ध धर्म का उदय हुआ, वास्तव में बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पहले कई ऋषि-मुनि और श्रमणों के वेदेतर संघ स्थापित थे, जिनमें बौद्ध धर्म के कतिपय सिद्धान्तों और परम्पराओं के मूल विद्यमान थे, इन्हीं से बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई। चौथे अध्याय में गौतम बोधिसत्व के जन्म, बाल्यावस्था, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, वैराग्य और गृहत्याग का उल्लेख है। पाँचवें अध्याय में भ्रमण, तपश्चर्या और तत्त्वबोधि (सम्बोधि)-प्राप्ति की कथा दी हुई है। छठे में श्रावक संघ अथवा बौद्ध संघ की स्थापना के उद्देश्य, विकास, कार्यक्रम और विनय का निरूपण किया गया है। सातवें अध्याय में बुद्ध के समकालीन आत्मवाद, अक्रियवाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद, विक्षेपवाद, चातुर्याम संवरवाद आदि अनेक वादों से बौद्ध धर्म का भेद और वैशिष्ट्य बतलाया गया है। आठवें अध्याय में बौद्ध धर्म के ऊपर नास्तिकता के आरोप, उसके क्रान्तिकारी दर्शन, अनासक्ति-योग तथा ब्राह्मणों के कर्मयोग से उसके अन्तर का स्पष्टीकरण हुआ है। नवें अध्याय में पौराणिक बुद्ध, यज्ञों की निःसारता, यज्ञों का नया अर्थ, यज्ञों के रूपक आदि की नई

---

१. पृ० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या की गई है। पूरा दसवाँ अध्याय जाति-भेद के उद्गम, बौद्ध धर्म में जाति-भेद के निषेध, उसकी सीमा आदि का वर्णन करता है। ग्यारहवाँ अध्याय मांसाहार के ऊपर है। इसमें यह स्वीकार किया गया है कि बौद्ध और कभी-कभी जैन भिक्षु भी मांसाहार करते थे, फिर भी उन्होंने गोमांसाहार के विरुद्ध आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया; तुलना में ब्राह्मण अधिक मांसाहारी थे, जिनका गोमांस खाना पीछे छूटा। बारहवें अध्याय में बुद्ध की दिनचर्या और निर्वाण का वर्णन है। परिशिष्टों में 'महापदानसुत्त' के खण्ड, वज्जियों की अभ्युन्नति के सात नियम, अशोक का भाब्रू शिलालेख और उसमें निर्दिष्ट सूत्र तथा संदर्भ-विवरण का समावेश है।

इस ग्रन्थ में जिन विषयों की चर्चा की गई है उनके आधार के लिए यथासम्भव ऐतिहासिक तथ्यों का प्रमाण दिया गया है और उनके परीक्षण तथा विश्लेषण के पश्चात् उनको स्वीकार किया गया है। परन्तु यह बात जितनी बौद्ध साहित्य तथा धर्म के सम्बन्ध में सत्य है उतनी अन्य साहित्य तथा धर्म के सम्बन्ध में नहीं। उदाहरणार्थ 'आर्यों की जय' वाले अध्याय में वैदिक तथा पौराणिक साक्ष्य की परीक्षा किये बिना यह मान लिया गया है कि आर्य बेबिलोनिया या सुमेरिया के आसपास से आये और ब्राह्मण दासों के पुरोहित थे जिनको हराकर यज्ञ-प्रधान धर्म की स्थापना उन्होंने (आर्यों ने) की; फिर ब्राह्मणों ने आर्यों का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया। वेदों के अधिकांश मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मण थे, इस तथ्य की ओर से बिल्कुल आँखें मूँद ली गई हैं। उन्होंने 'दास' का अर्थ 'दाता'[1] कल्पित कर लिया है, जबकि उसका स्वीकृत अर्थ है 'मुझे दो, ऐसा कहने वाला'। साथ में यह भी मान लिया गया है कि आर्य अथवा वैदिक सभ्यता में अहिंसा, योग और परिव्रजन के कोई तत्त्व नहीं हैं, इसलिए जैन और बौद्ध धर्म आर्येतर तत्त्वों से प्रादुर्भूत हुए, जबकि इन धर्मों की सुरक्षित परम्पराओं में इनके प्रवर्तक, प्रवर्तकों के पूर्वज और अनुयाइयों के बहुसंख्यक लोग आर्य अथवा वैदिक परम्परा के थे और अपने धर्म तथा सिद्धान्तों को आर्य धर्म और आर्य सत्य मानते थे। इस प्रकार के निष्कर्षों में पूर्वाग्रह अधिक है और तथ्य बहुत कम। यही बात बौद्ध धर्म के कर्मयोग और गीता के कर्मयोग की तुलना करते समय भी की गई है। गीता के 'यज्ञ' के व्यापक और लाक्षणिक अर्थ छोड़कर बार-बार उसके कर्मकाण्डीय अर्थ पर ही जोर दिया गया है। गीता के समत्व, स्थितप्रज्ञता और निष्काम लोक-संग्रह का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

ग्रन्थ-संघटन की दृष्टि से ऐसा लगता है कि छठे अध्याय के बाद की सामग्री अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से लिखी गई थी, जो पीछे एकत्र कर दी गई है। परन्तु उसमें सेन्द्रिय एकता नहीं आई है। भगवान बुद्ध के उपदेशों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रमिक तथा शास्त्रीय विवेचन सारे ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलता। जाति-भेद और मांसाहार पर अलग-अलग अध्याय देने का महत्त्व समझ में नहीं आता। जाति-भेद और वर्ण-भेद का स्पष्ट अन्तर ग्रन्थ में नहीं है। जाति अथवा वर्ण अच्छे हों या बुरे, किन्तु जैन और बौद्ध धर्म के सामने ये मुख्य समस्याएँ नहीं थीं। भगवान् बुद्ध ने इन संस्थाओं का विरोध नहीं किया, अपितु उनकी दूसरी परिभाषा और लक्षण दिये। अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में वर्ण-विद्वेष नहीं पाया जाता। अशोक ने अपने धर्मलेखों में ब्राह्मण और श्रमण को समान आदर दिया है। पीछे साम्प्रदायिक कारणों से वर्ण की निन्दा प्रारम्भ हुई। परन्तु इसका परिणाम उलटा ही हुआ। अपने वर्ण अथवा जाति के प्रति-

१. पृ० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्प्रदायिकता एवं पक्षपात बढ़ गया, परवर्ती बौद्ध धर्म में वर्ण का नाश नहीं हुआ, किन्तु चार वर्णों की गणना में प्रथम ब्राह्मण के बदले क्षत्रिय आ गए और ललित विस्तार में तो यहाँ तक कहा गया कि बुद्ध का जन्म केवल क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण में ही हो सकता है, जबकि वर्ण-भेद मानने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों में ईश्वर का अवतार मत्स्य, कच्छप, वाराह, सिंह (नृसिंह), वामन (अर्द्ध-पुरुष), परशुराम (ब्राह्मण), राम (क्षत्रिय), कृष्ण (क्षत्रिय), बुद्ध (क्षत्रिय) आदि सभी जीवधारियों में हो सकता है। जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकर का जन्म केवल क्षत्रिय कुल में हो सकता है। महावीर ब्राह्मणी के गर्भ से निकालकर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में डाले गए। जहाँ तक यतिधर्म और संन्यास का प्रश्न है, जन्म और वर्ण का उनमें कोई महत्त्व भारतीय धर्म में नहीं माना गया था। यदि कुछ था भी तो बहुत गौण। भगवान् बुद्ध ने विशेष परिस्थितियों में मांसाहार की छूट दी थी, आज्ञा नहीं। उसकी वैधता पर बल देकर उनके मूल सिद्धान्त अहिंसा, करुणा, मैत्री आदि की ही अवहेलना करना है।

ग्रन्थ-प्रणयन में लेखक की दृष्टि वैज्ञानिक और तटस्थ न होकर साम्प्रदायिक अधिक है और समाज के विकास में द्वन्द्व प्रारम्भिक ही नहीं, अन्तिम मान लिया गया है। अतः भारतीय अन्य सम्प्रदायों के साथ बौद्ध धर्म की सजातीय समानता पर बल न देकर उनसे भेद और वैशिष्ट्य पर ही अधिक जोर दिया गया है। वास्तव में बौद्ध धर्म भारतीय धर्म था। कर्मकाण्ड और देववाद अथवा वेदवाद के विरोध में भी वह औपनिषदिक और भक्तिवादी परम्परा का ही अनुसरण कर रहा था। भगवान् बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग अथवा समन्वय का मार्ग था, विभज्यवाद अथवा उच्छेदवाद उनको स्वीकार नहीं था, इसका विचार इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है। दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा और विरोध पर सत्य और धर्म का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। इससे निन्दा और विरोध का ही वातावरण उत्पन्न होगा, शान्ति और सुख का नहीं। ग्रन्थ में यदि थोड़ी और वैचारिक उदारता से काम लिया गया होता तो इसका मूल्य बहुत बढ़ जाता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लेखक की दृष्टि पैनी और शैली विचारोत्तेजक है। पाठक को विचारने के लिए इसमें प्रचुर सामग्री है।[1]

079579

1. ले०, धर्मानन्द कोसम्बी; प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई, इलाहाबाद, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशन समाचार

ही एक मात्र ऐसी मासिक पत्रिका है जो पाठकों को आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति से अवगत रखती है। साथ ही इसमें प्रकाशन, लेखन, पुस्तकालय व अन्य सम्बन्धित विषयों पर रोचक लेख रहते हैं। पुस्तक-परिचय, लेखकीय मंच, प्रकाशकीय मंच इत्यादि स्तम्भ लेखक, प्रकाशक व पाठक वर्ग में निकटता स्थापित करके हिन्दी साहित्य-परिवार को सुसम्बद्ध व संगठित करने में सहायक होते हैं। यदि आप अब तक इसके ग्राहक न बने हों तो शीघ्र ही २।।) दो रुपये आठ आना मनी आर्डर से भेजकर अपनी प्रतियाँ सुरक्षित कर लें। पोस्टल आर्डर स्वीकार नहीं किये जाते।

—प्रबन्ध विभाग,
प्रकाशन समाचार,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना

आलोचना का आगामी अंक

नाटक विशेषांक

इस समय प्रेस में है, और इसका प्रकाशन जनवरी, १९५७ में अवश्य हो जायगा।

—प्रबन्ध विभाग,
आलोचना,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

Compiled
1999-2000

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar